भारत का इतिहास
(1526 ईसवी से 1757 तक)

History of India - (1526 AD - 1757 AD)

एम.ए. इतिहास (उत्तरार्द्ध)

M.A. History (Final)

Group C :

मध्यकालीन भारत (Medieval India)

प्रश्न पत्र - VIII

Paper - VIII

Directorate of Distance Education
Maharshi Dayanand University, Rohtak

भारत का इतिहास (1526-1757 ई०)
History of India (1526-1757)

Group - C

प्रश्न पत्र - VIII

Paper VIII

एम. ए. इतिहास (उतरार्द्ध)

M.A. History (Final)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक – 124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

विषय—सूची

इकाई-I

अध्याय-1	भारत का इतिहास (1526 - 1757 ई०)	
अध्याय-2	हिन्दुस्तान विजय एवं मुगल साम्राज्य की स्थापना	[illegible]
अध्याय-3	मुगल सम्राटों की दक्षिण नीति	[illegible]
अध्याय-4	मुगलों की उत्तर-पश्चिमी एवं मध्य एशिया की नीति	[illegible]

इकाई-II

अध्याय-5	अकबर एवं जहाँगीर के अधीन शाही सत्ताधिकार	91
अध्याय-6	बाहशाहत/राजशाही एवं वैधता	100
अध्याय-7	मुगल शासक वर्ग का गठन	107
अध्याय-8	मनसबदारी व्यवस्था	123
अध्याय-9	जमींदार वर्ग एवं मुगलों के साथ उनके सम्बन्ध	132
अध्याय-10	मुगलों का केन्द्रीय एवं प्रान्तीय प्रशासन	140

यूनिट-III

अध्याय-11	उत्तराधिकार का युद्ध एवं मुगल राज्य के चरित्र में परिवर्तन	148
अध्याय-12	मुगल साम्राज्य का विघटन एवं पतन	157
अध्याय-13	अठारहवीं सदी के बारे में वाद-विवाद	176

M.A. History (Final)
Group - C
Paper – VIII
History of India (1526 -1757)

Max. Marks : 100
Time : 3 Hours

Note : 10 questions shall be set in the paper spread over the entire syllabus more or less proportionately, out of which the candidates shall be required to attempt five questions, selecting at least one question from each unit. All questions shall carry equal marks.

UNIT – I

1. A Brief Survey of Sources-Persian and European.
2. Conquest of Hindustan and Establishment of an Empire : Babar ; Humayun; Akbar
3. The Deccan and Expansion of the Mughals
4. The North-West and Central - Asian Experiments of the Mughal.

UNIT – II

1. Formulation of Imperial Authority under Akbar and Jahangir
2. Kingship and Legitimacy
3. Formation of the Mughal Ruling Class
4. Mansabdari System
5. The Zamindars and Relationship with Mughals
6. Central and provincial Administration of the Mughals

UNIT – III

1. War of Succession in Shahjahan's reign and shift in the character of Mughal state.
2. Disintegration of the Mughal Empire : Conventionalist Approach and Structuralist Approaches
3. The Eighteenth Century Debate.

इकाई-I

अध्याय-1

भारत का इतिहास (1526-1757 ई०)

फारसी स्रोत

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पश्चात् भारत में फारसी माध्यम से इतिहास–लेखन की एक नई परम्परा की शुरुआत हुई। इतिहास–लेखन की यह परम्परा भारत से बाहर मध्य एशिया एवं इस्लामी देशों में विकसित हुई थी लेकिन भारत में आने के पश्चात इस पर यहाँ की परम्पराओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। धीरे–धीरे भारत में भी इस मिश्रित परम्परा के आधार पर फारसी में व्यापक स्तर पर इतिहास–लेखन का विकास होने लगा। मुगलकाल तक आते–आते कई गैर–मुस्लिम इतिहासकार फारसी माध्यम से इतिहास लिखने का कार्य करने लगे।

इस इतिहास–लेखन की मुख्य विशेषताएं, जिन्होंने भारतीय इतिहास को गहराई से प्रभावित किया था, इस प्रकार थीं : राजनीतिक घटनाओं का विस्तार से वर्णन; वर्ष एवं दिनांकों पर विशेष बल; प्रांतों एवं अन्य लघुतम इकाइयों के बारे में भी सूचनाओं का संकलन, सामाजिक एवं आर्थिक आंकड़ों का संकलन, इतिहास–लेखन में व्यक्तिगत विचारों पर अधिक जोर, बादशाह एवं सामंत केन्द्रित वर्णन का प्राधान्य। इनके अतिरिक्त भी बहुत–सी विशेषताएं थीं, जिनका इतिहास–लेखन में प्रचार–प्रसार हुआ। मध्य एशिया एवं इस्लामी देशों से इस विद्या के आने के कारण धर्म एवं धार्मिक घटनाओं के वर्णन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इस प्रवृत्ति के कारण से तत्कालीन इतिहासकारों द्वारा लिखित इतिहास में धार्मिक शब्दावली का भरपूर प्रयोग देखने को मिलता है। इसी कारण से इतिहासकारों ने अपने समकालीन शासकों के सैनिक अभियानों एवं विजयों को उनके धार्मिक विश्वासों के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया। मध्यकालीन इतिहास–लेखन की विशेषता के साथ–साथ यह एक कमजोरी भी थी, हालांकि मध्यकालीन शासक धार्मिक लीक पर कभी नहीं चले। उनका दृष्टिकोण समकालीन परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहता था। कभी वे धार्मिक कट्टरता के वशीभूत हो जाते थे तो कभी सहिष्णु के रूप में अपनी छवि बनाने में जुट जाते थे। यह अन्तर्विरोध या कमजोरी तत्कालीन राजनीति की उपज थी। उनकी यह चारित्रिक विशेषता तत्कालीन इतिहास–लेखन में स्पष्टतः देखने को मिलती है।

दिल्ली–सल्तनतकाल में फारसी इतिहास–लेखन की न केवल शुरुआत हुई, बल्कि इसका काफी विकास भी हुआ। इस विधा का चरम विकास मुगलकाल में हुआ। इस काल में इतिहास–लेखन कई अन्य विधाओं के माध्यम से होने लगा। उसमें विविधता ने स्थान लेना प्रारंभ कर दिया। इस काल में आत्मकथा, जीवनवृत्तात्मक एवं दिनांकित डायरी– लेखन विधाओं के माध्यम से इतिहास–लेखन नई धाराओं में विकसित होने लगा। इसके अतिरिक्त वर्णन के स्तर में भी काफी परिपक्वता आने लगी थी। भाषा में भी काफी विकास हो रहा था।

मुगलकाल में इतिहास–लेखन में विकसित हो रही इन विविधताओं एवं विशेषताओं के कई कारण थे। इनमें मुख्य थे : प्रथम मुगल बादशाहों की इतिहास–चेतना का विकास; द्वितीय, स्वयं बादशाहों की इतिहास–लेखन में रुचि, तृतीय, मुगल शासकों द्वारा राजकीय स्तर पर इतिहास लिखवाने हेतु इतिहासकारों की नियुक्ति एवं स्वतंत्र रूप से इतिहास–लेखन की परम्परा का विकास। इनके अतिरिक्त अन्य कारण भी थे जिन्होंने इतिहास–लेखन के विकास में अपना योगदान दिया। इनमें सर्वाधिक मुख्य कारण था मुगल सत्ता की स्थापना के पश्चात् राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में स्थायित्व। इस कारण से शांति का वातावरण बना एवं लोगों में भी विश्वास एवं भरोसा पैदा हुआ।

इतिहास–लेखन में आई इस विविधता एवं नई प्रकार की चेतना ने इतिहास–लेखन को एक नया मोड़ दिया। इतिहास–लेखन में दो स्तरों पर लिखे जा रहे इतिहास के कारण से इतिहास के कई पक्ष उजागर होने लगे। इतिहास–लेखन में ये दो स्तर थे : राजकीय तथा स्वतंत्र एवं व्यक्तिगत स्तर। प्रथम इतिहास–लेखन में सरकारी पक्षपात अन्तर्निहित अर्थात् समाहित था जबकि द्वितीय इसके विपरीत था। इसमें इतिहासकार के व्यक्तिगत निर्णय एवं दृष्टिकोण पर निर्भरता ही प्रमुखता से रहती थी। दूसरे शब्दों में इन दोनों को एक–दूसरे के पूरक के रूप में देखा जा सकता है।

बाबरनामा या तुजुके बाबरी

जहीरउद्दीन मोहम्मद बाबर ने भारत में एक नऐ साम्राज्य की नींव रखी, जिसे इतिहास में मुगल सत्ता के नाम से जाना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि बाबर को अपने जीवन से सम्बन्धित घटनाओं को लिखने का शौक था, जिसका प्रमाण उसके स्वयं के द्वारा लिखित ग्रंथ 'तुजुकेबाबरी' है। सही अर्थों में यह उसकी आत्मकथा है, जो उसने तुर्की भाषा में लिखी थी। इस ग्रंथ की भाषा एवं शैली के आधार पर बाबर की साहित्यिक अभिरुचि का अनुमान लगाया जा सकता है। उसके इस ग्रंथ का फारसी में अनुवाद उसके ही सदर–उस–सदर शेख जेतुद्दीन ख्वाजा ने किया था। लेकिन यह अनुवाद अधूरा है, जिसमें खानवा युद्ध तक का वर्णन ही उपलब्ध है। फारसी में होने के कारण से इस ग्रंथ की लोकप्रियता काफी बढ़ गई जिसके कारण से 1583 ई. में अकबर के आदेश से अब्दुर्रहीम खान–ए–खाना ने इसका अनुवाद फिर फारसी में किया। अंग्रेजी सत्ता की स्थापना के पश्चात् सर्वप्रथम इसका अंग्रेजी में अनुवाद 1826 ई. में एवं तत्पश्चात् 1905 ई. में श्रीमती ए. एस. बेवरिज ने पुनः इसका अनुवाद किया। इसके पश्चात् सैय्यद अतहर अब्बास रिजवी ने 1960 ई. में हिन्दी में अनुवाद किया। इतने अनुवादों से ऐतिहासिक स्रोत के रूप में इस ग्रंथ के महत्त्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

बाबर के स्वयं के वर्णन से यह उजागर होता है कि वह प्रतिदिन शाम के उपरान्त दिन–भर की घटनाओं के बारे में वर्णन करता था। प्रतिदिन लेखन के कारण उसके द्वारा लिखित घटनाओं के वर्णन में विश्वसनीयता अधिक रहती थी। उसमें गलती या असावधानी की आशंका काफी कम रहती थी। दूसरा, जिस बात पर वह अत्यधिक बल देता था वह थी सत्यता। वह एक स्थान पर स्वयं लिखता है कि 'इस इतिहास में मैं इस बात पर दृढ़ रहा हूँ कि हर बात, जो लिखूँ, वह सच लिखूँ और जो घटना जिस प्रकार घटी हो उसका ठीक–ठीक उसी प्रकार उल्लेख करूँ। इस कारण यह आवश्यक हो गया कि जो–कुछ अच्छा–बुरा ज्ञात हुआ, उसे लिख दूँ।' उपलब्ध वर्णनों से बाबर के इस कथन में सत्यता प्रतीत होती है।

बाबर के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि वह अपने जीवन की सम्पूर्ण उल्लेखनीय घटनाओं का वर्णन अपने ग्रंथ में करना चाहता था लेकिन वह ऐसा नहीं कर पाया। उसके 47 वर्ष एवं 10 माह के जीवन में मात्र अठारह वर्षों का वर्णन मिलता है, वह भी अपूर्ण है। इसके कई कारण हो सकते हैं जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण लिखित अंशों के उपलब्ध न होने का है। दूसरा कारण कि उसने स्वयं उन वर्षों का वर्णन लिखा ही न हो।

'बाबरनामा' में 1502–03 ई. से लेकर 1529 ई. तक का वर्णन मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मुगल बादशाह ने अपनी मृत्यु से एक वर्ष पूर्व सम्भवतः लिखना बन्द कर दिया था। कुल मिलाकर अठाईस वर्षों का वर्णन इसमें समाहित है। विशेषतः बाबर ने अपने जन्म, 14 फरवरी, 1483 ई. से अपने राज्यारोहण के वर्ष जून, 1494 ई. तक के लगभग चौदह वर्षों के बारे में कोई भी सूचना अंकित नहीं की है। इसके अतिरिक्त भी बीच–बीच में कई वर्षों का वर्णन उपलब्ध नहीं होता है। लेकिन इन वर्षों के बारे में कोई जानकारी न मिलने से ग्रंथ की निरंतरता में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती। भाषा एवं शैली की दृष्टि से भी यह कमी खटकने वाली नहीं है।

सोलहवीं शताब्दी की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों की सम्पूर्ण जानकारियों के लिए 'बाबरनामा' एक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ऐतिहासिक स्रोत है।

'बाबरनामा' में उपलब्ध ऐतिहासिक महत्त्व की सामग्री को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित करके रेखांकित किया जा सकता है,

भारत की राजनीतिक स्थिति

बाबर ने अपनी आत्मकथा में हिन्दुस्तान की राजनीतिक परिस्थतियों के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी संकलित की थी जो तत्कालीन इतिहास– लेखन में काफी सहायता प्रदान करती है। वह लिखता है कि 'भारत की राजधानी दिल्ली है। सुल्तान शिहाबुद्दीन गौरी के समय से सुल्तान फिरोजशाह तक हिन्दुस्तान का अधिकाँश भाग दिल्ली सुल्तान के अधीन था। जब मैंने इस देश को जीता तो यहाँ पाँच मुसलमान और दो काफिर शासकों का राज्य था। यों तो पहाड़ी और जंगली प्रदेशों में अनेक छोटे–छोटे राजा एवं रईस थे, परन्तु बड़े और मुख्य ये पाँच ही थे।'

बाबर ने सुल्तान इब्राहीम लोदी एवं उसके अमीरों के राज्यों के बारे में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ संकलित की हैं। वह अफगानों के राज्यों की कमजोरियों को उजागर करता है एवं साथ ही, उनको कुचलने में आनेवाली कठिनाइयों का भी खुलकर वर्णन किया है। उसने

अपने ग्रंथ में अफ़गान शासकों के अतिरिक्त अन्य राज्यों का भी वर्णन किया है, जिनमें प्रमुख थे गुजरात, दक्षिण, मालवा, बंगाल, विजयनगर एवं मेवाड़ आदि।

तुर्कों एवं अफगानों की सैन्य व्यवस्था के बारे में ज्ञान

हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने आनेवाले व्यक्ति के लिए यहाँ के शासकों की सैन्य व्यवस्था के बारे म जानकारी कर लेना अति आवश्यक था। बाबर द्वारा अपने विरोधियों की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेना उसकी सजगता का सूचक है। सुल्तान इब्राहीम के साथ युद्ध के प्रसंग में बाबर लिखता है कि 'हिन्दुस्तान में यह प्रथा है कि ऐसे महान संकटों के अवसर पर धन देकर अपनी इच्छा के अनुसार सेना भरती कर ली जाती है। वह हिन्दी कहलाते हैं।' इसी संबंध में वह आगे लिखता है कि 'हिन्दुस्तान के प्रचलित नियम के आधार पर एक लाख की विलायत (जागीर) वाले 100 घुड़सवार और करोड़ की विलायत वाले 10,000 घुड़सवार रखते थे काफिरों के इस नेता ने जो स्थान विजय कर लिए थे वे 10 करोड़ के थे अतः उसके पास 1,00,000 घुड़सवार होने चाहिए।

उपर्युक्त वर्णन से बाबर की एक सजग सेनानायक की छवि उभरती है जो अपने विरोधियों की सैन्य शक्ति के बारे में पूर्ण जानकारी रखता था। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तान की सैन्य व्यवस्था के बारे में भी महत्त्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध होती है।

हिन्दुस्तान के राजस्व की जानकारी

बाबर ने अपने ग्रंथ में हिन्दुस्तान के विभिन्न प्रांतों से होनेवाली आय या अनुमानित आय (जमा) की विस्तृत जानकारी दी है। उसने अपने अंतर्गत के सभी क्षेत्रों के आँकड़े एकत्रित किए हैं जो राजस्व इतिहास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उसने लगभग तीस प्रांत के आंकड़े एक सारणी के रूप में दिए हैं। ये आंकड़े 'तन्का' मुद्रा में दर्शाए हैं। प्रांतों की जमा अर्थात् अनुमानित आय के आंकड़े दर्ज किए हैं, उनमें मुख्य हैं : लाहौर, सियालकोट, दीबालपुर, हिसार फिरोजा, दिल्ली, मेवात, बयाना, आगरा, ग्वालियर, कालपी, कन्नौज, अवध, बहराइच, जौनपुर, बिहार, चम्पारन, तिरहुत एवं रणथम्भौर आदि।

इसके अतिरिक्त उसने आगरा में उपलब्ध खजाने की धनराशि के वितरण के बारे में भी सूचना को अपने ग्रंथ में स्थान दिया है इस कोष से किस–किस व्यक्ति एवं वर्ग को धन दिया गया, उसके बारे में लिखा है। हुमायूं को 70 लाख तन्के प्रदान किए जबकि बेगों को उनकी हैसियत के अनुसार 10, 8, 7 एवं 6 लाख तन्के प्रदान किए।

राजस्व एवं उसकी वसूली किसी भी राज्य एवं देश के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य होता है। इस संबंध में आनेवाली कठिनाइयों के वर्णन को बाबर ने अपनी आत्मकथा में स्थान दिया है। राजस्व वसूली करने वाले समस्त अधिकारी, जिनको आमिल कहा जाता था, हिन्दू होते थे। राजस्व वसूली पर सरकार का विशेष ध्यान रहता था लेकिन दूसरी तरफ किसान सदैव राजस्व भुगतान में आनाकानी किया करते थे। इसलिए राजस्व वसूली हमेशा से एक मुश्किल काम था जिसमें उनको कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। अलाउद्दीन ने इसीलिए राजस्व वसूली के कड़े नियम लागू किए थे। बाबर को भी इन कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था। सामान्यतः कर न देने वाले किसान अपनी भूमि छोड़कर भाग जाते थे एवं आस–पास के जंगलों में शरण ले लेते थे। बाबर ने इन परिस्थितियों का वर्णन अपने ग्रंथ में किया है। वह लिखता है कि 'हिन्दुस्तान में पुरवे, गाँव तथा नगर क्षण–भर में बस भी जाते हैं एवं उसी प्रकार नष्ट भी हो जाते हैं। इस प्रकार बड़े–बड़े नगरों के निवासी, जो वर्षों से वहाँ बसे होते हैं यदि वहाँ से भागना चाहते हैं तो वे एक या डेढ़ दिन में वहाँ से इस प्रकार भाग जाते हैं कि लेशमात्र भी उनका वहाँ कोई निशान नहीं रह जाता।' अधिकाँशतः ये लोग राजस्व वसूली से बचने के लिए यह कदम उठाते हैं एवं ये भाग कर पास के जंगलों में शरण ले लेते हैं। दिल्ली सल्तनत–काल में ऐसे स्थानों को 'मेवास' कह कर पुकारा जाता था। बाबर का यह वर्णन राजस्व एवं उसकी प्रशासनिक कठिनाइयों की जानकारी हेतु अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

हिन्दुस्तान में फलों का उत्पादन

बाबर ने हिन्दुस्तान में पैदा होनेवाले फलों के बारे में काफी दिलचस्प तरीके से वर्णन किया है जिससे उसकी रुचि का पता चलता है। फलों के राजा आम के बारे में बाबर के पूर्व अन्य इतिहासकारों ने भी लिखा है लेकिन बाबर का वर्णन उनसे थोड़ा भिन्न है। वह लिखता है कि 'अम्बा (आम) हिन्दुस्तान की बड़ी विशेषता है।....जो आम अच्छे होते हैं वे बड़े ही अच्छे होते हैं किन्तु निकृष्ट आम खाए जाते हैं उनमें बहुत थोड़े–से ही सर्वोत्कृष्ट होते हैं।....आम हिन्दुस्तान का सबसे अच्छा फल होता है। इसके अतिरिक्त फलों इमली, महुआ, खिरनी, जामुन, कमरख, बेर, गूलर, आमला, चिरौंजी, खुर्मा, नारंगी, नारियल, ताड़–तुरंज, संतरा एवं सदाफल जैसे फलों के बारे में 'बाबरनामा' में जानकारी संकलित की गई है।

हिन्दुस्तान का भूगोल, कृषि एवं सिंचाई के साधन

'बाबरनामा' में हिन्दुस्तान के भूगोल के वर्णन से बाबर की जिज्ञासा का ज्ञान होता है। उसने काबुल से पानीपत तक के समस्त स्थानों का वर्णन दिया है। उसने भारत की भौगोलिक स्थिति, उत्तरी पर्वत, अरावली एवं यहाँ की विभिन्न नदियों का विस्तार से वर्णन किया है। इन नदियों के उद्‌गम एवं उनके बहाव के मार्ग एवं अन्त में समुद्र में मिलने तक के बयान उपलब्ध होते हैं।

बाबर का सर्वाधिक रुचिपूर्ण वर्णन यहाँ की सिंचाई व्यवस्था के बारे में है। वह कृषि भूमि के बारे में लिखता है कि 'हिन्दुस्तान का अधिकाँश भाग समतल भूमि पर स्थित है।....नदियाँ तथा कहीं–कहीं पर स्थित जलाशय यहाँ की जलधाराएँ हैं। कुछ नगरों में, जहाँ नहरें खोद कर जल लाना संभव है, वहाँ भी नहीं लाया जाता। इसके अनेक कारण हैं। उनमें से एक कारण यह है कि यहाँ की कृषि तथा यहाँ के उद्यानों को जल की आवश्यकता नहीं होती। खरीफ की फसल वर्षा के जल से ही हो जाती है। यह बड़ी विचित्र बात है कि रबी की फसल भी जल के बिना हो जाती है।'

इसके अतिरिक्त सिंचाई के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी संकलित की है। उसने लिखा कि यहाँ रहट, चरस एवं डोल आदि से सिंचाई होती है। इन सभी साधनों के बारे में विस्तार से लिखा गया है। ये साधन किस प्रकार काम में लिए जाते थे एवं ये किन–किन क्षेत्रों में प्रचलन में थे।

देश की आर्थिक स्थिति एवं लोगों के जीवन-स्तर का ज्ञान

बाबर ने अपनी आत्मकथा में भारत की तत्कालीन आर्थिक दशा विषयक सूचनाओं का संकलन किया है। उसके अनुसार भारत आर्थिक दृष्टि से एक समृद्ध देश था। वह लिखता है कि 'हिन्दुस्तान की एक विशेष बात है कि यह एक विस्तृत देश है और यहाँ सोने–चांदी की बहुलता है। इस देश की दूसरी विशेषता यह है कि यहाँ प्रत्येक व्यवसाय व उद्योग के अगणित कारीगर मिलते हैं। प्रत्येक काम के लिए ऐसे लोग तैयार रहते हैं जिनमें यह काम वंश–परम्परा से चला आया है।'

बाबर ने यहाँ के निवासियों के बारे में लिखा है कि उनका जीवन–स्तर काफी भिन्न है। यहाँ के लोगों के पास अधिक सामान नहीं होता। वह आगे लिखता है कि 'यहाँ के निवासी न तो रूपवान होते हैं और न सामाजिक व्यवहार में कुशल होते हैं। ये न तो किसी से मिलने जाते हैं और न कोई इनसे मिलने आता है। न इनमें प्रतिभा होती है और न कार्यदक्षता। न इनमें शिष्टाचार होता है और न ही उदारता। कला–कौशल में न तो किसी अनुपात पर ध्यान देते हैं और न नियम और न गुण पर। न तो यहाँ अच्छे घोड़े होते हैं और न ही अच्छे कुत्ते। यहाँ न हमाम है, न मदरसे, न शमा, न मशाल और न शमादान।'

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्टतः यह उजागर होता है कि बाबर द्वारा लिखित अपनी आत्मकथा 'बाबरनामा' सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों के इतिहास–लेखन के लिए एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्रोत है। उसके इस वर्णन से यह उजागर होता है कि बाबर की दृष्टि एक इतिहासकार की थी एवं इसीलिए वह अपने ग्रंथ में अधिक से अधिक जानकारी संकलित कर देना चाहता था। उसके वर्णन से उसकी व्यापक रुचियों का पता चलता है। उसने भारत की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों, तुर्कों–अफगानों की सैन्य व्यवस्था से लेकर यहाँ की भौगोलिक स्थिति, राजस्व व्यवस्था, कृषि, सिंचाई के साधनों एवं यहाँ के लोगों के व्यवसाय एवं उनकी आर्थिक स्थिति पर महत्त्वपूर्ण सामग्री का संकलन किया है। उसके वर्णनों पर प्रश्न–चिह्न अवश्य खड़े किए जा सकते हैं लेकिन इससे इस ग्रंथ का ऐतिहासिक महत्त्व किसी प्रकार से कम नहीं हो सकता है कि उसके कुछ कथन ऐतिहासिक दृष्टि से, सत्यता से परे हों, लेकिन फिर भी इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। इसका मुख्य कारण है कि उसने जो–कुछ लिखा, अपनी जानकारी एवं अनुभव के आधार पर लिखा। हो सकता है कि उसका सोचना सही रहा हो। इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता है कि आत्मकथा के रूप में यह प्रथम ग्रंथ है जो सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों के इतिहास–लेखन के लिए एकमात्र प्रामाणिक स्रोत है।

तारीख-ए-रशीदी

यह ग्रंथ बाबर के मौसेरे भाई मिर्जा हैदर का लिखा हुआ है। चूँकि इस ग्रंथ का लेखक बाबर और हुमायूँ का समकालीन था इसलिए इस ग्रंथ की उपयोगिता अत्यधिक है। इस ग्रंथ में मध्य एशिया के तुर्कों एवं भारत के मुगलों के बारे में महत्त्वपूर्ण सामग्री का संकलन किया गया है। इस इतिहास का लेखक बाबर का चहेता था एवं उसका पालन–पोषण बड़े लाड़–प्यार से किया गया था। वह अपनी योग्यता एवं दक्षता के आधार पर बाबर का अत्यंत चहेता एवं विश्वासपात्र हो गया था एवं इसी के आधार पर उसे निरंतर प्रगति मिलती चली गई। बाबर उसे बहुत प्यार करता था इसलिए वह सदैव उसे 'मिर्जा' कहकर पुकारता था।

बाबर के स्वर्गवास के पश्चात् वह 1539–40 ई. में हुमायूँ के पास आगरा पहुँच गया और उसने मुगल बादशाह के साथ शेरशाह के विरुद्ध कन्नौज के युद्ध में भाग लिया। इसके पश्चात् उसने 1541 ई. में कश्मीर विजय कर लिया और वहाँ एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। बाद में 1551 ई. में वहाँ के विद्रोहियों ने उसकी हत्या कर दी।

उसने अपने ग्रंथ में बाबर के समय से लेकर अपनी मृत्यु तक का वर्णन किया है। उसने अपने ग्रथ म मध्य एशिया के शासकों के बारे मे विस्तार से वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त उसका ग्रंथ हुमायूँ के काल के लिए भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। चूंकि शेरशाह के विरुद्ध कन्नौज के युद्ध मे वह स्वय सम्मिलित था, इसलिए उसने युद्ध का ऑखों देखा वर्णन अंकित किया है। इस युद्ध के समय वह हुमायूँ के काफी समीप रहा था, इसलिए उसकी चारित्रिक विशेषताओं को करीब से समझने का अवसर मिला था। इसीलिए उसका यह वर्णन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हो जाता है। हुमायूँ की चारित्रिक विशेषताओं के अध्ययन में भी यह ग्रथ काफी उपयोगी प्रमाणित हो सकता है।

इस ग्रंथ के लेखक की हुमायूँ के प्रति स्वामिभक्ति काफी गहरी थी जिसका पता मुगल बादशाह को संकट के समय चलता है। जब हुमायूँ ने मुगल राजसिंहासन खो दिया, तब मिर्जा ने कश्मीर का शासक रहते हुए सदैव उसे वहाँ आकर खोई हुई सल्तनत को वापस प्राप्त करने के प्रयास करने के लिए प्रेरित किया। इसके अतिरिक्त कन्नौज की लड़ाई में कामरान की भूमिका पर भी विशेष सूचना का पता चलता है।

इसके अतिरिक्त यह ग्रंथ बाबरनामा का पूरक ग्रंथ भी है। जिन वर्षों का इतिहास बाबरनामा में नष्ट हो गया है, उसकी पूर्ति इस ग्रंथ से हो जाती है। इसलिए इस ग्रंथ की महत्ता एवं उपयोगिता और अधिक बढ़ जाती है।

हुमायूँनामा

यह ग्रंथ मुगल राजपरिवार की एक सदस्य के द्वारा लिखा गया था जिसने सारी राजनीतिक घटनाओं को बहुत समीप से देखा था। इसलिए यह ग्रंथ अत्यंत विश्वसनीय प्रतीत होता है। राजपरिवार की यह सदस्य स्वयं मुगल बादशाह बाबर की पुत्री थी। उसका जन्म 1523 ई. में हुआ था। इसकी माता का नाम दिलदार बेगम था। वह हिन्दाल की सगी बहिन एवं हुमायूँ की सौतेली बहिन थी। अपने पिता के स्वर्गवास के समय गुलबदन बेगम की उम्र मात्र सात वर्ष के लगभग थी। जिस समय उसके पिता की मृत्यु हुई वह आगरा में ही थी। उसके पूर्व उसका बचपन अपनी माँ के साथ काबुल में ही व्यतीत हुआ था।

बाबर के स्वर्गवास के पश्चात् परिवार के पालन–पोषण की जिम्मेदारी हुमायूँ पर आ पड़ी जिसका उसने भलीभाँति निर्वाह किया। इस मुगल बादशाह के संसार–त्याग के पश्चात् गुलबदन बेगम बादशाह अकबर के संरक्षण में रही। मुगल दरबार में उसको अत्यधिक सम्मान प्राप्त था। हुमायूँ के समय ही उसका विवाह एक मुगल अमीर खिज्र ख्वाजा चगताई से हो गया था। अकबर के शासनकाल में 1575 ई. में उसने हजयात्रा प्रारंभ की एवं वहाँ से 1582 ई. में वापिस फतहपुर सीकरी लौट आई। लगभग अस्सी साल की उम्र में 7 मई, 1603 ई. को उसने इस संसार को छोड़ दिया।

अकबर के आदेश पर हुमायूँनामा की रचना

गुलबदन बेगम ने अपने ग्रंथ की रचना अपने भतीजे मुगल बादशाह अकबर के आदेश पर की। अकबर ने सरकारी स्तर पर लिखे जा रहे 'अकबरनामा' के लिए सामग्री एकत्रित करने के लिए अपने पिता एवं दादा के समकालीन लोगों से तत्कालीन समय की घटनाओं को लिपिबद्ध करने का आदेश दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि मुगल बादशाह ने अपनी बुआ से विशेष आग्रह किया होगा तभी गुलबदन ने अपने संस्मरणों को लिपिबद्ध करने का निर्णय लिया होगा।

ग्रंथ के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि गुलबदन ने इसकी रूप–रेखा एक व्यवस्थित योजना के अन्तर्गत की थी। उसने अपने इतिहास ग्रंथ को दो भागों में विभाजित किया : प्रथम, बाबर का इतिहास और द्वितीय, हुमायूँकालीन इतिहास।

बाबरयुगीन इतिहास

अपने पिता बाबर के स्वर्गवास के समय गुलबदन की उम्र लगभग आठ वर्ष की थी, इसलिए मुगल बादशाह के बारे में उसकी जानकारी काफी अस्पष्ट एवं धुँधली थी। इसलिए अपने पिता के इतिहास–लेखन के लिए उसके मूल स्रोत थे समकालीन व्यक्तियों के इतिहास एवं अन्य लोगों के संस्मरण थे। पद्धति की दृष्टि से यही उपयुक्त तरीका था, जो गुलबदन ने अपनाया था। लेखिका द्वारा लिखे

बाबरयुगीन इतिहास की सबसे मुख्य विशेषता है घटनाओं का रोचकतापूर्ण वर्णन। लेखिका ने इस ग्रंथ में अपने संबंधियों के प्रति बाबर के अगाध प्रेम की गहराई को प्रमुखता से उजागर किया है। वह लिखती है कि इब्राहीम लोदी के विरुद्ध विजय के अवसर पर बाबर अपने संबंधियों को भुला नहीं पाया। उसने सदैव उन्हें उपहार भेजे। मुगल बादशाह ने असस नामक एक संबंधी को तीन बार पादशाही वजन की तीन अशरफियाँ भेजीं जिनसे वह मालामाल हो गया। बाबर के अपने ग्रंथ 'बाबरनामा' से इस प्रेमभावपूर्ण व्यवहार का पता चलता है। गुलबदन बेगम के वर्णन से इस तथ्य की पुष्टि होती है। अपनी बेगमों के प्रति बाबर काफी भावुक था। वह हर शुक्रवार उनको देखने जाया करता था। एक बार एक बेगम ने गरमी की अधिकता के कारण से उसे न आने को कहा तो उसने जो उत्तर दिया उससे उसकी भावनाओं का अनुमान लगाया जा सकता है। उसने कहा – 'सुल्तान अबु सईद मिर्जा की पुत्रियों को, जो अपने पिता और भाइयों से अलग हो चुकी हैं, मैं प्रोत्साहन न दूँगा तो कौन देगा।'

इसके अतावा काबुल से आगरा आने के समय बाबर द्वारा अपने परिवार की उत्सुकता से प्रतीक्षा, हुमायूँ के प्रति उसके स्नेह की गहराई, अपनी मृत्यु के समय अपने पुत्र हिन्दाल की बेसब्री से प्रतीक्षा एवं इसी प्रकार के लगाव की अन्य घटनाओं का वर्णन गुलबदन बेगम ने अत्यन्त रोचक बना दिया है। उसके ये सभी वर्णन अत्यन्त जीवन्त एवं रुचिपूर्ण हैं। अगर गुलबदन बेगम के ये वर्णन उपलब्ध न होते तो बाबर के जीवन के अनेक पहलू अनछुए एवं अवर्णित रह जाते।

हुमायूँयुगीन इतिहास

हुमायूँनामा का हुमायूँ के काल के इतिहास की जानकारी के लिए विशेष महत्त्व है। चूँकि गुलबदन बेगम अपने भाई के काल में वयस्क हो चुकी थी, इसलिए साम्राज्य में घटित हो रही प्रत्येक घटना में उसकी रुचि होना स्वाभाविक था। इस आधार पर कहा जा सकता है कि लेखिका का वर्णन अत्यधिक विश्वसनीय है।

उसने अपने ग्रन्थ में हुमायूँ के काल में लड़े गए विभिन्न युद्धों, उसकी विजयों, अपने भाइयों के साथ उसके सम्बन्ध, शेरशाह के साथ युद्ध में पराजय के पश्चात् हुमायूँ का सिन्ध की ओर पलायन एवं वहाँ से काबुल की ओर प्रस्थान तथा हिन्दाल की मृत्यु के कारणों का रोचक वर्णन है। चूँकि हुमायूँ का काल युद्धों से भरा था एवं वह सदैव संकटों से घिरा रहा। उन सम्पूर्ण परिस्थितियों का वर्णन इस ग्रन्थ में पढ़ने को मिल जाता है।

हुमायूँ पर लिखी गई सामग्री को तीन भागों में विभाजित करके भी देखा जा सकता है :–

(1) हुमायूँ का सिन्ध से काबुल पहुँचने एवं कामरान को अन्धा करने तक का वर्णन। (2) मुगल बादशाह की सिन्ध से ईरान की यात्रा, काबुल विजय एवं (3) खिज्र ख्वाजा एवं अन्य सम्बन्धियों के बयानों पर आधारित वर्णन।

इसके अतिरिक्त हुमायूँ एवं हमीदा बानू बेगम के विवाह का रोचक वर्णन भी गुलबदन बेगम की विशेषता है। मुगल बादशाह की यह बहिन कन्धार से ईरान की यात्रा के समय अपने भाई के साथ थी। इसलिए इस यात्रा के दौरान भी उसे अपने भाई को समीप से देखने का अवसर मिला था। इसलिए हुमायूँ के चरित्र को समझने के लिए हुमायूँनामा एक उपयुक्त ग्रन्थ है। गुलबदन बेगम ने घटनाओं के वर्णन में सत्यता एवं तथ्यों पर अधिक बल दिया है लेकिन हिन्दाल एवं हुमायूँ के सम्बन्धों के वर्णन में वह थोड़ा पक्षपातपूर्ण हो गई है। हुमायूँ के विरुद्ध विद्रोह में वह अपने सगे भाई हिन्दाल का पक्ष लेती दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त कहीं भी अपने वर्णन में डगमगाती नजर नहीं आती। इस ग्रन्थ की विश्वसनीयता प्रोफेसर कालिकारंजन के शब्दों में उजागर होती है जब वे लिखते हैं कि, 'मुझे यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी मालूम हुआ, विशेषतः हुमायूँ के जीवन और तिथियों के विषय में बेगम की एक–दो बातों को छोड़कर अन्य बातों में यह विश्वसनीय है।'

उपर्युक्त वर्णन से यह उजागर होता है कि हुमायूँनामा बाबर एवं हुमायूँ के काल के इतिहास की जानकारी के लिए एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ है।

तज़किरातुल वाकयात

अकबर के आदेश पर लिखा गया यह दूसरा ग्रन्थ है जिसे जौहर आफ़तावची ने लिखा था। इस ग्रन्थ के लेखक ने इसका लेखन 1586–87 ई. में प्रारम्भ किया था। ग्रन्थ–लेखक अपने उद्देश्य के बारे में लिखता है कि उसका उद्देश्य तत्कालीन समय की सम्पूर्ण घटनाओं का वर्णन करना नहीं था बल्कि मात्र हुमायूँ के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं को लेखबद्ध करना था।

इस ग्रन्थ की एक विशेष बात यह है कि इसका लेखक हुमायूँ का सेवक था एवं हर अच्छे एवं संकट के समय वह उसके साथ रहा

था। इस आधार पर इस ग्रन्थ की विश्वसनीयता काफी अधिक बढ जाती है। हुमायूँ द्वारा अकबर को कन्धार में छोड़कर [illegible] जाने पर वहाँ उसके साथ जौहर रहा। उसके पश्चात् हुमायूँ के पंजाब पर आधिपत्य स्थापित कर लेने तक वह बादशाह के [illegible] ही रहा। उसके ग्रन्थ का आधार उसकी अपनी स्मरण शक्ति है।

ग्रन्थ के नाम का शाब्दिक अर्थ होता है : घटनाओं का वर्णन। ग्रन्थ–लेखक ने ग्रन्थ को [illegible] भागों में विभाजित किया [illegible] चार अध्यायों में चौसा युद्ध में पराजय से लेकर उसके पलायन तक का वर्णन है। पाँचवें एवं छठे अध्याय में विलग्राम की लड़ाई में मुगल बादशाह की पराजय एवं वहाँ से भागकर आगरा के मार्ग से सिंध तक पहुँचने का वर्णन समाहित है। सातवें से [illegible] अध्याय में सिन्ध में उसके भटकने, ईरान में पडाव एवं काबुल–कन्धार–विजयों का वर्णन है। अन्तिम छह अध्यायों में [illegible] हिन्दुस्तान वापसी एवं उस पर पुनः विजय, उसकी मृत्यु एवं अकबर के राज्यारोहण आदि घटनाओं का वर्णन है। ये सारे [illegible] लेखक की व्यक्तिगत जानकारी पर आधारित हैं क्योंकि वह सबमें उपस्थित था। घटनाओं के वर्णन के माध्यम से हुमायूँ के भाइयों सम्बन्धियों एवं उसके तूरानी अमीरों की चालाकियों, धोखों एवं साजिशों का पता चलता है। इसके अतिरिक्त ईरान के शाह तहमास्प एवं हुमायूँ के मध्य सम्बन्धों एवं आपसी मतभेदों की भी जानकारी मिलती है।

जौहर के ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सरल भाषा। गुलबदन बेगम के ग्रन्थ की तुलना में यह ग्रन्थ अधिक महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है। इसमें पक्षपातपूर्ण वर्णन देखने में नहीं आता। यह ग्रन्थ सत्य एवं तथ्यों पर आधारित है।

इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह ग्रन्थ हुमायूँ के स्वर्गवास के तीन वर्ष पश्चात लिखा गया था, इसलिए यह लेखक की स्मरणशक्ति पर आधारित था। इसलिए इस ग्रन्थ में तारीखों की गलतियाँ देखने में आती हैं। इसके अतिरिक्त कालक्रम की भी कमी है। इन सब कमियों के बावजूद यह ग्रन्थ हुमायूँ के राज्यकाल का पूर्ण एवं प्रामाणिक इतिहास है।

वाकयात-ए-मुश्ताकी

अफगानों, लोदियों एवं सूरवंश के शासकों के इतिहास पर प्रकाश डालने वाला शेख रिज़कुल्लाह मुश्ताकी द्वारा रचित वाकयात–ए–मुश्ताकी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में बहलोल लोदी से लेकर अकबर के शासनकाल के मध्य भाग तक का वर्णन मिलता है। यह ग्रन्थ एक प्रतिबद्ध इतिहासकार द्वारा लिखित रचना है। इस ग्रन्थ की रचना के पीछे ग्रन्थकार का उद्देश्य उन सभी व्यक्तियों की बातों को याद रखना है जिन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य किए हैं। ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में उन बातों को स्थान देना चाहता है जिनका उसकी दृष्टि से सांस्कृतिक एवं मानवीय मूल्य है। इसलिए इस ग्रन्थ का मुगलकाल के पूर्व के इतिहास एवं संस्कृति के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त मूल्य है।

अफगान शासकों के काल से सम्बन्धित जीवन एवं सांस्कृतिक घटनाओं के बारे में अत्यन्त मूल्यवान सामग्री का संकलन इसमें है। इसके अतिरिक्त मालवा, गुजरात एवं जौनपुर के सुल्तानों की सांस्कृतिक उपलब्धियों के बारे में विस्तार से वर्णन किया गया है।

इस ग्रन्थ के लेखन में जिन परिस्थितियों ने योगदान दिया उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि थी। वह दिल्ली के एक ऐसे प्रतिष्ठित परिवार से सम्बन्धित था, जिसके सदस्यों का विद्वत्ता एवं सैनिक क्षेत्रों में उल्लेखनीय योगदान रहा था। उसके पूर्वज अलाउद्दीन खिलजी के समय में भारत आए थे एवं विभिन्न पदों पर सेवारत रहे। शेख रिजकुल्लाह मुश्ताकी स्वयं एक ऐसे महत्त्वपूर्ण दौर में रहा, जो अफगानों का दौर था एवं इस समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामाजिक विकास हुए। प्रोफेसर इक्तिदार हुसैन सिद्दिकी के अनुसार विजेता एवं विजित के मध्य की खाई भर गई थी एवं हिन्दू एवं मुस्लिम संस्कृतियों के मिलन की प्रक्रिया ने न केवल गति पकड़ी, बल्कि उत्तर भारत के कई क्षेत्रों में यह पूर्ण हो गई।

मुश्ताकी का जन्म 1495–96 ई. में एवं उसका स्वर्गवास 1581–82 ई. में हुआ था। ग्रन्थ–लेखक सूफियों का अनुयायी [illegible] था एवं प्रसिद्ध सूफियों की दरगाहों के लिए उसने काफी यात्राएँ की थीं।

वाकयात–ए–मुश्ताकी अकबर के काल में 1572 ई. में पूर्ण हुई थी लेकिन उसने सूर शासकों की उपलब्धियों को काफी [illegible] है। इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने कहानियों के माध्यम से ऐतिहासिक परिस्थितियों एवं घटनाओं को वर्णित करने का प्रयास किया [illegible], उसने अपने वर्णनों से अफगानों के कबीलाई ढाँचे, देश की न्याय–व्यवस्था, जासूसी विभाग की कुशलता, सैनिक भर्ती व्यवस्था, [illegible] प्रणाली एवं ग्राम्य सामाजिक जीवन को उजागर करने का प्रयास किया है।

शेरशाह के काल पर भी काफी महत्त्वपूर्ण सूचनाओं का इस ग्रन्थ में संकलन किया गया [illegible] शेरशाह की सेना की [illegible]

एवं बहादुरशाह के बाद सारे अफगानों का इसके पास आना आदि महत्त्वपूर्ण सूचनाएं हैं, जो हुमायूँ के विरुद्ध सूर शासकों की सफलता को समझने में सहायता प्रदान करती हैं।

वाकयात–ए–मुश्ताकी की कुछ कमियाँ हैं, जिनकी तरफ सावधानी आवश्यक है:

1) वाकयात–ए–मुश्ताकी के लेखक को खोज एव शोध में कोई रुचि नहीं थी। वह साक्ष्य को जाँचता एवं परखता नहीं था बल्कि उसको वैसे ही अपने ग्रन्थ में स्थान दे देता था।

2) इस ग्रन्थ की विषयवस्तु में कोई तारतम्य एवं कालक्रम नहीं है। इसमें बमुश्किल तारीखों का जिक्र मिलेगा।

3) वर्णनों में भटकाव अत्यधिक है। राजाओं के वर्णन कहानियों एवं किस्सों में गड्डमड्ड हो गए हैं।

इन कमियों के कारण से इस ग्रन्थ को उपयोग लेने में सावधानी बरतना अत्यन्त आवश्यक है। इन सबके बावजूद यह ग्रन्थ अफगानों, लोदियों एवं सूर शासकों के इतिहास के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

तारीख-ए-शेरशाही या तोहफा-ए-अकबरशाही

इस ग्रन्थ का लेखक शेरशाह सूरी का समकालीन अब्बासखाँ सरवानी था इसलिए अकबर चाहता था कि सूर शासक के समय का इतिहास उससे लिखवाया जाए। इस आधार पर उसने अब्बासखाँ को शेरशाह के युग का इतिहास लिखने का आदेश दिया ग्रन्थ–लेखक न केवल सूर शासक का समकालीन था बल्कि उसके उस परिवार से पारिवारिक सम्बन्ध भी थे। ग्रन्थ–लेखक के पिता सहित अनेक सम्बन्धी सूर प्रशासन में प्रभावशाली पदों पर थे। यही लोग अब्बास खाँ के लिए शेरशाह के समय के इतिहास–लेखन के महत्त्वपूर्ण स्रोत बने। यह बात निश्चित है कि यह ग्रन्थ अकबर के समय में लिखना प्रारम्भ किया गया था, लेकिन इसकी निश्चित तारीख की जानकारी उपलब्ध नहीं होती। अतहर अब्बास रिजवी के अनुसार यह 31वें इलाही सन् में लिखी गई थी।

अब्बास खाँ सरवानी शेरशाह के इतिहास की जानकारी के लिए मूल स्रोत है। ग्रन्थ–लेखक सुल्तान बहलोल लोदी से ग्रन्थ की शुरुआत करता है और बाद में शेरशाह के इतिहास के बारे में विस्तार से चर्चा करता है। उसने निम्न बिंदुओं पर सूर शासन के इतिहास पर सूचनाओं का संकलन किया है :

1) शेरशाह के जन्म एवं प्रारम्भिक जीवन के बारे में मूल्यवान सामग्री का संकलन किया है।

2) शेरशाह नाम धारण करने से पूर्व सूर शासक का नाम फरीद था। बिहार के शासक सुल्तान मुहम्मद शाह ने उसके द्वारा शिकार के समय चीते को मारने के मौके पर शेरखाँ की उपाधि प्रदान की थी।

3) अब्बास खाँ के वर्णन से ज्ञात होता है कि शेरशाह बाबर की सेवा में रहा था एवं मुगल बादशाह उसकी चुस्ती एवं बुद्धिमत्ता से अत्यधिक प्रभावित था। बाबर मन ही मन उसे नापसंद भी करता था लेकिन वह उसका कुछ बिगाड़ नहीं पाया था।

4) तारीख–ए–शेरशाही में शेरशाह एवं हुमायूँ के मध्य हुए युद्धों का विस्तृत वर्णन मिलता है। चौसा युद्ध की तुलना में बिलग्राम के युद्ध का विस्तृत वर्णन इस ग्रंथ में है। शेरशाह द्वारा माखांड की जीत, कालिंजर का घेराव और उसकी मौत के बारे में संकलित सूचना ऐतिहासिक महत्त्व की है।

5) चुनार के किले पर शेरशाह के आधिपत्य के बरकरार रहने का साक्ष्य सूर शासक की बुद्धिमत्ता का परिचायक है, हुमायूँ जब चुनार के किले पर अपना कब्जा करने हेतु वहाँ गया तो वह शेरशाह की चापलूसी की बातों में आ गया। इस परिस्थिति में शेरशाह ने कूटनीति का सहारा लेते हुए कहा, 'विश्व को शरण देनेवाला बादशाह चुनार का दुर्ग अपने इस पैतृक दास से छीन कर किसी अन्य दास को प्रदान करेगा। यह सेवक (शेरशाह) भी आपके दरबारी सेवकों में से एक है।' इस तर्क को स्वीकार करते हुए हुमायूँ ने वह किला शेरशाह के पास ही रहने दिया।

6) शेरशाह की सैनिक व्यवस्था का व्यवस्थित वर्णन इस ग्रंथ में उपलब्ध है। अब्बा सखाँ लिखता है, 'उसकी सेना में 1,50,000 घुड़सवार, 25,000 पैदल सैनिक एवं 5000 पैदल सैनिक थे। उसने घोड़ों में दाग लगाने एवं सैनिकों के चेहरों का विवरण दर्ज करने की प्रथा प्रारंभ की थी। उसने दाग लगाने की व्यवस्था को वेतन के भुगतान के साथ जोड़ दिया।'

7) राजस्व व्यवस्था का भी विस्तार से वर्णन किया है। उसने राजस्व व्यवस्था को व्यवस्थित करने हेतु प्रत्येक परगने में एक अमीन, एक शिकदार एवं एक फोतेदार नियुक्त किए। कानूनगो की नियुक्ति से राजस्व भुगतान करनेवाले किसानों एवं भूमि के बारे में विस्तृत जानकारी होने लगी।

(8) किसानों के हितों की सुरक्षा के लिए शेरशाह द्वारा किए गए उपायों का अब्बा सखाँ ने विस्तार से वर्णन किया है। उसने लिखा है कि सूर शासक की मान्यता थी कि राज्य का हित किसानों से जुड़ा है। अगर किसानों का हित होता है तो उससे राज्य को भी लाभ पहुँचता है। कृषकों की खेती की सुरक्षा के लिए उसने अपने सैनिकों को किसानों के खेतों का नुकसान न पहुँचाने की हिदायत दे रखी थी। सरवानी लिखता है कि सैनिक अभियान के समय अगर किसी कृषक की खेती बरबाद हो जाती थी, तो उसके नुकसान का अनुमान लगाकर उस किसान को मुआवजा दिया जाता था।

(9) शेरशाह के प्रजाहितैषी कार्यों का भी वर्णन इस ग्रंथ में विस्तार से मिलता है। अब्बा सखाँ ने सूर शासक द्वारा सुरक्षा सड़कों के निर्माण के बारे में लिखा है। इनमें से एक सड़क के द्वारा पंजाब, लाहौर, दिल्ली बंगाल के सुनार गाँव के क्षेत्रों को जोड़ दिया गया था। दूसरी आगरा से बुरहानपुर तक, तीसरी आगरा से जोधपुर और चित्तौड़ तक एवं चौथी लाहौर से मुलतान को जोड़ती थी। इसके अतिरिक्त उसने यात्रियों व्यापारियों एवं बंजारों की सुविधा के लिए सरायों का निर्माण करवाया।

(10) तारीख–ए–फिरोजशाही में सिन्ध पार के क्षेत्र में शेरशाह द्वारा स्थापित शासन प्रणाली का विस्तृत वर्णन मौजूद है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अब्बा सखाँ द्वारा रचित तारीख–ए–शेरशाही शेरशाहयुगीन इतिहास का एक समकालीन एवं प्रामाणिक ग्रंथ है। इस ग्रंथ के बिना शेरशाह के काल के विभिन्न पक्षों का इतिहास लिखने की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

अकबरनामा

मुगलकालीन इतिहास लेखन का सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं पूर्ण ग्रंथ अबुलफजल द्वारा लिखित 'अकबरनामा' है। इस ग्रंथ के लेखक के जन्म एक ऐसे परिवार में हुआ था जहाँ का वातावरण अध्ययन का था। अबुलफजल के पूर्वज राजस्थान के नागौर के निवासी थे। इसके पिता को समकालीन विद्वानों के संग रहने का अवसर मिला था। रोजगार की तलाश ग्रंथ–लेखक के पिता को आगरा ले आई थी। हमारे ग्रंथकार का जन्म इसी शहर में 1551 ई. में हुआ था। उसकी शिक्षा–दीक्षा अपने पिता की देख–रेख में घर पर ही हुई। पन्द्रह वर्ष की उम्र तक उसने अरबी एवं फारसी भाषाओं का गहन अध्ययन कर लिया। इस दौरान उसने धर्म एवं दर्शनशास्त्र का गहराई से अध्ययन किया एवं धार्मिक चर्चाओं में भागीदारी ने उसमें उदारता एवं सहनशीलता जैसे गुणों को पैदा किया।

तेईस साल की उम्र में अबुलफजल को अपनी मंजिल मिल गई। उसने 1574 ई. में अकबर की सेवा स्वीकार कर ली। अपनी बुद्धिमत्ता मेहनत एवं उदार विचारों के कारण वह अपने स्वामी के समीप आ गया। मुगल बादशाह मुगलों का इतिहास लिखवाना चाहता था एवं इसके लिए उसे उपयुक्त व्यक्ति की तलाश थी। अबुलफजल से उसकी मुलाकात पर वह समाप्त हो गई। अकबर ने 1589 ई. में ग्रंथ–लेखक को अपने राज्य का इतिहास लिखने का आदेश दे दिया।

अकबरनामा-लेखन की आधारभूत सामग्री

सरकारी आदेश पर इतिहास लिखने का कार्य अबुलफजल के सुपुर्द किया गया था, इसलिए स्वाभाविक तौर पर इसके [illegible] थे। सम्पूर्ण सरकारी सुविधाएँ ग्रंथ–लेखक को उपलब्ध थीं, जिनमें मुख्य थीं : प्रथम, सम्पूर्ण सरकारी दस्तावेजों की उपलब्धता; दूसरे, सारे सरकारी अधिकारियों की सेवाएँ उसके सुपुर्द; तृतीय, गांव स्तर के पटवारी उसके लिए उपलब्ध; चतुर्थ, कानूनगो परिवारों के दस्तावेजों के उपयोग की सुविधा आदि। अबुलफजल द्वारा समस्त सरकारी अधिकारियों एवं अन्य लोगों को वांछित सामग्री के संकलन करके दरबार में भेजने का हुक्म दिया गया। इसके अतिरिक्त अबुलफजल ने अपने व्यक्तिगत सम्पर्कों एवं स्रोतों से भी सामग्री–संकलन का कार्य किया। जमींदारी क्षेत्रों से वहाँ की संबंधित सामग्री मंगवाई गई। राजस्व एवं अन्य ग्रामीण आँकड़े के लिए उसने संबंधित क्षेत्रों के कानूनगो से आवश्यक कागजात मँगवाए गए।

अबुलफजल स्वयं अपने ग्रंथ के लिए सामग्री–संकलन के बारे में लिखता है कि उसकी सूचना समकालीन एवं प्रत्यक्षदर्शियों की दृष्टि पर निर्भर करती थी। इसके अतिरिक्त विवरणात्मक इतिहास, विशेषतः पूर्ववर्ती इतिहास के लिए वह पूर्णतः अकबर द्वारा निर्देशित करवाई गई सामग्री पर निर्भर करता था। अकबर ने बहुत–से लोगों से विशेष अनुनय कर उनके समय के इतिहास को लिखवाया था, जिनमें गुलबदन बेगम एवं जौहर आफतावची मुख्य थे। उनके ग्रंथ अकबरनामा–लेखन के मूल आधार थे।

अबुलफजल के इतिहास की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसने सभी सूचनाओं को उसी का तैसा स्वीकार नहीं कर लिया था। उसने आलोचनात्मक परीक्षण के पश्चात् ही उसे स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त उसके इतिहास की एक और विशेषता है कि वह अपने ग्रंथ को पाँच बार सुधारा एवं छठी बार पुनः सुधारना चाहता था, लेकिन बादशाह के दबाव के कारण से ऐसा नहीं कर पाया।

इससे यह सिद्ध होता है कि अकबरनामा एक सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक ग्रंथ है। इस ऐतिहासिक ग्रंथ को पूर्ण करने में लेखक को लगभग सात से आठ साल लगे। 1597–98 ई. में अकबरनामा पूर्ण रूप में अकबर के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। यह ग्रंथ तीन खंडों में संकलित किया गया था। दो खंडों में मुख्यतः अकबर के शासन एवं उसके पिता हुमायूँ एवं दादा बाबर के काल की घटनाओं का वर्णन है। तीसरे खंड में पवित्र सरकारी नियमों (आईनहा–मुकद्दस–ए–शाही) का संकलन है। यह वास्तव में एक स्वतंत्र ग्रंथ है।

अकबरनामा : प्रथम भाग

अकबरनामा के प्रथम भाग में अकबर के जन्म से लेकर 15 सितम्बर, 1572 ई. तक का वर्णन सम्मिलित है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस भाग में लगभग तीस वर्षों का इतिहास वर्णित है। राजनीतिक वर्णन के अतिरिक्त सृष्टि की रचना, विभिन्न धर्मों की विचारधारा, दार्शनिकता एवं आदम तथा दूसरे पैगम्बरों का वर्णन आदि सम्मिलित है। अकबर के पूर्वजों, विशेषतः बाबर एवं हुमायूँ का वर्णन विस्तार से इसी भाग में सम्मिलित किया गया। इस पर अकबर ने तत्कालीन समय के अमीरों एवं अन्य व्यक्तियों को आदेश देकर ग्रंथ लिखवाए थे। अबुलफजल ने इन्हीं ग्रंथों को आधार बनाकर इस भाग को पूर्ण किया।

अकबरनामा : द्वितीय भाग

अबुलफजल ने द्वितीय भाग में अकबर के राज्यारोहण से लेकर उसके 46वें साल तक का वर्णन सम्मिलित किया है। 1602 ई. में ही ग्रंथ–लेखक की हत्या कर दी गई थी।

अकबरनामा : तीसरा भाग

आईन-ए-अकबरी : जैसा कि ऊपर कहा गया है कि आईन– ए–अकबरी अबुलफजल द्वारा लिखित अकबरनामा का तीसरा भाग है, लेकिन विषयवस्तु के गठन एवं संयोजन के कारण से इस ग्रंथ ने एक स्वतंत्र ग्रंथ का दर्जा प्राप्त कर लिया है। अबुलफजल ने अहलाव–ए–दवाज़दाह सूबा अर्थात् बारह सूबों का विस्तृत वर्णन दिया है। प्रत्येक सूबे के वर्णन में सांख्यकीय सूचनाओं का संकलन किया है जो सारिणी के रूप में प्रत्येक के अन्त में लगा दिया है। हालाँकि शीर्षक में बारह सूबों का लिखा है लेकिन वास्तव में पन्द्रह सूबों का वर्णन है। अधिक वर्णित ये तीन सूबे हैं बरार, खानदेश एवं अहमदनगर, जो कि 1595–96 ई. में मुगल साम्राज्य में सम्मिलित किए गए थे। आईन–ए–अकबरी में दी गई सूचनाएँ निम्न मदों पर हैं :–

1. प्रन्द्रह सूबों का वर्णन।
2. प्रत्येक सूबे की भौगोलिक एवं आर्थिक विशेषताओं का वर्णन।
3. इस वर्णन के अंत में सूबे की कुल सरकारों एवं परगनों (महलों) की संख्या को दर्ज करना।
4. सरकारों या परगनों का मापित क्षेत्र (जमीन–ए–पैमुदा), अनुमानित आय (जमा), जमींदारों की सैनिक शक्ति (बूमी)।
5. हाथियों, घुड़सवारों (सवारों) एवं पैदल सैनिकों (पियादा) की संख्या।
6. केवल बंगाल और बिहार के जमींदारों की तोपों एवं नावों की संख्या।

इनके अतिरिक्त अबुलफजल ने प्रत्येक सूबे की सरकारों के सांख्यिकीय आँकड़े सारिणी के रूप में उपलब्ध करवाए हैं। प्रत्येक सारिणी में आठ कालम हैं, जिनके अन्तर्गत सूचनाओं का संकलन किया गया है, जो निम्न हैं –

1. परगना/महाल, 2. किला, 3. आराजी (जमीन–ए–पैमुदा) अर्थात् मापित क्षेत्र, 4. नगदी (जमा), नगद में अनुमानित आय, 5. सुथूरघाल अर्थात् धार्मिक अनुदान में दी गई भूमि, 6. जमींदार की जाति, 7. सवार (जमींदारों के घुड़सवार), 8. पियादा (जमींदारों के पैदल सैनिक), जहाँ कहीं हाथियों की संख्या दी गई है, वह 'सवार' कालम में अंकित की गई है।

इसके पश्चात् सरकारों में कुल परगनों की संख्या एवं प्रत्येक परगने के सांख्यिकीय आँकड़े अंकित किये गए हैं।

उपर्युक्त विषयवस्तु की दृष्टि से इस ग्रंथ को एक स्वतंत्र ग्रंथ का दर्जा दिया जाना उपयुक्त प्रतीत होता है। इस ग्रंथ में उन सभी पन्द्रह सूबों का वर्णन सम्मिलित किया गया है जो अकबर के साम्राज्य के अंग थे। सूबों में संकलित की गई सामग्री सूबों की भौगोलिक, प्रशासनिक एवं आर्थिक स्थितियों के अध्ययन के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

अबुलफजल द्वारा लिखित अकबरनामा की एक विशेषता और थी और वह थी इस ग्रंथ में मुगल बादशाह अकबर की व्यक्तिगत रुचि। वह इस ग्रंथ में रोज–ब–रोज की प्रगति लेता रहता था। इसके अतिरिक्त अपने राज्य के बारे में लिखे जा रहे इतिहास के आँकड़ों

एवं सूचनाओं की स्वयं जाँच करता था। अबुलफजल स्वयं लिखता है कि बादशाह ने आदेश दिया था कि, 'जो सामग्री [illegible] जावे, उसे स्पष्टतः उतारकर बादशाह को सुनाया जाए।' इसी से इस ग्रंथ में बादशाह की रुचि का अनुमान लगाया जा सकता है।

निःसंदेह अबुलफजल मध्यकालीन भारत का एक महानतम इतिहासकार था। उसकी दृष्टि वैज्ञानिक एवं तथ्यात्मक थी।

तबकाते-अकबरी

ख्वाजा निजामुद्दीन अहमद द्वारा रचित यह ग्रंथ अकबर के काल में लिखित एक महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान इतिहास–ग्रंथ है। ग्रंथकार का पिता ख्वाजा मुहम्मद मुकीम हरवी था, जो बाबर से लेकर अकबर के काल तक राजकीय सेवा मे रहा एवं दीवान, बख्शी, वजीर जैसे पदों पर कार्य किया। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि निजामुद्दीन अहमद एक प्रतिष्ठित परिवार से सम्बन्धित था।

परिवार की इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए उसने भी अकबर के काल में सेवा स्वीकार करली। हालाँकि उसके बाल्यकाल एवं शिक्षा–दीक्षा के बारे में हमें कोई प्रत्यक्ष जानकारी नहीं मिलती, लेकिन उसके द्वारा लिखित उच्चस्तरीय ग्रंथ से उसकी उच्च शिक्षा का अनुमान लगाया जा सकता है।

ग्रंथ–लेखक अकबर के काल में अनेक सैनिक अभियानों का भागीदार रहा था। इसी आधार पर अकबर ने उसको गुजरात का बख्शी नियुक्त किया। उसकी सेवा से प्रसन्न होकर मुगल बादशाह ने 1587–88 ई. में उसे राजदरबार में अपने पास लाहौर बुला लिया। उसके पश्चात् उसे अजमेर, गुजरात एवं मालवा की खालिसा भूमि का इंचार्ज नियुक्त किया गया। उसकी इन्हीं सेवाओं से प्रसन्न होकर उसे शम्साबाद परगना जागीर के रूप में दे दिया गया। उसके जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि साम्राज्य के बख्शी के रूप में नियुक्ति थी। यह नियुक्ति 1591–92 में अकबर ने की, जब आसफखाँ को काबुल के अभियान हेतु भेज दिया गया था। इसके पश्चात् निजामुद्दीन को अकबर के साथ कश्मीर एवं लाहौर में साथ रहने का अवसर मिला था। अन्त में 29 अक्टूबर, 1594 ई. को 45 वर्ष की अल्पायु में लाहौर के समीप उसका स्वर्गवास हो गया। मुगल बादशाह की समीपता के कारण से उसे अकबर को समझने का अवसर सुलभ हो पाया।

विषयवस्तु : निजामुद्दीन अहमद ने अपने ग्रंथ तबकाते अकबरी में 977–78 ई. से लेकर 1593–94 ई. तक का इतिहास एवं इस समय में घटित घटनाओं का संकलन किया है। इसमें उस समय के भारत का इतिहास उपलब्ध होता है। उसका ग्रंथ नौ अध्यायों में विभाजित है, जिनमें दिल्ली, दक्षिण, गुजरात, मालवा, बंगाल, जौनपुर, कश्मीर, सिन्ध एवं मुल्तान प्रांतों के शासकों का इतिहास संकलित है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसने मुगल साम्राज्य के महत्त्वपूर्ण सूबों का इतिहास लिखा। इसके अतिरिक्त उसने मेवाड़ के शासक राणा सांगा के बारे में भी मूल्यवान सामग्री अपने ग्रंथ में सम्मिलित की है।

उसके इतिहास की सबसे बड़ी विशेषता है कि उसने पूरी छानबीन एवं जाँच के पश्चात् ही साक्ष्यों को अपने इतिहास में स्थान दिया। इसके अतिरिक्त उसके ग्रंथ की दूसरी विशेषता है कि अबुलफजल जैसा सरकार की ओर अनावश्यक झुकाव एवं बदायूनी जैसी सत्ताविरोधी कट्टरता नहीं पाई जाती। उसने एक निष्पक्ष एवं तटस्थ इतिहासकार की दृष्टि अपनाई और उसी आधार पर अपने ग्रंथ की रचना की।

मूल स्रोत : उसके इतिहास–लेखन के मूल स्रोत निम्न थे –

1. अपने पिता के अनुभव एवं उनके द्वारा वर्णित घटनाएँ।
2. विभिन्न सरकारी पदों पर रहते हुए दस्तावेजों की उपलब्धता।
3. लेखक के स्वयं द्वारा संकलित साक्ष्य।
4. अबुलफजल द्वारा रचित 'अकबरनामा' एवं 'आईन–ए–अकबरी'।
5. ग्रंथ–लेखक ने 20 ग्रंथों के नामों का जिक्र किया है, जो उसके आधारग्रंथ रहे, जिनमें मुख्य हैं: तारीख यामीनी, ताजुल मासिर, तबकाते नासिरी, तुगलकनामा, तारीखे फिरोजशाही, तारीखे मुबारकशाही एवं तारीखे नासिरी आदि।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि निजामुद्दीन अहमद द्वारा लिखित ग्रंथ अत्यंत प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक है। उसने इमानदारी से अपने आधारग्रंथों का जिक्र करके अपनी आधुनिक इतिहासदृष्टि का परिचय दिया है। यह एक पूर्ण ग्रंथ है जिसमें एक निष्पक्ष इतिहासदृष्टि का समायोजन किया गया है। तबकाते अकबरी का वह वर्णन अत्यधिक विश्वसनीय है, जो लेखक के स्वयं के अनुभव

पर आधारित है। दूसरे शब्दों में इस ग्रंथ को प्रान्तों का व्यवस्थित वर्णन कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

मुन्तखब-उल-तवारीख

यह ग्रंथ एक ऐसे इतिहासकार द्वारा लिखा गया था जो अकबर की नीतियों एवं कार्यशैली का घोर विरोधी था। इसलिए इस ग्रंथ का अत्यधिक ऐतिहासिक महत्त्व है। वह व्यक्ति था अब्दुलकादिर बदायूँनी। इसका जन्म 1540 ई. में राजस्थान के टोडा नामक एक कस्बे में हुआ था। उसके पिता का नाम मुलुकशाह था। उसकी शिक्षा शेखहातिम संभली, शेख अबुजफतह एवं अबुलफजल के पिता शेख मुबारक की देखरेख में हुई थी। उसके लेखन पर पटियाला के हुसैनखाँ टुकड़याँ का बहुत प्रभाव पड़ा। वह एक कट्टर मुसलमान था, जिसकी सेवा में बदायूंनी 1565–66 से लेकर 1574 ई. के मध्य नौ साल तक रहा।

अकबर की सेवा में दाखिल

चौतीस साल की उम्र में 1574 ई. में बदायूँनी आगरा में अकबर की सेवा में दाखिल हो गया। ग्रंथ–लेखक ने सरकारी सेवा ऐसे समय स्वीकार की थी जब आगरा का वातावरण बौद्धिक एवं धार्मिक बहसों के वातावरण से ओतप्रोत था। मुगल बादशाह उपयुक्त विद्वानों की खोज में था जो उसके प्रश्नों का सन्तोषप्रद उत्तर दे सकें। इसलिए वह अपनी सेवा में ऐसे लोगों को दाखिल करके उन्हें पुरस्कार दे रहा था। बदायूँनी की नियुक्ति भी इसी का परिणाम थी। मुगल सेवा की अल्पावधि में ही बदायूँनी को 1575–76 ई. में इमाम के पद पर नियुक्त कर दिया गया और इस सेवा के बदले उसे एक हजार बीघा भूमि मदद–ए–माश अर्थात् धार्मिक अनुदान के रूप में दे दी गई। अकबर इबादतखाने में उलेमाओं एवं अन्य विद्वानों के मध्य धार्मिक बहसें आयोजित करवाता था। इन बहसों में बदायूँनी कट्टरपंथी उलेमाओं को अपने तर्कों के माध्यम से पराजित कर देता था। मुगल बादशाह उसकी विद्वत्ता एवं तार्किक शक्ति से अत्यधिक प्रभावित हुआ। लेकिन अबुलफजल एवं उसका भाई फैजी उसकी आँख की किरकिरी बने हुए थे। अकबर उनसे अधिक प्रभावित रहता था। इसलिए बदायूँनी भीतर ही भीतर उनसे चिढ़ने लगा था। वह दोनों भाइयों को अपनी प्रगति में बाधक भी समझता था। इसके अतिरिक्त उसकी यह धारणा भी थी कि ये दोनों भाई ही मुगल बादशाह को इस्लाम–विमुख बनाने के लिए पूर्णतः जिम्मेदार हैं। वह स्वयं को शरीयत एवं इस्लाम का एकमात्र हिमायती मानता था एवं उसी दृष्टिकोण ने उसे संकीर्ण बना दिया जिसका स्पष्ट प्रभाव उसके इतिहास–ग्रंथ में झलकता है।

मुन्तखब-उत-तवारीख की विषयवस्तु

इस ग्रंथ का लेखक बदायूँनी फारसी, अरबी एवं संस्कृत आदि भाषाओं का ज्ञाता था। उसका प्रतिद्वन्द्वी अबुलफजल संस्कृत बिल्कुल नहीं जानता था। भाषाओं के ज्ञान ने उसको एक अतिरिक्त लाभ प्रदान किया। उसने अपने ग्रंथ को तीन भागों में विभाजित किया है, जो निम्न हैं –

1. प्रथम भाग में सुबुक्तगीन (977–997 ई.) से हुमायूँ के अन्तिम वर्षों तक का इतिहास।
2. द्वितीय भाग में 1556 से 1596 ई. तक के अकबर के चालीस सालों के शासन की घटनाओं का संकलन।
3. अन्तिम भाग में समकालीन सूफी सन्तों, मुस्लिम विद्वानों, हकीमों एवं कवियों की जीवनियों का संकलन किया, जो सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

बदायूँनी ने अपने ग्रंथ–लेखन की शुरुआत 1590 ई. में की थी। ग्रंथ–लेखक ने ईमानदारी से लिखा है कि उसने अपने ग्रन्थ–लेखन में तबकाते–अकबरी का सर्वाधिक उपयोग किया है। उसने अपने समय की समस्त महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं का वर्णन अपने ग्रंथ में किया है चूँकि वह अकबर की सेवा में था इसलिए उसे चीजों को समझने एवं परखने का अच्छा अवसर मिला था। अकबर की योजनाओं एवं सुधारों से वह प्रसन्न नहीं था। इसलिए उसने उनके महत्त्व को उजागर करने का कोई खास प्रयास नहीं किया। उसने उन घटनाओं को अधिक उभारा, जो उसके संकीर्ण दृष्टिकोण की सीमा में आती थी। मेवाड़–मुगल संघर्ष इसी दायरे में आता था। उसने अपने ग्रंथ में महाराणा प्रताप एवं अकबर की सेनाओं के मध्य हल्दीघाटी के मैदान में लड़े गए युद्ध का आँखों देखा वर्णन प्रस्तुत किया है जो अत्यधिक प्रामाणिक है। उसने इस युद्ध में जय–पराजय के बारे में लिखा कि इस संघर्ष में कोई हारे–जीते, कोई अन्तर नहीं पड़ता। दोनों तरफ से काफिर मारे जा रहे हैं इसलिए इसमें इस्लाम की जीत है। उसके इस कथन से उसके कट्टरवादी दृष्टिकोण का पता चलता है।

दूसरी तरफ उसने अकबर की धार्मिक सहिष्णु नीति का घोर विरोध किया है। मुगल बादशाह की इस नीति का वह [illegible] मानता है इसलिए उसने उसको प्रमुखता से अंकित नहीं किया है। वह कच्छवाह शासक मानसिंह की सिर्फ इसलिए प्रशंसा करता है क्योंकि उसने दीन–ए–इलाही का मत स्वीकार करने से मना कर दिया था।

इन सब सीमाओं एवं कमियों के बावजूद बदायूँनी का ग्रंथ अकबरयुगीन इतिहास के लिए एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उसकी भाषा एवं शैली अत्यन्त आकर्षक एवं रोचक है। अगर उसका ग्रंथ उपलब्ध न होता तो अकबर के काल का विरोधी स्वर दखन की मिलता। उस परिस्थिति में हमारे पास सिर्फ मुगल बादशाह के आदेश से लिखा अकबरनामा होता। बदायूँनी का इतिहास स्वतन्त्र इतिहास–लेखन का प्रतिनिधित्व करता है। इस दृष्टि से इस ग्रंथ का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है।

जहाँगीरकालीन मूल स्रोत

तुजुक-ए-जहाँगीरी

आत्मकथा–लेखन के मामले में भारत में मुगल सत्ता की नींव रखनेवाले बाबर का अनुसरण जहाँगीर ने किया। उसने भी आत्मकथा के रूप में समकालीन भारत के इतिहास को हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया। इतिहास–लेखन में उनका यह प्रेम सम्भवतः अपने पिता अकबर के कारण से था। मुगल शासकों में सम्भवतः यह प्रथम बादशाह था जिसने साम्राज्य का व्यवस्थित इतिहास लिखवाने का प्रयास किया। उसके समय में उसके आदेश पर कई लोगों ने इतिहास लिखा। इसके अतिरिक्त उसने सरकारी स्तर पर अबुलफजल जैसे विद्वान से अपने साम्राज्य का इतिहास लिखवाया। इतिहास के प्रति अपने पिता के इतने गहरे लगाव से जहाँगीर का प्रभावित होना स्वाभाविक था। सम्भवतः इसका ही प्रतिफल उसके द्वारा लिखित तुजुक–ए–जहाँगीरी है, जिसे जहाँगीरनामा के नाम से भी जाना जाता है।

इस ग्रन्थ में जहाँगीर के शासनकाल के उन्नीस वर्षों का फारसी भाषा में वर्णन है। इसमें प्रारम्भिक सोलह वर्षों का ब्यौरा स्वयं जहाँगीर की कलम से लिखा गया है जबकि शेष तीन वर्षों का ब्यौरा अर्थात् सत्रहवें से उन्नीसवें वर्ष तक का ब्यौरा मुतामिदखाँ की कलम से लिखा गया है। जहाँगीर ने अपने निरन्तर बिगड़ते स्वास्थ्य के कारण से मुतामिदखाँ को यह कार्य सौंपा था किन्तु बाद में इस लेखक ने सम्राट् के नाम पर इस प्रकार लेखन में अपनी असमर्थता व्यक्त की। इसलिए इस आत्मकथा में जहाँगीर के प्रारम्भिक अठारह वर्षों तक का ही ब्यौरा समाहित है।

तुजुक-ए-जहाँगीरी की शैली एवं विषयवस्तु

जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में वर्षवार वर्णन लिखा है। उसमें क्रमबद्धता है – जो घटना जब घटती है या जब उसे [illegible] है, उसके तत्काल बाद ही लिख लेता है जिससे उसमें भूल के कारण से कोई गलती नहीं हो पाती थी। इसके मध्य में [illegible] या घटना का स्मरण आ जाने पर वह वहीं दर्ज कर देता था। इसके अतिरिक्त मुगल बादशाह की शैली साहित्यिक एवं [illegible] थी। ग्रन्थ में एक प्रवाह है जो पाठक को बाँधे रखता है।

जहाँगीर ने अपने ग्रन्थ में समकालीन घटनाओं के अतिरिक्त अपने पिता के काल की घटनाओं का संकलन किया है। [illegible] जिन विषयों को अपनी आत्मकथा में स्थान दिया है उनमें प्रमुख रूप से निम्न हैं–

(1) समकालीन राजनीतिक घटनाओं का वर्णन।

(2) मुगल सेनाओं का विरोधी सेनाओं के साथ युद्ध एवं उनके परिणामों का ब्यौरा।

(3) दक्षिण के मोर्चे पर मुगल सेनाओं की पराजय एवं उसके कारण।

(4) मुगल अधिकारियों के पारस्परिक झगड़े एवं आपसी फूट का अंकन।

(5) सम्राट् के द्वारा अपने कृपापात्र मनसबदारों को समय–समय पर की जानेवाली [illegible] उनकी मनसब में बढ़ोत्तरी, खिलअत, इनाम एवं अन्य सम्मानों का विस्तार से ब्यौरा।

(6) मुगल अधिकारियों की नियुक्ति एवं तबादलों का वर्णन।

(7) विशेषतः मेवाड के सिसोदिया एवं राजस्थान के अन्य राजपूत शासकों का विशेष चित्रण।

(8) मेवाड़–मुगल सन्धि एवं उनकी शर्तों का विस्तार से बयान।

(9) राजनीतिक घटनाओं के अतिरिक्त तुजुक–ए–जहाँगीरी में हिन्दुओं के सामाजिक रीति–रिवाजों का वर्णन मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँगीर यहाँ के सामाजिक रीति–रिवाजों के बारे में विशेष ज्ञान रखता था।

(10) तुजुक–ए–जहाँगीरी में भारत की भौगोलिक परिस्थितियों के बारे में विस्तार से सूचनाओं का संकलन किया गया है। उदाहरण के लिए जहाँगीर ने माँडू की अवस्थिति, स्थानीय भौतिक रचना, वन प्रदेश एवं उसकी प्राकृतिक सम्पदा का विशद वर्णन किया है। इसी तरह इस ग्रन्थ में अजमेर एवं पुष्कर के बारे में बड़ा दिलचस्प वर्णन है।

(11) तुजुक–ए–जहाँगीरी एक प्रकार से प्राकृतिक सूचनाओं का एनसाइक्लोपीडिया है। इस वर्णन के आधार पर ही आधुनिक इतिहासकारों ने उसको प्रकृतिप्रेमी बादशाह का खिताब दिया है। उसने विभिन्न क्षेत्रों में पाए जानेवाले वृक्षों, फूलों, फलों आदि का अत्यन्त रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है। जहाँगीर एक उत्सुक पर्यवेक्षक था जिसकी पुष्टि विभिन्न पशु–पक्षियों की छोटी से छोटी आदतों के सूक्ष्म विवेचन से होती है।

(12) जहाँगीर ने प्राकृतिक प्रकोपों और उनसे उत्पन्न होनेवाले प्रभावों का भी बारीकी से वर्णन किया है। उदाहरणार्थ 1617–18 ई. में फैली महामारी के बारे में वह लिखता है कि, 'इस साल हिन्दुस्तान में महामारी फैल रही है जो गत वर्ष पंजाब के कई परगनों में प्रकट हुई थी। वह बढ़ते–बढ़ते लाहौर पहुँची, जिससे बहुत–से हिन्दू मारे गए। फिर सरहिन्द के रास्ते दिल्ली में फैल गई एवं परिणामस्वरूप बहुत–से गाँव उजड़ गए। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि जहाँगीर महामारी जैसे प्राकृतिक प्रकोपों के विवेचन के द्वारा उसके प्रभावों को समझाना चाहता था। इसका उद्देश्य सम्भवतः उसके दुष्परिणामों की रोकथाम ही रहा होगा।

(13) जहाँगीर ने अपने जीवन, दैनिक व्यस्तताओं एवं व्यक्तित्व से सम्बन्धित अनेक पक्षों को उजागर किया है।

(14) तुजुक में अपने अमीरों एवं अधिकारियों के जीवन एवं उनकी सोच के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी संकलित की गई है।

(15) जहाँगीर ने अकबर की सुलह कुल की नीति एवं हिन्दू मुसलमानों के सम्बन्धों पर पड़ने वाले उसके प्रभावों को विस्तार से अपने ग्रन्थ में अंकित किया है। इसी वर्णन से मुगल सम्राट् की धार्मिक उदारता का पता चलता है जो उसके स्वयं के पिता के प्रभाव का परिणाम थी।

(17) इस ग्रंथ में अकबर के शासन की महत्त्वपूर्ण सूचनाओं को एकत्रित किया गया है।

(18) जहाँगीर द्वारा मुगल साम्राज्य के प्रांतों की यात्राएँ की गईं, जिनमें मुख्य थे : अजमेर, मालवा, गुजरात, पंजाब एवं कश्मीर आदि।

इन विवरणों के माध्यम से इन प्रांतों एवं कभी–कभी तो गाँवों के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ मिल जाती हैं जो सामान्यतः नहीं मिलती।

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त अन्य पक्षों पर भी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध हैं। ग्रंथ–लेखक ने अपने वर्णन में काफी सत्यता का सहारा लिया है। उसने अपने ग्रंथ में क्रमबद्ध रूप से सारी घटनाओं का वर्णन किया है, जिनसे तुजुक का ऐतिहासिक महत्त्व बढ़ जाता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जहाँगीरयुगीन इतिहास का यह महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान ग्रंथ है।

इकबालनामा-ए-जहाँगीरी

इस ग्रंथ का लेखक मोतमिदखाँ था जो नौकरी की तलाश में ईरान से भारत आया था। उस समय भारत में मुगल बादशाह का शासन था। तुजुक–ए–जहाँगीरी के वर्णन से पता चलता है कि जहाँगीर ने अपने शासन के तीसरे वर्ष अर्थात् 1608 ई. में उसे मोतमिदखाँ की पदवी दी थी। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मुगल बादशाह से उसकी मुलाकात इससे पहले हो चुकी थी।

मोतमिदखाँ ने इस ग्रंथ की रचना मुगल बादशाह जहाँगीर के आदेश पर की थी। लेखक ने तुजुक के कुछ वर्षों का वर्णन अपनी कलम से लिखा था इसलिए जहाँगीर उसकी योग्यता से पूर्णतः परिचित था। इसलिए जब उसने बादशाह के नाम पर उन्नीसवें साल के पश्चात् आगे लिखने में असमर्थता व्यक्त की तो बादशाह ने उसे स्वयं के नाम पर इतिहास लिखने का आदेश दिया। इसी आदेश के अनुसार उसने इकबालनामा–ए–जहाँगीरी की रूपरेखा तैयार की। इसके अनुसार उसने अपने ग्रंथ को तीन भागों में विभाजित किया, जो विषयवस्तु की दृष्टि से निम्न थे –

1. प्रथम खंड में तैमूर वंश की उत्पत्ति से लेकर बाबर द्वारा भारत में मुगल सत्ता [illegible] स्थान एवं हुमायूँ के समय [illegible] संकलित है।
2. दूसरे खंड में अकबर के राज्य के वर्णन को स्थान दिया गया है।
3. तीसरे खंड में हुमायूँ के समस्त दौर के इतिहास को लिखा गया है। इस भाग [illegible] मुगल बादशाह के उन्नीसवें साल [illegible] के वर्णन है जो उसने तुजुक–ए–जहाँगीरी से लिया है। इस वर्ष से लेकर मुगल बादशाह के स्वर्गवास तक के [illegible] बहुत विस्तार से अंकित किया है। तुजुक–ए–जहाँगीरी में वर्णित इतिहास के बाद के सालों के लिए इकबालनामा–ए–[illegible] ही एकमात्र स्रोत है।

जहाँगीर के काल के इतिहास की जानकारी के लिए मोतमिदखाँ का ग्रंथ एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है जिसके कई कारण [illegible] प्रथम, ग्रंथ–लेखक मुगल सम्राट् के काफी समीप रहा था। द्वितीय, वह बेगम नूरजहाँ के भी काफी करीब था। तृतीय, वह स्वयं साम्राज्य की सेवा में महत्त्वपूर्ण पदों पर कार्यरत रहा था इसलिए साम्राज्य की महत्त्वपूर्ण घटनाओं की [illegible] जानकारी उसके स्वयं के स्रोतों पर आधारित थी। इस आधार पर मोतमिदखाँ द्वारा लिखित ग्रंथ विश्वसनीयता की श्रेणी में आता है।

इस ग्रंथ की एक सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि चूँकि यह ग्रंथ मुगल सम्राट् के आदेश [illegible] लिखा गया था इसलिए उसमें निष्पक्षता का अभाव देखने को मिलता है। उसने सम्राट् के अच्छे कार्यों को ही उजागर करने का प्रयास किया है। ग्रंथ–लेखक ने हुमायूँ के चरित्र एवं शासन की कमजोरियों को छुपाने का प्रयास किया है। इसी कारण से उसके [illegible] ग्रंथ की थोड़ी विश्वसनीयता कम हो जाती है लेकिन मात्र इस कमी से ग्रंथ के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। जहाँगीर के [illegible] अन्तिम वर्षों के लिए यही एकमात्र स्रोत है इससे इस ग्रंथ का मूल्य अधिक बढ़ जाता है।

शाहजहाँकालीन फारसी स्रोत

बादशाहनामा

इस ग्रंथ का लेखक मोहम्मद अमीन कजबीनी था, जिसने इसका लेखन मुगल बादशाह शाहजहाँ के आदेश पर किया था। शाहजहाँ के दरबार में उसकी प्रथम नियुक्ति अभिलेखागार में मुंशी के पद पर 1632 ई. में हुई थी। इस दौरान उसने औरंगजेब एवं मतवाले हाथी के मध्य संघर्ष एवं 1635 ई. में बुन्देलों के विरुद्ध अभियान पर अपनी कलम चलाई। इस लेखन की भाषा एवं शैली ने शाहजहाँ को अत्यधिक प्रभावित किया। सम्भवतः इसी से प्रभावित होकर उसको दरबारी इतिहासकार के रूप में नियुक्ति मिली।

लेखक के स्वयं के अनुसार उसने बादशाह के आदेश के अनुसार उसके शासन के आठवें वर्ष अर्थात् 1636 ई. से इस ग्रंथ का कार्य प्रारंभ किया। कजवीनी ने प्रथम दस वर्षों का इतिहास लिखकर शाहजहाँ के सम्मुख प्रस्तुत किया। सम्भवतः [illegible] ग्रंथ को आदि से अन्त तक सुना। शाहजहाँ को यह ग्रंथ पसंद आया या नहीं, इसके बारे में कुछ कह पाना मुश्किल है लेकिन [illegible] पश्चात् उसके ग्रंथ–लेखन का कार्य बन्द हो गया। इसके पीछे सामान्यतः तीन कारण बताए जाते हैं: प्रथम, ऐसा प्रतीत होता है कि शाहजहाँ को कजवीनी की शैली पसंद नहीं आई थी। द्वितीय, अमल–ए–सालेह के लेखक मोहम्मद सालेह कम्बो के अनुसार कजवीनी की गुप्तचर विभाग में यह महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्ति के कारण वह ग्रंथ–लेखन के लिए समय नहीं निकाल पाता था, इसलिए उसने ग्रंथ–लेखन का कार्य बन्द हो गया। तीसरा कारण कालगणना से संबंधित है। सूर्य के आधार पर कालगणना के स्थान पर शाहजहाँ ने चन्द्रमा के आधार पर कालगणना का आदेश दिया। इस निर्णय से कजवीनी का क्रम बिगड़ रहा था। इसलिए सम्भवतः उसने आगे के इतिहास–लेखन में कोई रुचि नहीं दिखाई।

उपर्युक्त तीनों कारणों में से प्रथम कारण अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। द्वितीय कारण अधिक लचर एवं कमजोर प्रतीत होता है क्योंकि जब बादशाह ने पूर्व में कजवीनी को इतिहास–लेखन के लिए नियुक्त कर दिया था तब उसको गुप्तचर विभाग में पद मुक्त करने का कारण समझ में नहीं आता। इसका सीधा कारण था कि बादशाह को कजवीनी को इतिहास–लेखन के योग्य नहीं समझता थी। इसलिए कजवीनी का इतिहास–ग्रंथ शाहजहाँ के दसवें साल के वर्णन के पश्चात् रुक जाता है।

ग्रंथ की विषयवस्तु एवं योजना

कजवीनी द्वारा लिखित ग्रंथ पादशाहनामा था, जो नाम शाहजहाँ ने स्वयं प्रदान किया था। कजवीनी ने अपने ग्रंथ को तीन खंडों में विभाजित किया है। प्रथम खंड में शाहजहाँ के जन्म से लेकर उसके राज्यारोहण अर्थात् 1628 ई. तक का वर्णन अंकित है। दूसरे

खंड में उसके प्रथम दस वर्षों का विस्तार से वर्णन किया है एवं तीसरे खंड में बादशाह के समकालीन व्यक्तियों, संतों, फकीरों एवं विद्वानों की सूचनाओं का संकलन किया गया है।

कजवीनी ने अपने ग्रंथ में शाहजहाँ के शासन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन अंकित किया है, जिनमें मुख्य हैं : बुन्देलखंड में जुझारसिंह का विद्रोह, खानेजहाँ लोदी का विद्रोह, पुर्तगालियों के विरुद्ध सैनिक अभियान एवं सिक्खों के विद्रोह आदि घटनाएँ।

अनेक सरकारी इतिहास–लेखकों की स्वाभाविक कमजोरी अपने संरक्षक की अतिरंजित प्रशंसा एवं पक्षपातपूर्ण वर्णन की कजवीनी में भी उपस्थिति थी। इसका एक उदाहरण दिया जा सकता है। जहाँगीर के विरुद्ध शाहजहाँ के विद्रोह का मुख्य दोषी लेखक नूरजहाँ को ठहराता है। उसके अनुसार नूरजहाँ ने ऐसी परिस्थितियाँ तैयार कीं, जिनसे विवश होकर शाहजहाँ को अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह करना पड़ा। इसी तरह के पक्षपातपूर्ण वर्णन काफी देखने को मिल जाएंगे।

इन कमियों के बावजूद भी शाहजहाँ के प्रारम्भिक वर्षों के इतिहास के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण बात और कही जा सकती है कि उसने शाहजहाँ के आगे के इतिहासकारों के लिए इतिहास–लेखन का मार्ग निर्धारित कर दिया।

पादशाहनामा

इस पादशाहनामा का लेखक अब्दुलहमीद लाहौरी था। कजवीनी को 1638 ई. में इतिहास–लेखक के पद से अलग कर दिया गया। इसके पश्चात् शाहजहाँ ने नए व्यक्ति की तलाश प्रारम्भ की तब दरबार के लोगों ने अब्दुलहमीद लाहौरी की विद्वत्ता की प्रशंसा की। इस समय तक लाहौरी के गद्यलेखन एवं उसकी शैली ने प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया था। उसकी प्रशंसा बादशाह के कानों तक भी पहुँच चुकी थी। इस समय लाहौरी पटना में जीवन व्यतीत कर रहा था। शाहजहाँ ने बिहार के गवर्नर को आदेश भिजवाकर लाहौरी को मुगल दरबार में भेजने के लिए कहा।

लाहौरी की दरबारी इतिहासकार के रूप में नियुक्ति

लाहौरी के शाहजहाँ के दरबार में आगमन के पश्चात् दोनों में विचार–विमर्श के पश्चात् कजवीनी के स्थान पर उसकी दरबारी इतिहासकार के रूप में नियुक्ति हो गई। यह नियुक्ति सम्भवतः शाहजहाँ के शासन के बारहवें वर्ष के आस–पास हुई थी। उसे दो कार्य सुपुर्द किए गये। प्रथम, कजवीनी द्वारा लिखित ग्रंथ में सुधार एवं द्वितीय, बादशाह के शासन के अगले दस वर्ष अर्थात् ग्यारहवें से बीसवें साल तक इतिहास।

शाहजहाँ चाहता था कि उसके शासन का इतिहास अकबर के शासन के बारे में अबुलफजल द्वारा लिखित अकबरनामा के स्तर का हो। इसलिए वह स्वयं इतिहास–लेखन की प्रगति में विशेष रुचि लेता था। लाहौरी द्वारा लिखे जा रहे इतिहास की प्रत्येक स्तर पर जाँच–परख होती थी। बाद में यह उत्तरदायित्व सादुल्लाखाँ को सौंप दिया गया। अंत में स्वयं बादशाह की उपस्थिति में ग्रंथ का वाचन होता था जिसमें उसके सुधारों के संबंध में सुझाव सम्मिलित किए जाते थे। इससे ग्रंथ की प्रामाणिकता एवं इतिहास–लेखन में बादशाह की रुचि का अनुमान लगाया जा सकता है।

विषयवस्तु

लाहौरी ने बादशाह के आदेश के अनुसार उसके शासन के बीस सालों का इतिहास पूर्ण कर दिया था। उसके पश्चात् उसने अगले दस सालों के वर्णन पर भी 1650 ई. में कार्य प्रारंभ कर दिया था। उसने 1653 ई. तक के शाहजहाँ के शासन के छब्बीसवें साल तक का वर्णन लिख दिया था, लेकिन इसी बीच उसके निरंतर गिरते स्वास्थ्य के कारण उसे काम बंद करना पड़ा। अंत में सितंबर, 1654 ई. में लेखक के स्वर्गवास ने इतिहास–लेखन पर पूर्णविराम लगा दिया।

लाहौरी ने अपने इतिहास को दो भागों में विभाजित किया है। प्रत्येक भाग में दस वर्षों का वर्णन है। प्रथम खंड तैमूर के हालात से शुरू होता है। इस भाग में सामान्य घटनाओं के वर्णन के साथ–साथ शाहजादों एवं प्रमुख अमीरों के बारे में साक्ष्य उपलब्ध हैं। उसका वर्णन क्रमबद्ध है। अमीरों का वर्णन पदानुसार देता है अर्थात् सर्वप्रथम सर्वोच्च मनसबदार एवं उसके पश्चात् उससे छोटे अमीरों का। इसके अतिरिक्त समकालीन सूफी संतों, शेखों, कवियों एवं विद्वानों आदि का वर्णन अंकित है।

दूसरे खंड में शासन के ग्यारहवें से बीसवें साल तक का वर्णन समाहित है। इसमें बादशाह द्वारा प्रदान किए गए मनसबों, उपाधियों और खिलअतों का वर्णन उपलब्ध है। नए अमीरों की नियुक्तियों एवं पदोन्नतियों का विस्तार से वर्णन उपलब्ध है।

लाहौरी द्वारा लिखित ग्रंथ शाहजहाँ के राज्यकाल का एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथ है। उसका वर्णन तथ्यात्मक एवं प्रामाणिक है। ऐतिहासक घटनाओं का प्रस्तुतीकरण अत्यंत आकर्षक है। तिथियों के बारे में विशेष सतर्कता बरती गई है।

पादशाहनामा

मोहम्मद कासिम ने शाहजहाँ के इक्कीसवें वर्ष से तीसवें साल तक का वर्णन इस ग्रंथ में किया है। वह अब्दुल्ला हमीद लाहौरी का शिष्य था। वह मुगल सेवा में केन्द्रीय रिकार्ड ऑफिस में प्रारंभ में वाकिया–नवीस था। लाहौरी के स्वर्गवास के पश्चात् अपने गुरु के कार्य को पूरा करने के लिए उसकी नियुक्ति की गई। इतिहास–लेखन की प्रगति एवं उसकी जाँच का कार्य पूर्व की तरह जारी रहा। अप्रैल, 1656 ई. में सादुल्लाहखाँ के स्वर्गवास के पश्चात् यह उत्तरदायित्व मुल्ला काजिलखाँ का सुपुर्द कर दिया गया।

मुगल बादशाह शाहजहाँ अपने राज्य के अगले तीस वर्षों का इतिहास जल्दी से जल्दी पूर्ण देखना चाहता था, इसलिए उसने इसी के अनुसार निर्देश दे रखे थे। वारिस ने तीस साल के पूर्ण होने के नौ महीने के भीतर ग्रंथ–लेखन के कार्य को पूरा कर दिया।

वारिस ने ग्रंथ का लेखन कालक्रमानुसार किया है एवं बादशाह की प्रत्येक गतिविधि का विस्तार से अंकित किया है। जिनमें मुख्य सैनिक अभियान से लेकर प्रमुख दरगाहों को भेजे गए दान सम्मिलित हैं। मुख्य युद्धों का वर्णन एवं उनके परिणामों को अपने ग्रंथ में स्थान दिया है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसमें महत्त्वपूर्ण सरकारी दस्तावेजों का भी संकलन किया है।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि मोहम्मद वारिस द्वारा लिखित पादशाहनामा शाहजहाँ के दस सालों का एक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रंथ है।

औरंगजेबकालीन मुख्य फारसी स्रोत

आलमगीरनामा

सरकारी स्तर पर इतिहास लिखवाने की अपने पूर्वजों की परम्परा को औरंगजेब ने भी जारी रखा। उसके समय का इतिहासकार काज़ेम शीराजी था। उसने जो ग्रंथ लिखा, वह आलमगीरनामा के नाम से जाना गया। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रथकार ने शाहजहाँ के काल में लिखे गए इतिहास की पद्धति को ही स्वीकार किया। उसने भी इन इतिहास ग्रंथों की तरह मुगल बादशाह औरंगजेब के प्रथम दस वर्षों की घटनाओं को अपने ग्रंथ में स्थान दिया। शिराजी ने अपने ग्रन्थ में इस काल की समस्त महत्त्वपूर्ण घटनाओं को विस्तार से अपने ग्रंथ में स्थान दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व के मुगल बादशाहों के समान ही औरंगजेब इतिहास–लेखन की प्रगति की नियमित जानकारी लेता रहता था एवं जो लिखा गया है, उसको सुनता भी था। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि जब लिखे गए इतिहास को सुना गया तब कुछ घटनाओं के छूटने की जानकारी मिली। इस पर इतिहासकार को आदेश दिया गया हुई घटनाओं को ग्रंथ में जोड़ने का विशेष आदेश दिया गया। इस ग्रंथ–लेखक को अपने ग्रंथ के संबंध में स्वयं आवश्यक निर्णय लेने की स्वतंत्रता थी।

चूँकि शिराजी सरकारी इतिहासकार था, इसलिए उसको सम्पूर्ण सरकारी दस्तावेज आसानी से उपलब्ध थे। इसीलिए इस आधार पर उसके द्वारा अपने ग्रंथ–लेखन में उन दस्तावेजों के उपयोग का निष्कर्ष निकाला जा सकता है। इससे इस ग्रंथ की विश्वसनीयता बढ़ जाती है।

शिराजी ने यह ग्रंथ सरकारी आदेश पर लिखा था इसलिए अपने स्वामी औरंगजेब की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा भी स्वाभाविक है। अपने स्वामी की प्रशंसा प्राप्त करने के लिए ही उसे उसके भाइयों की बुराई करना भी उचित आवश्यक था। इसी क्रम में शाहजहाँ की आलोचना भी सम्मिलित है। यह आश्चर्यजनक है कि इतिहासकार शिराजी ने उन अमीरों की भी प्रशंसा की है जिन्होंने औरंगजेब का विरोध किया था।

शिराजी का ग्रंथ तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों की जानकारी के लिए भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें तत्कालीन समय की कीमतों एवं उनके बढ़ने के कारणों के बारे में जानकारी प्रदान की है। ग्रंथ में कृषि की स्थिति एवं उसकी बिगड़ती स्थिति का चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त साम्राज्य में आनेवाली बाढ़ों एवं उससे होनेवाली हानि का वर्णन भी इसमें उपलब्ध होता है। कहा जाता है कि औरंगजेब को ग्रंथ का यह वर्णन नितान्त नापसंद था। इससे वह सख्त नाराज भी था। इसका परिणाम शीघ्र ही सामने आया। उसने सरकारी स्तर पर इतिहास लिखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शिराजी का ग्रंथ आलमगीरनामा औरंगजेब के काल का महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्रोत है।

मुन्तखब-उल-लुबाब

औरंगजेबकालीन यह महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथ है। इस ग्रंथ का लेखक मोहम्मद हाशिम था, जो खाफीखाँ के नाम से तत्कालीन समय में प्रसिद्ध था। इसलिए उसका यह ग्रंथ भी तारीख–ए–खाफीखाँ के नाम से जाना जाता है। खाफीखाँ ने इस ग्रंथ की रचना गुप्त रूप से की थी। इसके बारे में किसी को पता नहीं था। इसका मुख्य कारण था औरंगजेब द्वारा इतिहास–लेखन पर पाबंदी। यह ग्रंथ उसने औरंगजेब के स्वर्गवास के पश्चात् मुहम्मदशाह के समय में उजागर किया था।

खाफीखाँ का परिवार एवं उसका जीवन

खाफीखाँ के पिता का नाम ख्वाजा मीर था। वह औरंगजेब के भाई मुरादबक्स की सेवा में था। मुगल राजसिंहासन के लिए उत्तराधिकार के युद्ध में मुरादबक्स की पराजय एवं उसके वध के पश्चात् ख्वाजा मीर ने औरंगजेब की सेवा स्वीकार कर ली। इसी दौर में खाफीखाँ का लालन–पालन हुआ। इस दौरान उसकी कई बार औरंगजेब से मुलाकात हुई। उसके व्यवहार एवं स्वामिभक्ति से बादशाह प्रभावित हुआ। निरन्तर सम्पर्क के कारण खाफीखाँ की प्रतिभा से भी औरंगजेब परिचित हुआ। उसकी इसी प्रतिभा के कारण बादशाह ने उसे कई महत्त्वपूर्ण कार्य सुपुर्द किए। 1694 ई. में गुजरात के सूबेदार ने खाफीखाँ को अंग्रेजों के पास अपने विशेष दूत के रूप में बम्बई भेजा था। उसकी योग्यता से प्रभावित होकर ही हैदराबाद के प्रथम निजामुल मुल्क ने अपना दीवान बनाया था। राजस्व विभाग में लंबी नियुक्ति के कारण वह राजस्व मामलों का विशेषज्ञ माना जाता था।

ग्रंथ की विषयवस्तु

इस ग्रंथ में निम्न विषयों पर सामग्री उपलब्ध होती है–

1. खाफीखाँ ने अपने ग्रंथ का प्रारंभ भारत में मुगल सत्ता की स्थापना से किया है। इसमें बाबर के भारत पर आक्रमण से मुगल बादशाह मुहम्मदशाह के शासनकाल, 1733 ई. तक का इतिहास उपलब्ध होता है। एक अर्थ में यह सम्पूर्ण मुगल साम्राज्य का इतिहास है।
2. बाबर से लेकर औरंगजेब तक के काल का इतिहास अति संक्षिप्त है। इससे यह लगता है कि ग्रंथ–लेखक स्वयं इस हिस्से के इतिहास में विशेष रुचि नहीं रखता था। उसने सरसरी तौर पर ही घटनाओं का वर्णन किया है।
3. औरंगजेब के प्रथम वर्ष से लेकर 1733 ई. तक का इतिहास अत्यंत प्रामाणिक एवं तथ्यात्मक है। दूसरे अर्थों में इस लंबे दौर का यह एक प्रामाणिक समकालीन दस्तावेज है। लेखक ने स्वयं इस दौर की ऐतिहासिक घटनाओं को देखा था एवं कुछ सीमा तक वह स्वयं भागीदार रहा था।
4. उसके ग्रंथ की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता राजस्व से संबंधित वर्णन है। चूँकि वह स्वयं राजस्व विभाग से जुड़ा रहा था इसलिए इस विभाग से संबंधित पक्षों की उसे गहन जानकारी थी। उसने अपने वर्णन में इजारेदारी व्यवस्था के बारे में विस्तार से लिखा है। उसने लिखा है कि औरंगजेब के काल में इस व्यवस्था में लगातार बढ़ोत्तरी होती है जिसके कृषि पर दूरगामी दुष्परिणाम हुए। इसके अतिरिक्त राजस्व अधिकारियों द्वारा किसानों के प्रति व्यवहार एवं लूट–खसोट का वर्णन भी उसने विस्तार से किया है। खाफीखाँ ने इन परिस्थितियों के कारण किसानों की निरंतर बिगड़ती आर्थिक स्थिति को प्रभावीरूप से उजागर किया है।
5. मनसबदारी प्रथा पर लेखक ने महत्त्वपूर्ण जानकारी संकलित की है। उसने इस व्यवस्था के जन्म से लेकर औरंगजेब के लंबे काल के दौरान हुए विकास एवं उसमें उत्पन्न हुई कमियों को अपने ग्रंथ में उजागर किया है।
6. दक्षिण के बारे में ग्रन्थ–लेखक ने महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान सामग्री का संकलन किया है।
7. उसने मुगल साम्राज्य के पतन के कारणों की व्याख्या की है। उसका यह दृष्टिकोण एक आधुनिक इतिहासकार की दृष्टि का परिचायक है।
8. मराठा नायक शिवाजी की प्रशंसा एवं आलोचना दोनों खाफीखाँ के ग्रन्थ में मिलती हैं। वह शिवाजी की इस बात के लिए प्रशंसा करता है कि उसने मस्जिदों, कुरान एवं नारी के अपमान करने की सख्त मनाही के आदेश दे रखे थे। लेकिन दूसरी

जगह उसके स्वर्गवास पर वह लिखता है कि, 'एक काफिर नरक में चला ग[illegible]

उपर्युक्त वर्णन से यह उजागर होता है कि खाफीखाँ द्वारा लिखित यह ग्रन्थ औरंगज[illegible] एवं उसके बाद के काल [illegible] ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक इतिहास है। इस ग्रन्थ की महत्ता इससे भी बढ़ जाती है कि यह [illegible] एक समकालीन इतिहासकार [illegible] है। इन सबके ऊपर इस ग्रन्थ की सबसे महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय विशेषता है इसका स्वतन्त्र लेखन। इस ग्रन्थ को सम्भवतः प्रथम स्वतन्त्र ग्रन्थ होने का गौरव प्रदान किया जा सकता है क्योंकि खाफीखाँ ने बिना किसी सरकारी आदेश के इस इतिहास की रचना की।

मासिर-ए-आलमगीरी

इस ग्रन्थ का लेखक साकी मुसतईदखाँ है। यह ग्रन्थ अन्य सरकारी ग्रन्थों के समान था जिसे औरंगजेब के आदेश पर लिखा गया था। इसका समापन मुगल बादशाह के जीवनकाल में नहीं हो पाया था बल्कि उसके स्वर्गवास के तीन वर्ष पश्चात 1710 ई. में पूर्ण हुआ।

इस ग्रन्थ–लेखन के मुख्यतः तीन स्रोत थे : प्रथम, सरकारी अभिलेखागार के दस्तावेज। द्वितीय, व्यक्तिगत जानकारी तृतीय शीराजी का आलमगीरनामा। इस सम्बन्ध में वह स्वयं लिखता है कि उसको चालीस साल तक बादशाह के पास रहने का अवसर मिला था इसलिए जो–कुछ लिखा है, उसे मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है। इस आधार पर यह औरंगजेब के काल के लिए अत्यन्त विश्वसनीय ग्रन्थ है।

विषयवस्तु

(1) औरंगजेब के शासन के प्रथम दस वर्षों का वर्णन शीराजी के आलमगीरनामा का संक्षिप्त रूप है।

(2) इस ग्रन्थ में ग्यारहवें साल से बीसवें साल तक की परिस्थितियों का वर्णन मिलता है।

(3) इसमें सतनामी विद्रोह के कारणों का विस्तार से वर्णन अंकित किया गया है।

(4) 1680 ई. के बाद के अमीरों की नियुक्तियाँ, प्रमोशन्स एवं स्थानान्तरण की विस्तृत चर्चा इसमें मिलती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मासिर–ए–आलमगीरी एक महत्त्वपूर्ण समकालीन ऐतिहासिक ग्रन्थ है।

फुतहात-ए-आलमगीरी

यह किसी गैरमुस्लिम द्वारा लिखित सम्भवतः प्रथम इतिहास है। इस ग्रन्थ का लेखक ईश्वरदास नागर था। ग्रन्थ की शैली से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि लेखक को फारसी का अच्छा ज्ञान था। उसके इस ग्रन्थ में निम्न सामग्री उपलब्ध होती है :

(1) इसमें औरंगजेब के चौंतीसवें साल तक का वर्णन मिलता है।

(2) औरंगजेब एवं राजपूतों के मध्य सम्बन्धों पर विस्तृत जानकारी मिलती है। राठौड़ों के साथ मुगल बादशाह के सम्बन्धों का विस्तार से वर्णन मिलता है।

(3) औरंगजेब की नीतियों के असफल होने की परिस्थितियों के बारे में लेखक ने अत्यन्त रोचक तरीके से वर्णन किया है।

(4) औरंगजेब के अन्तिम वर्षों में निरन्तर कमजोर होती राजनीतिक परिस्थितियों के बारे में लेखक ने विस्तार से उल्लेख किया है। इन परिस्थितियों की झलक तत्कालीन अमीरों के व्यवहार में देखने को मिलती है। सारे प्रभावशाली अमीर स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के स्वप्न देखने लगे थे – लेखक की यह भविष्यवाणी सत्य प्रमाणित हुई औरंगजेब के स्वर्गवास के पश्चात् शीघ्र ही नए राज्य स्थापित होने लगे।

(5) अमीरों की मनोभावनाओं का वर्णन लेखक ने अत्यन्त रोचक तरीके से प्रस्तुत किया है।

इस दृष्टि से यह औरंगजेब के काल का एक व्याख्यात्मक इतिहास है। मुगल बादशाह की नीतियों एवं उसके परिणामों को समझने के लिए यह एक मूल्यवान ग्रन्थ है।

नुस्ख-ए-दिलकुशा

इस ग्रन्थ का लेखक भी एक गैरमुस्लिम था, जिसका नाम भीमसेन सक्सेना कायस्थ था। वह मुगल सेवा में था। उसने मुगलों की ओर से मराठों के विरुद्ध सैनिक अभियानों में हिस्सा लिया था। मुगल सेवा से अलग होने के पश्चात् वह राव कल्याण सिंह की सेवा में चला गया था।

उसके ग्रन्थ में निम्न विषयों पर विस्तृत जानकारी उपलब्ध होती है :

(1) मराठों के विरुद्ध सैनिक अभियानों का वह हिस्सा रहा था इसलिए इसमें जो वर्णन मिलता है, वह प्रामाणिक है।

(2) औरंगजेब के काल की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के बारे में अत्यन्त विस्तार से वर्णन मिलता है।

(3) दक्षिण के सामाजिक रीति–रिवाजों एवं उनके खान–पान के बारे में अत्यन्त रोचक वर्णन उपलब्ध होता है।

भीमसेन के ग्रन्थ की भी यह विशेषता है कि उसने परिस्थितियों एवं घटनाओं के वर्णन के साथ अपना मत भी प्रकट किया है।

यूरोपियन स्रोत

मुगलकाल में यूरोप के कई देशों के यात्री भारत आए एवं उन्होंने यहाँ की यात्राएँ की। इन यात्रियों में इंग्लैण्ड, फ्रांस एवं हॉलैण्ड से आनेवाले अधिक थे। इनमें से कई अपने देश के शासकों के प्रतिनिधि के रूप में तो कई व्यापारिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु यहाँ आए थे। इनमें से अधिकांश ने भारत के बारे में अपने यात्रा–वृत्तांत लिखे थे जो मुगल साम्राज्य के इतिहास के अध्ययन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनके विवरण मुगल साम्राज्य की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के बारे में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध करवाते हैं। मुगल साम्राज्य के इतिहास के लिए इनके यात्रा–वृत्तांत पूरक सामग्री प्रदान करते हैं। कभी–कभी तो इनमें उपलब्ध सामग्री अत्यन्त नवीन होती है जो फारसी इतिहास–ग्रन्थों में नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण तथ्य और है जिसको आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता। वह तथ्य है कि ये यात्रा–विवरण मुगल साम्राज्य को यूरोपियन दृष्टिकोण से समझने का हमें अवसर प्रदान करते हैं। इस दृष्टिकोण से यूरोपियन स्रोत मुगल साम्राज्य के अध्ययन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

फादर एन्थोनी मोन्सरेट (1580-82)

यूरोपियन यात्रियों के भारत आने का क्रम मुगल बादशाह अकबर के समय से प्रारम्भ हो गया था। 1578 ई. में फादर मोन्सरेट का भारत आगमन हुआ था। उसका जन्म 1536 ई. में केटेलोनिया के विक डे ओजाना नामक स्थान पर हुआ था। उसने 1574 ई. में भारत के लिए अपनी यात्रा प्रारंभ की थी। वह पुर्तगाली था।

फादर का जीवन : सर्वप्रथम वह आगरा पहुँचा एवं मुगल बादशाह अकबर से भेंट की। सौभाग्य से शीघ्र ही उसे मुगल दरबार में सेवा का अवसर मिल गया। बादशाह ने राजकुमार मुराद के शिक्षक के रूप में नियुक्ति कर दी। बाद में उसको काबुल अभियान में अकबर के साथ जाने का अवसर मिला। इसके पश्चात् वह लाहौर लौट आया। 1582 ई. में अकबर के राजदूत के साथ गोवा जाने का अवसर मिला। 1589 ई. में उसे अबीसीनिया जाने के आदेश मिले। मार्ग में अरबों एवं तुर्कों की कैद में रहा। थोड़े समय पश्चात् एक भारतीय व्यापारी की मध्यस्थता से उसे मुक्ति मिली। तत्पश्चात् वह गोवा लौट आया। इसके पश्चात् फादर की नियुक्ति सालसेट नामक स्थान पर हुई [illegible] को उसका स्वर्गवास हो गया।

विषयवस्तु : फादर मोन्सरेट ने अकबर के समय के बारे में महत्त्वपूर्ण घटनाओं, शहरों एवं स्वयं बादशाह के बारे में अत्यन्त रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है। उसने निम्न विषयों पर सामग्री प्रस्तुत की है :

एक : अकबर के पास रहने का फादर को बहुत समय मिला था इसलिए बादशाह को समीप से देखने का एवं समझने का अवसर मिला था। मोन्सरेट ने अकबर के चरित्र एवं व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को विस्तार से उजागर किया है। यात्रा–विवरण में अकबर के व्यक्तित्व एवं वेशभूषा का चित्रण प्रस्तुत किया है।

दो : अकबर की धार्मिक मान्यताओं, असहायों एवं राजघराने के राजकुमारों एवं राजकुमारियों की शिक्षा की व्यवस्था का विशद् वर्णन प्रस्तुत किया है।

तीन : बादशाह की पक्षियों की रुचि के बारे में फादर ने लिखा है कि 'वह अपने महलों में कबूतर रखता था। जिनकी देखभाल हिजड़ों एवं महिला सेविकाओं द्वारा की जाती थी।'

चार : उसने जिन शहरों की यात्राएँ की थीं उनके बारे में अत्यंत मूल्यवान सामग्री का संकलन किया है। उसने जिन शहरों का चित्रण प्रस्तुत किया है, वे हैं : सूरत, मांडू, सिरोज, नरहर, ग्वालियर, देहली, सोनीपत, सरहिन्द एवं लाहौर। उदाहरण के लिए लाहौर के बारे में उसका वर्णन दृष्टव्य है। वह लिखता है – 'दौलत, जनसंख्या एवं सीमा के मामले में एशिया या यूरोप में इस शहर की तुलना में कोई दूसरा नहीं है। संसार के सारे हिस्सों से व्यापारी यहाँ एकत्रित होते हैं.....'

पांच : मुगल सेना एवं कैम्प के बारे में अत्यंत रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है। सेना के लिए खादय सामग्री आस–पास के क्षेत्रों से आती थी। सेना में सैनिकों के अतिरिक्त सफाई कर्मचारी एवं सुरंग खोदनेवाले भी सम्मिलित होते थे।

जिस तरह सैनिक अभियान के समय मार्गों को समतल करनेवाले कर्मचारी होते थे, ठीक उसी प्रकार नदी पार करवाने के लिए नावों का पुल बनाकर सेना को पार करवाने की जिम्मेदारी भी एक वर्ग की होती थी। इन पुलों पर से घुड़सवार दस्ते, पैदल सैनिक समूह एवं माल ढोनेवाले क्रमशः पार होते थे। इस वर्णन से सैनिक अभियान के समय की व्यवस्था का पता चलता है।

छह : मोन्सरेट को काबुल सैनिक अभियान के समय अकबर के साथ जाने का अवसर मिला था। इसलिए उसने इस दौर का पूरा चित्रण प्रस्तुत किया है। इस सैनिक अभियान में अस्वस्थता के कारण से अकबर को जलालाबाद से ही वापिस लाहौर लौटना पड़ा। मुगल सेना ने इस स्थान पर डेरा डाला था। मोन्सरेट को सैनिक डेरे की व्यवस्था को करीब से देखने का अवसर मिला था। इसका विशद् वर्णन उसने प्रस्तुत किया है। खेमे के दाईं और बाईं ओर बड़े एवं छोटे बेटे एवं अमीरों के खेम रहते हैं। दूसरी पंक्ति में अमीरों के डेरे हैं। तीसरी पंक्ति में साधारण सैनिकों की व्यवस्था रहती थी। प्रत्येक खेमे का रसोई घर एवं बाजार अलग–अलग होते थे। बाजारों को उर्दू कहा जाता था।

यह, फादर ने उस समय का वर्णन प्रस्तुत किया है जब बादशाह का काफिला यात्रा पर होता था। उस समय शाही हरम की बेगमों की व्यवस्था के बारे में लिखा है। बेगमें हथनियों पर ढके हुए सुसज्जित हौदे में सवार होती थी। उनकी सुरक्षा के लिए 500 बुजुर्ग व्यक्ति साथ में चलते थे, जो देखने में सम्भ्रात एवं सम्माननीय लगते थे।

सात : शाही यात्रा की दूरी को, विशेषरूप से नियुक्त अधिकारियों द्वारा मापने के बारे में वर्णन अंकित है। माप के लिए 60 फिट लंबी छड़ी काम में ली जाती थी। इस छह फुट लंबी छड़ी की दो सौ गुना लंबाई एक कुरोह या कोस होती थी जो कि तीन मील के बराबर होता था।

आठ : इसके अतिरिक्त मोन्सरेट दरबार के बारे में विवरण प्रस्तुत करता है। दरबार में दैनिक रिकार्ड रखने की प्रथा थी जिसके लिए, विशेषतः अकबर ने, चार–पांच सचिव नियुक्त कर रखे थे। दरबार में उठाए गए सभी कदमों, सभी कार्यकलापों एवं बादशाह द्वारा जारी किए गए सभी आदेशों का वे अधिकारी नियमित रिकार्ड रखते थे।

नौ : घोड़ों के व्यापार पर प्रतिबंध के बारे में फादर लिखता है, बादशाह या उसके प्रतिनिधि की इजाजत के बिना घोड़ा कहीं आ या नहीं जा सकता था। बादशाह स्वयं अच्छे घोड़ों को खरीद लेता था और उनका भुगतान वहीं कर दिया जाता था।

दस : अकबर की न्याय–व्यवस्था के बारे में मोन्सरेट ने वर्णन किया है। कानून तोड़ने के मामलों में अकबर कड़ाई से दण्ड देता वह सही एवं न्याय का बहुत सम्मान करता था।

ग्यारह : अपराधों के बारे में अकबर के विचारों का वर्णन विदेशी यात्री के वर्णन में मिलता है। अलग–अलग प्रकार के अपराधों के लिए अलग–अलग प्रकार के दण्डों की व्यवस्था थी। छोटे से लेकर बड़े-से-बड़े व्यक्ति को उसके अपराध की सजा अवश्य मिलती थी। इसके अतिरिक्त दण्ड के प्रकारों के बारे में भी विस्तार से वर्णन मिलता है।

इसके अतिरिक्त उसने डाक व्यवस्था, जल घड़ी एवं घड़ियाल के बारे में भी काफी रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है।

बारह : फादर ने शाही दरबार के अतिरिक्त जनसामान्य के बारे में भी महत्त्वपूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया है। वह लिखता है कि सामान्यतः लोग हथियारों से लैस होते थे। गक्खर लोग मुसलमान होते थे। ये यात्रियों को लूट लेते थे।

तेरह : उसने जलालाबाद के अफगानों एवं सूरत के पारसियों के बारे में लिखा है। अफगान कृषि पर निर्भर थे। उनके परिश्रमी होने की बातों का वर्णन किया है। सूरत के पारसियों की वेशभूषा एवं देखने में यहूदियों के समान लगते हैं। वे अत्यंत परिश्रमी होते हैं। उनकी आदतों एवं रीति–रिवाजों के बारे में भी विस्तार से वर्णन किया गया है।

इसके अतिरिक्त फादर मोन्सरेट ने धार्मिक विश्वासों एवं अन्धविश्वासों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। मथुरा स्थित मंदिर एवं यमुना में स्नान करने के संस्कार ग्वालियर के शेख कपूर एवं बालनाथी सम्प्रदाय के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध होती है। भारत में सतीप्रथा के बारे में मोन्सरेट ने रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है। फादर ने रथसप्तमी, शहर के मुहर्रम एवं होली के त्यौहार के बारे में भी लिखा है।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि फादर मोन्सरेट ने अकबर के समय की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के बारे में विस्तार से लिखा है जो अत्यंत उपयोगी है।

राल्फ फिच : (1588-91)

वह प्रथम अंग्रेज यात्री था जो भारत की यात्रा पर आया था। उसने 1583 ई. में इंग्लैण्ड से यात्रा प्रारंभ की। बसरा पहुँचने के पश्चात् हरमुज़ के लिए रवाना हुआ, जहाँ पुर्तगालियों ने उसको अन्य दो साथियों के साथ गिरफ्तार कर लिया। उसको गोवा में रखा गया, जहाँ से पुर्तगालियों की सीमा के बाहर भागकर गोलकुंडा आ गया। वहाँ से मुगलों की सीमा में पहुँच गया। वहाँ से वह फतेहपुर सीकरी पहुँचा, जहाँ से उसने इलाहाबाद, पटना एवं हुगली की यात्राएँ कीं। इसी क्रम में वह कूचबिहार एवं चटगाँव गया। वहाँ से कोचिन गया एवं वहाँ से गोआ के मार्ग से चौल पहुँच गया। वहाँ से वह हुरमुज की ओर चला गया एवं अप्रैल, 1591 ई. में वह वापिस इंग्लैण्ड लौट गया।

उसने 1588 से 1591 ई. के मध्य का समय भारत में व्यतीत किया एवं इस देश के विभिन्न क्षेत्रों एवं शहरों की यात्राएँ कीं। उसने शहरों, राजा लोगों की वेशभूषा एवं उनके धार्मिक विश्वासों एवं अन्धविश्वासों के बारे में महत्त्वपूर्ण वर्णन छोड़े हैं। उसके वर्णन से अकबर के समय की सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के बारे में विस्तृत जानकारी मिलती है। उसने निम्न विषयों पर अपनी कलम चलाई है।

शहरों के बारे में जानकारी : राल्फ फिच ने जिन शहरों की यात्राएँ कीं, उनके बारे में महत्त्वपूर्ण विवरण छोड़ा है। उसने गोआ, दीऊ, खंभात, चौल, बुरहानपुर, आगरा, फतहपुर सीकरी, प्रयाग, बनारस एवं पटना के बारे में अपने यात्रा विवरण में वर्णन किया है।

गोआ एवं दीऊ पुर्तगालियों के आधिपत्य में थे। उसने इन शहरों के बारे में इतना लिखा है कि गोवा में मालवाहक जहाजों के मालिकों को केवल घोड़ों पर कर देना होता था। लेकिन अगर जहाज पर घोड़े नहीं होते थे तो 8 प्रतिशत कस्टम ड्यूटी देनी होती थी। इसी तरह दीऊ के बन्दरगाह तक आनेवालों के पास पुर्तगाल का पारपत्र आवश्यक था।

खंभात के बारे में फिच लिखता है कि सूबा गुजरात का यह मुख्य शहर था। यह बनावट में सुन्दर, बड़ा एवं घनी आबादी वाला था। इस शहर में चिड़ियों, कुत्तों एवं बिल्लियों के बहुत–से अस्पताल हैं। यहाँ की स्त्रियों को हाथीदांत के जेवरात पहनने का बहुत शौक है।

चौल के बारे में फिच लिखता है कि यह व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र है, जहाँ दवाइयों, मसालों, रेशम, हाथीदांत एवं चीन के बने माल बड़ी संख्या में आते हैं। बुरहानपुर शहर को सूती कपड़े के उत्पादन का बड़ा केन्द्र मानता है जहाँ सूती गर्म कपड़ों की छपाई भी होती है।

आगरा एवं फतहपुर सीकरी के बारे में उसका वर्णन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वह लिखता है कि आगरा एक बड़ा, सुन्दर एवं घनी आबादी वाला शहर है। फतेहपुर सीकरी को आगरा से बड़ा बताता है। दोनों शहरों को क्षेत्रफल एवं जनसंख्या की दृष्टि से लन्दन से बड़ा दर्शाता है।

बनारस नदी के किनारे बसा शहर है। यहाँ असंख्य मंदिर हैं, जिनमें पत्थर एवं लकड़ी की मूर्तियाँ हैं। यहाँ बड़ी संख्या में तीर्थयात्री आते हैं। यह सूती वस्त्र उद्योग के निर्माण का केन्द्र है।

पटना एक विशाल शहर है, जहाँ की सड़कें चौड़ी हैं। यहाँ रुई, बंगाल चीनी एवं अफीम के बाजार हैं। पटना के समीप जमीन से सोना निकालने की बात भी वह करता है। सोना निकालने की पूरी प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन उसके वर्णन में मिलता है।

जनसामान्य की वेशभूषा एवं रीति-रिवाज : फिच ने अपनी यात्रा के दौरान विभिन्न क्षेत्रों के लोगों को गौर से देखा। उनकी वेशभूषा एवं उनकी शारीरिक बनावट के बारे में रोचक वर्णन किया है। वह गोलकुंडा के लोगों के बारे में लिखता है कि यहाँ की स्त्रियाँ एवं मर्द केवल एक वस्त्र पहनते हैं जो वे शरीर के मध्य में बाँधते हैं। गंगा घाटी के लोग भी इसी तरह के कपड़े पहनते हैं। उनके दाढी बनी हुई होती है जबकि सिर काफी लंबा होता है। पटना के लोग लंबे और पतले होते हैं। बनारस की स्त्रियाँ अपनी भुजाओं एवं पैरों को चांदी एवं तांबे के छल्लों से सजाती हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ की स्त्रियाँ बिन्दिया लगाती एवं मांग भरती हैं।

बालविवाह एवं वैवाहिक संस्कार : वह लिखता है कि बालविवाह एक सामान्य बात थी। वह बुरहानपुर की एक ऐसी शादी का उदाहरण देता है जिसमें लड़के की उम्र नौ वर्ष एवं लड़की की छह वर्ष थी। वह लिखता है कि इन शादियों के पीछे लोगों की मान्यता है कि उनके जीवनकाल में उनके बच्चों के विवाह हो जावें।

फिच बनारस की एक शादी के बारे में विस्तार से वर्णन करता है।

धार्मिक विश्वास : फिच खंभात के हिन्दुओं द्वारा गाय की पूजा का वर्णन करता है। ब्राह्मणों के नदी में स्नान करने का भी विस्तार से अंकित किया गया है। इसी प्रकार मृतक के दाह संस्कार की पद्धति एवं गंभीर रोगी व्यक्ति को उपचार के लिए नदी में रखने एवं ठीक न होने पर नदी में बहा देने आदि प्रथाओं का वर्णन भी इस विदेशी यात्री ने अपने ग्रंथ में किया है।

सतीप्रथा : गुजरात में सतीप्रथा के बारे में फिच लिखता है कि वह विधवा स्त्री की इच्छा पर निर्भर करता है। अगर वह अपने मृत पति के साथ सती होने से इंकार कर देती है तो उसके संग जोर-जबरदस्ती नहीं की जाती। इस स्थिति में उसके सिर को मुंडन कर दिया जाता था।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि फिच का यात्रा विवरण अकबर के काल की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के अध्ययन के लिए एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

विलियम हाकिन्स (1608-1713 ई.)

विलियम हाकिन्स एक अंग्रेज व्यापारी था एवं ईस्ट इंडिया कम्पनी में सेवारत था। यह अंग्रेज यात्री सूरत के बंदरगाह पर 24 अगस्त 1608 ई. को पहुँचा था। इस सूबे में पुर्तगालियों के प्रभाव के कारण इसे काफी मुश्किलों का सामना करना पड़ा। मुगल सूबेदार भी पुर्तगालियों का हिमायती था। हाकिन्स को मार्ग से हटाने के बहुत प्रयास किए गए लेकिन सौभाग्य से वे सब असफल रहे। अंत में फरवरी, 1609 ई. में वहाँ से बचकर वह आगरा पहुँच गया। वहाँ उसकी मुगल बादशाह जहाँगीर से मुलाकात हुई। उसके द्वारा तुर्की भाषा में बातचीत ने जहाँगीर को प्रभावित कर दिया।

जहाँगीर ने हाकिन्स को मुगल दरबार में रेजीडेन्ट राजदूत के रूप में रहने के लिए राजी कर लिया। उसको 400 सवारों का मनसब दे दिया गया एवं उसने एक आरमीनियन लड़की से शादी कर ली। वह वहीं आगरा में मुगल शैली से जीवन-यापन करने लगा। उसका रुतबा मुगल दरबार में काफी था, लेकिन बाद में उसके अशिष्ट व्यवहार ने जहाँगीर को नाराज कर दिया एवं उसे आगरा से निकाल दिया गया। बाद में उसे देश छोड़ने के लिए सरकार से आदेश दे दिया गया। उसने नवम्बर, 1611 ई. में सूरत जाने के लिए आगरा छोड़ दिया। फरवरी, 1612 में वह एक जहाज के द्वारा अपने देश के लिए रवाना हो गया, लेकिन दुर्भाग्य से उसी ही उसकी मृत्यु हो गई।

हाकिन्स मुगल बादशाह के काफी करीब था। वह जहाँगीर की सभी शराब की पार्टियों में सम्मिलित होता था। वह मुगल दरबार का भी था। मुगल बादशाह के समीप होने के कारण उसके चरित्र एवं व्यक्तित्व को समझने का मौका मिला था। इसलिए जहाँगीर के बारे में सारा वर्णन अत्यंत विश्वसनीय है। इसी प्रकार प्रशासन एवं अमीरों के जीवन के बारे में भी उसकी बातें तथ्यात्मक रूप से काफी सही प्रतीत होती हैं। उसने मुख्यतः निम्न विषयों पर अपना विवरण प्रस्तुत किया है –

बादशाह के शौक एवं संपत्ति : हाकिन्स का विवरण अधिकांशतः बादशाह जहाँगीर के जेवरातों के शौक तक ही सीमित है। उसने बादशाह के पहनावे का जिक्र तक नहीं किया है। उसके अनुसार जहाँगीर ने दिनों के हिसाब से जेवरात तय कर रखे थे जो सभी अत्यंत कीमती हुआ करते थे। एक बार जो जेवरात पहन लिए जाते थे, वे दुबारा फिर कभी नहीं पहने जाते थे। जहाँगीर को हीरे-मोतियों की जड़ी हुई गले की चैन पहनने का शौक था। उसकी पगड़ी भी हीरा एवं अन्य बहुमूल्य पत्थरों से सुशोभित होती थी।

इसी क्रम में वह बादशाह की सम्पत्ति का विवरण देता है। उसने वस्तुओं के नाम एवं उनकी संख्या अंकित की है जिनसे बहुमूल्य वस्तुओं के प्रति जहाँगीर के लगाव का पता चलता है। इस बहुमूल्य संग्रह में रत्नजड़ित जमधर तलवार, हीरे-जवाहरात, शराब के बर्तन, हौदे-काठियाँ एवं काँच के बर्तनों को छोड़कर सभी रत्न एवं स्वर्णजड़ित थी।

हाकिन्स के वर्णन से जहाँगीर से उसकी समीपता का पता चलता है।

बदशाह के दैनिक कार्यक्रम : हाकिन्स ने बादशाह के दैनिक कार्यक्रमों के बारे में लिखा है, जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वह लिखता है कि जहाँगीर सुबह जल्दी उठकर आगरा किले के एक कमरे में नमाज पढ़ता है। उसके पश्चात् वह झरोखा दर्शन देता है। इसके पश्चात् वह दो घंटे आराम करता है। खाना खाता है एवं बाकी समय हरम में अपनी बेगमों के संग व्यतीत करता है।

दोपहर के समय वह तीन बजे तक लोगों को दर्शन देता है। इसी दौरान वह सभी खेलों एवं जानवरों के मध्य युद्ध को देखता है।

तीन बजे तक अमीरों का जमाव शुरू हो जाता है एवं उनसे वार्तालाप करता है। दो घंटे तक प्रतिदिन सबकी बातें सुनी जाती हैं। उसके पश्चात् वह नमाज के लिए चला जाता है। हाकिन्स लिखता है कि नमाज के पश्चात् खाने के अतिरिक्त चुने हुए अमीरों के साथ शराब एवं अफीम का दौर चलता है। नशे में धुत होने के पश्चात् वह सो जाता है लेकिन रात को खाना खाने की स्थिति में वह नहीं रहता है। तब जबरदस्ती उसको खाना खिलाया जाता है।

इस वर्णन से यह उजागर होता है कि संभवतः हाकिन्स शराब की पार्टियों का संगी था, इसलिए इतने विस्तार से छोटी-से-छोटी बात का जिक्र करता है।

जहाँगीर को जानवरों का शौक : हाकिन्स जहाँगीर के जेवरात के शौक के बारे में ही नहीं लिखता, बल्कि उसके जानवर रखने के शौक के बारे में भी विस्तार से वर्णन करता है। उसे विभिन्न नस्ल के घोड़ों, हाथियों, ऊंटों एवं बैलों से लेकर बाज, कबूतर एवं कोयल रखने का भी बेहद शौक था। उसके संग्रह में 12,000 घोड़े, 12,000 हाथी, 2,000 ऊंट, 10,000 कबूतर एवं 4,000 कोयल थीं।

बादशाह का जन्मदिन एवं हरम पर खर्च : हाकिन्स ने जहाँगीर के जन्मदिन के उत्सवों का विस्तार से वर्णन किया है। पूरे राज्य में इसे एक उत्सव के रूप में मनाया जाता था। इसके अतिरिक्त हरम पर किए जानेवाले खर्चे का भी वर्णन किया है, जो प्रतिदिन 30,000 रुपये होता था।

इसके अतिरिक्त इस विदेशी यात्री ने दरबार में अमीरों के खड़े होने की व्यवस्था का विस्तार से वर्णन किया है। उसने सम्पत्ति–जब्ती के कानून एवं नियमित रिकार्ड लिखने की व्यवस्था के बारे में भी संकेत किया है। किसी अमीर की मृत्यु पर उसकी सारी सम्पत्ति साम्राज्य के खजाने में चली जाती थी। लेकिन भूमि का बँटवारा अमीर के बेटों में कर दिया जाता था। सतीप्रथा पर जहाँगीर के अंकुश की भी जानकारी मिलती है। मनसबदारों की तनख्वाह एवं अमीरों को दिए जानेवाले दंड के बारे में भी वह नहीं भूलता है। हाकिन्स ने लिखा है कि चांदी के मामले में भारत समृद्धिशाली है। इसका कारण वह बताता है कि सभी देश यहाँ पर बेचने हेतु चांदी लाते हैं। यहाँ के लोग चांदी बाहर नहीं ले जाते, बल्कि यहीं संचय कर लेते हैं।

हाकिन्स का यात्रा–विवरण जहाँगीर के पूर्व के वर्षों के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध करवाता है। उसने ऐसे कई विषयों पर लिखा है जिन पर सामान्यतः दरबारी इतिहासों में सामग्री उपलब्ध नहीं होती। इस दृष्टि से यह अत्यंत मूल्यवान स्रोत है।

विलियम फिंच (1608-11 ई.)

यह अंग्रेज यात्री हाकिन्स के साथ ही सूरत बंदरगाह पर अगस्त, 1608 ई. में पहुँचा था। बाद में अपने व्यापारी मुखिया द्वारा आगरा बुलाने पर वह वहाँ अप्रैल, 1610 ई. में पहुँच गया। वह वहाँ से नील खरीदने हेतु बयाना गया एवं वहाँ से लौट कर इसी नील को बेचने हेतु लाहौर गया। बाद में हाकिन्स से उसकी अनबन हो गई। हाकिन्स उसे गिरफ्तार करवाना चाहता था, लेकिन उसे पता चलने पर वह नाराज हो गया और थलमार्ग से इंग्लैण्ड के लिए रवाना हो गया। रास्ते में बगदाद में वह बीमार पड़ गया और स्वर्गवासी हो गया।

उसने अपने पीछे यात्रा–विवरण छोड़ा है जो 'लार्ड जनरल' के नाम से जाना जाता है जिसे पर्क्स ने संपादित किया है। संपादक के अनुसार साररूप में उसने महत्त्वपूर्ण सामग्री का संकलन किया है।

वह निम्न बिन्दुओं पर सामग्री उपलब्ध करवाता है :

व्यापारिक मार्ग : फिंच ने अपने यात्रा विवरण में तीन व्यापारिक मार्गों के बारे में लिखा है, जो इस प्रकार हैं : सूरत–आगरा (वाया बुरहानपुर), आगरा–अहमदाबाद एवं लाहौर व काबुल। इसमें उसने मुख्यतः इन मार्गों में पड़ने वाले स्थानों के नाम अंकित किए हैं।

शहरों के बारे में वर्णन : फिंच द्वारा शहरों के बारे में छोड़ा गया विवरण अत्यंत उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है। जिन शहरों के बारे में उससे जानकारी मिलती है, वे हैं सूरत, बुहरानपुर, मांडूगढ़, उज्जैन, सारंगपुर, नरवर, ग्वालियर, फतेहपुर सीकरी, आगरा एवं लाहौर। वह फतेहपुर सीकरी के उजड़ने की कहानी कहता है। यहाँ के सारे महलात खाली पड़े हैं। आगरा के आकार एवं घनी

आबादी का वह जिक्र करता है। साथ ही उसकी गन्दी गलियों के बारे में भी लिखता है।

लाहौर को वह पूर्व के महानतम शहरों में गिनता है। शहर के अधिकांश लोग बनिया एवं व्यवसायकार हैं। इसके अतिरिक्त उसने [illegible] सूचनाओं का संकलन किया है, जो इस शहर की विशेषताओं को दर्शाती हैं।

इसके अतिरिक्त वह बादशाह की दिनचर्या, हुमायूँ और अकबर के मकबरों का वर्णन करता है। वह लिखता है कि जहाँगीर ने अकबर की विधवा बेगमों के रहने की व्यवस्था मकबरे के भीतर में ही कर रखी थी। उनके निर्वाह के लिए उसने खर्चे की पूर्ण व्यवस्था कर दी थी।

बागों के बारे में वर्णन : फिंच ने अपने वर्णन में बादशाह एवं अमीरों द्वारा बनाए गए बागों एवं उनकी व्यवस्था के बारे में लिखा है। सरहिन्द में बादशाह का बाग था, जिसमें एक तालाब था, जहाँ से पानी निकाल कर बाग में पहुँचाया जाता था। इसमें सभी प्रकार के फल एवं फूल उगाए जाते थे। इस बाग के आकार के बारे में फिंच अपने वृत्तान्त में विस्तार से लिखता है। इसी तरह खान–ए–खाना के बुहरानपुर में स्थित बाग एवं आसफखां के लाहौर स्थित बाग के बारे में वह दिलचस्प जानकारी उपलब्ध करवाता है।

इसके अतिरिक्त मलिक अंबर, राजा रामदास कछवाह द्वारा जहाँगीर की जान बचाने की घटना, खुर्रम को अंधा करने एवं अनारकली के बारे में फिंच लिखता है। इस अंग्रेज यात्री का वर्णन काफी अर्थों में हाकिन्स की सामग्री का पूरक है। उसके द्वारा छोड़ा गया यात्रा–विवरण जहाँगीरकालीन इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण है।

सर थामस रो (1615-19 ई.)

मुगल बादशाह जहाँगीर के समय में दिसम्बर, 1615 ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रतिनिधि के रूप में यह भारत आया। कम्पनी ने उसे मुगल राजदरबार में राजदूत के रूप में भेजा था। इंग्लैण्ड के सम्राट् का पहचानपत्र लेकर वह 23 दिसम्बर, 1615 ई. को बादशाह से भेंट करने हेतु अजमेर पहुँचा एवं 10 जनवरी, 1616 ई. में जहाँगीर के दरबार में हाजिर होकर अपना परिचयपत्र प्रस्तुत किया। इस समय से लेकर 17 फरवरी, 1619 ई. में भारत छोड़ने तक वह जहाँगीर के साथ–साथ कई स्थानों का भ्रमण करता रहा, जिनमें मुख्य थे – अजमेर, मांडू, अहमदाबाद एवं आगरा। इसके अतिरिक्त वह बुरहानपुर भी गया था।

थामस रो ने इंग्लैण्ड पहुँचने के पश्चात् अपने यात्रा–विवरण को विस्तार से लिखा था। चूंकि वह जहाँगीर के साथ–साथ रहा था इसलिए उसे मुगल बादशाह एवं अमीरों की गतिविधियों को समीप से देखने का अवसर मिला था। इसलिए उसका यात्रा–विवरण विश्वास करने योग्य है। उसने निम्न बिन्दुओं पर सामग्री उपलब्ध करवाई है :

बादशाह की अभिरुचियाँ : थामस को बादशाह के इर्द–गिर्द रहने का बहुत अवसर मिलता था। इसलिए वह उसकी [illegible] के बारे में वर्णन करता है। वह लिखता है कि बादशाह को अंग्रेजी बग्गी (कोच) एवं तलवार का अत्यन्त शाक था। वह अंग्रेजों की तरह गले में स्कार्फ एवं तलवार बाँधकर कार्यक्रमों में हिस्सा लेता था।

शराब का शौक : जहाँगीर को शराब का बेहद शौक था। अपने जन्मदिन के उत्सव पर वह शराब की महफिलें आयोजित करता था। ऐसी ही एक महफिल में थामस रो को भी आमंत्रित किया गया था। उसे रत्नजड़ित सोने के प्याले में शराब दी गई। इसके बाद में उसे ही भेंट कर दिया गया।

थामस रो बदशाह के शिकार के शौक का जिक्र करता है। जहाँगीर को शिकार में मारे गए जानवरों का अमीरों के मध्य वितरित करने की विशेष आदत थी। अंग्रेज यात्री लिखता है कि इस प्रकार भेजे गए जानवरों के लिए बादशाह की विशेष कृपा समझी जाती थी। बादशाह ने कई बार ऐसा विशेष प्रेम अंग्रेज यात्री के लिए दर्शाया था।

झरोखा दर्शन : अंग्रेज यात्री का झरोखा दर्शन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह प्रथम यात्री है जो लिखता है कि झरोखा दर्शन के समय बेगमें भी बादशाह के साथ रहती थीं। उसने स्वयं दो बेगमों को जालियों के पीछे देखा था।

जहाँगीर के धार्मिक विचार : रो के वर्णन से जहाँगीर के धार्मिक विचारों का पता चलता है। वह लिखता है कि बादशाह का लालन–पालन बिना किसी धार्मिक वातावरण में हुआ था। वह तो जहाँगीर को अनीश्वरवादी तक लिखता है। रो का जहाँगीर के बारे में यह कथन अत्यन्त ऐतिहासिक महत्त्व का है कि वह सभी धर्मों से संतुष्ट था। वास्तव में यह मुगल बादशाह के धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण का परिचायक है।

साधुओं के प्रति जहाँगीर के नम्र व्यवहार को भी रो उजागर करता है। वह जयपुर के समीप स्थित टोडा नामक स्थान की एक घटना का वर्णन करता है। एक साधु के साथ बादशाह की मुलाकात का वर्णन रो ने अपनी यात्रा में किया है। उस साधु के पास जमीन पर बैठकर पूर्ण नम्रता के साथ जहाँगीर ने न केवल बातचीत की, बल्कि उसे गले लगाकर, उसे पिता कहकर सम्बोधित किया। यह उसकी नम्रता एवं साधु के प्रति सम्मान को दर्शाता है। इससे यह भी उजागर होता है कि बादशाह अन्य धर्मों के साधु–संतों के प्रति विनम्र था।

मुगल दरबार की व्यवस्था : थामस रो ने जहाँगीर के समय में दरबार में खड़े होने की व्यवस्था के बारे में पूरा वर्णन प्रस्तुत किया है। वह लिखता है कि सारे दरबार को तीन भागों में विभाजित किया जाता था। प्रत्येक के चारों ओर एक रैलिंग होती थी। दरबार बहुत बड़ा था जिसमें सभी तरह के लोग होते थे, जिनमें राजदूत, बड़े लोग एवं अजनबी लोग जो भीतरी रैलिंग पर खड़े होते थे। छोटे लोग, जिनमें अमीर थे, वे सब तीसरी श्रेणी में खड़े होते थे।

इसके अतिरिक्त रो ने जहाँगीर के उत्सवों एवं नौरोज उत्सव के आयोजनों का वर्णन विस्तार से किया है।

उपरोक्त विषयों के अलावा रो ने बादशाह को अनिवार्य रूप से दी जाने वाली भेंटों, शराबी अमीरों के मंत्रणा कक्ष (गुसलखाना) में प्रवेश पर प्रतिबंध, राजदूतों के वेशभूषा पहनने के नियम, बादशाह द्वारा बख्शीश दिए जाने की प्रथा एवं व्यापारियों द्वारा माल को सर्वप्रथम बादशाह के सम्मुख प्रस्तुत करने की परम्परा के बारे में वर्णन प्रस्तुत किया गया है। अंग्रेज यात्री ने जहाँगीर के समय में अमीर की मृत्यु के पश्चात् सम्पत्ति जब्ती कानून के बारे में संकेत किया है।

सैनिक अभियान की तैयारी एवं छावनी की व्यवस्था के बारे में भी थामस रो ने दिलचस्प वर्णन किया है। छावनी में आम जिन्दगी की आवश्यकताओं के लिए सभी प्रकार के बाजार थे। ताकि युद्ध के पश्चात् के क्षण सामान्य तौर पर व्यतीत किए जा सकें।

रो ने जहाँगीर के दरबार में गुटबंदी के बारे में लिखा है। नूरजहाँ का गुट अत्यन्त प्रभावशाली था। जिसमें खुर्रम, आसफखाँ एवं एतमादुद्दोला थे। इसी संदर्भ में उसने खुसरो का भी जिक्र किया है, जो इनके षड्यन्त्र का शिकार हुआ था। इसके अलावा भी उसने अनेक विषयों का वर्णन किया है, जो जहाँगीर के काल के इतिहास के लिए अत्यन्त मूल्यवान हैं।

थामस रो एवं हाकिन्स के वर्णन का तुलनात्मक अध्ययन करके इसके महत्त्व एवं उपयोगिता को स्थापित किया जा सकता है।

पीटर मण्डी (1628-36 ई.)

पीटर मण्डी एक अंग्रेज व्यापारी यात्री था, जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रतिनिधि के रूप में भारत आया था। वह 1628 ई. में यहाँ आया। उस समय यहाँ मुगल बादशाह शाहजहाँ का शासन था। सर्वप्रथम वह सूरत पहुँचा एवं 1630 ई. में उसने आगरा फैक्ट्री के प्रबन्धक का कार्यभार संभाला। वह लगभग आठ वर्षों तक यहाँ रहा। उसने इस दौरान विभिन्न क्षेत्रों का दौरा किया। उसने मुख्यतः आगरा–अहमदाबाद बाया मारवाड़ एवं बुरहानपुर के रास्तों से यात्राएँ कीं एवं विभिन्न जगहों के बारे में अपना वर्णन प्रस्तुत किया। उसने मालवा, राजस्थान, उत्तरप्रदेश एवं बिहार आदि प्रान्तों के अनेक नगरों की यात्राएँ कीं। उसने अपनी यात्राओं का तारीखवार विवरण प्रस्तुत किया है। उसके वर्णन से हिन्दुओं के सामाजिक रीति–रिवाजों के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध होती है। उसने महत्त्वपूर्ण आर्थिक सूचनाएँ संकलित की हैं। उसके वर्णन से विभिन्न क्षेत्रों में होनेवाले उत्पादनों एवं कृषि उपजों का पता चलता है जो भारत के आर्थिक इतिहास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

इन वर्णनों के अतिरिक्त उसने मुगल राजवंश की अनेक घटनाओं एवं परम्पराओं का भी रोचक वर्णन अपने यात्रा–विवरण में किया है। उसने हाथियों के दंगल में मुगलों की रुचियों को दर्शाया है। इसी प्रकार औरंगजेब, दारा एवं शुजा के विवाहों का वर्णन एवं उनकी परम्पराओं को चित्रित किया है। महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं का वर्णन भी उसकी अहमियत को बढ़ाने वाले हैं। उसने शाहजहाँ के दक्षिण अभियान एवं महावतखाँ की दौलताबाद विजय आदि का वर्णन काफी विस्तार से किया है।

मंडी ने राजस्थान के विभिन्न कस्बों एवं शहरों के बारे में काफी उपयोगी वर्णन प्रस्तुत किया है। बयाना के बारे में उसका वर्णन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसने वहाँ के नील की कुंडियों एवं नील उत्पादन की विधियों के बारे में अत्यन्त रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है। इसके अलावा जालौर, मेड़ता एवं भीनमाल के बारे में भी जानकारी संकलित की है। पीटर मंडी ने जो वर्णन प्रस्तुत किया है, वह शाहजहाँ के काल के अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

जीन बैप्टिस्ट रेवरनियर

यह फ्रांसीसी यात्री था जो मुगल बादशाह शाहजहाँ के समय भारत आया था। वह मूलत जौहरी था। यह प्रकृति से [illegible] और कम उम्र में ही उसने यात्राएँ प्रारम्भ कर दी थीं। वह ऐसा यात्री था, जो बा[illegible]बार भारत आया। उसने छ[illegible] यात्राएँ की थीं, जो इस प्रकार थीं : 1641–42, 1645–47, 1651–54, 1657–61, [illegible]65–67 तथा 1686–87 इनके [illegible] हुआ कि वह शाहजहाँ एवं औरंगजेब, दोनों के काल में भारत आया था।

उसने अपनी अलग–अलग यात्राओं में विभिन्न शहरों की यात्राएँ कीं, जिनमें मुख्य थे सूरत, बुरहानपुर, सिरोज, [illegible] जहानाबाद, गोआ, गोलकुंडा, मसूलीपट्टन, मद्रास एवं गंडीकोट आदि। उसने व्यापक स्तर पर भारत की यात्राएँ कीं एवं इनके [illegible] में विस्तार से वर्णन किया है। जिन बिन्दुओं पर उसने मुख्यतः प्रकाश डाला है, वे [illegible]

हीरे-जवाहरातों एवं उनकी खानों का विवरण : टेवरनियर पेशे से जौहरी था एवं इस सम्बन्ध में उसने ये स्थान [illegible] वह अपनी यात्रा में ही गोलकुंडा पहुँचा था एवं उसे वहाँ की खानों को देखने का [illegible] सम्भवतः अवसर मिला था। गोलकुंडा की [illegible] की खानों के अतिरिक्त दक्षिण स्थित अन्य खानों की यात्राएँ की थीं, जिनमें मुख्य थीं दरवलकोंडा तथा कालूर की [illegible] खानें। [illegible] जवाहरात का बहुत बड़ा व्यापारी था। इसलिए अपने माल को बेचने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता रहता [illegible] अपना माल बेचने हेतु वह गोलकुंडा गया लेकिन वहाँ कीमतों के कारण सौदा नहीं हो पाया। वहाँ से वह सूरत की ओर गया।

मुगल बादशाहों एवं अमीरों को जवाहरात खरीदने का अत्यन्त शौक था, जिसकी जानकारी उसके वर्णन से होती [illegible]65 ई. [illegible] यात्रा का उद्देश्य शाइस्ताखाँ द्वारा चाही गई वस्तुएँ पहुँचाना था। उसने अनेक दुर्लभ एवं अमूल्य वस्तुएँ एवं जवाहरात इस [illegible] अमीर को बेचकर बहुत धन कमाया। इस प्रकार अर्जित किए हुए धन से जेनेवा के [illegible] समीप औबोन में बड़ी सम्पत्ति [illegible] कर ऐशो–आराम का जीवन व्यतीत करने लगा।

इसी प्रकार 1680 ई. में वह अन्तिम बार भारत आया। इस यात्रा में उसने जहानाबाद में औरंगजेब एवं मुगल अमीरों से भेंट की। इस बार वह विदेश से कीमती वस्तुएँ एवं बहमूल्य जवाहरात लेकर आया था। यह यात्रा उसकी सर्वाधिक सफल थी। क्योंकि इस बार उसने मुगल बादशाह औरंगजेब को सर्वाधिक कीमती जवाहरात बेच कर काफी मुनाफा कमाया। इस प्रकार [illegible] यात्राओं से अपार सम्पत्ति कमाई एवं बदले में अपने यात्रा–विवरण से भारतीय इतिहास को भी धनवान बना गया।

व्यापारिक गतिविधियों के बारे में विवरण : टेवरनियर एक व्यापारी के रूप में भारत आया था। उसका मुख्य उद्देश्य मुनाफा [illegible] था। चूँकि वह भारत में था इसलिए भारतीय व्यापारियों की गतिविधियों एवं उनके व्यापार करने के तरीकों को [illegible] स्वाभाविक था। इसलिए उसने गहराई से उनके व्यवहार को समझने का प्रयास किया एवं उसे अपने यात्रा–विवरण में [illegible] स्थान दिया। उसने व्यापारियों, सर्राफों के बारे में काफी विस्तार से लिखा है। सर्राफ के बारे में वह लिखता है कि [illegible] शुद्धता की जाँच, उसके लेन–देन एवं उसके परिवर्तन का कार्य करते हैं। इसके अलावा दलालों के बारे में उसने महत्त्वपूर्ण [illegible] प्रस्तुत किया है। वह लिखता है कि दलाल परिवार के आधार पर संगठित थे। इस प्रकार के परिवारों के मुखियाओं की [illegible] को ध्यान में रखते हुए किया जाता था एवं वही सारी सम्पत्ति की सुरक्षा, सभी रिश्तेदारों के हित में, करता था। इसके अलावा उसने उनके काम करने के तरीकों पर भी प्रकाश डाला है।

इसके अतिरिक्त उसने यहाँ की वस्तुओं के बारे में लिखा है, जिनकी विदेशों में बहुत माँग थी। इनमें मुख्य थीं – गरम मसाले, [illegible] वस्त्र, नील एवं हाथीदांत आदि। ये वस्तुएँ कहाँ और कैसे बिकती थी, उसके बारे में भी [illegible] मिलता है।

मुगल अमीरों के बारे में वर्णन : टेवरनियर ने अपनी राजनीतिक स्थिति एवं समृद्धि का पूरा लाभ उठाते हुए मुगल अमीरों [illegible] अधिकारियों के साथ काफी घनिष्ठ संबंध बना लिए थे, जिसकी झलक उसके वर्णन में देखने को मिलती है। उदाहरणार्थ [illegible] शाइस्ताखाँ एवं मीर जुमला का चरित्रचित्रण किया है। शाइस्ताखाँ के जवाहरात के बेहद शौक के बारे में उसका वर्णन अत्यन्त [illegible] इसी प्रकार उसने मीर जुमला की प्रशासनिक कुशलता के साथ–साथ व्यापारिक गतिविधियों में उसकी विशेष रुचि के बारे में [illegible]

महत्त्वपूर्ण मंदिरों एवं उनकी वास्तुकला का वर्णन : फ्रांसीसी यात्री ने अपने व्यापारिक हितों के अलावा भी अपनी [illegible] है। उसने भारत के हिन्दुओं के दो धार्मिक तार्थस्थानों में स्थित मंदिरों के बारे में लिखा है। उसने मथुरा स्थित केशवदेव [illegible] के विश्वनाथ के मंदिरों का रोचक वर्णन किया है। वह केवल मंदिरों की अवस्थिति के बारे में ही नहीं लिखता बल्कि [illegible] वास्तुशैली के बारे में भी लिखता है।

इसके अतिरिक्ति वह हिन्दुओं के धार्मिक उत्सवों एवं उनकी शोभायात्राओं का सजीव चित्रण प्रस्तुत करता है। उसने हिन्दुओं में सतीप्रथा पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है।

इन विषयों के अलावा उसने मुगल प्रशासन के विभिन्न पक्षों के बारे में भी लिखा है। उसके वर्णन में मुगल दरबार एवं सैन्य व्यवस्था के बारे में विवरण मिलता है। चूँकि वह व्यापार में संलग्न था, इसलिए चुंगीगृह तथा उससे संबंधित अधिकारियों के बारे में वर्णन किया है। न्याय संचालन एवं उसमें काजी की भूमिका का वर्णन भी उसकी कलम से बच नहीं पाया।

उपर्युक्त वर्णन से टेवरनियर की भारतीय इतिहास के लिए महत्ता उजागर होती है। उसका वर्णन यहां के सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है।

फ्रांसिस बर्नियर (1658 ई.)

फ्रांसिस बर्नियर फ्रेंच डाक्टर था। वह 1658 ई. में सूरत पहुँचा था। उसने भारत के विभिन्न क्षेत्रों की यात्राएँ की। उसने आगरा, अहमदाबाद, कश्मीर, बंगाल, राजमहल, कासिमबाजार, मसुलीपट्टम, गोलकुंडा एवं सूरत की यात्राएँ कीं। मुगल साम्राज्य के संकट के काल में इस विदेशी यात्री का हिन्दुस्तान आगमन हुआ। मुगल बादशाह शाहजहाँ के जीवनकाल में ही उसके पुत्रों में उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर भयंकर संघर्ष चल रहा था। इसके पश्चात् उसने औरंगजेब की विजय एवं उसके राज्यारोहण को भी देखा था।

बर्नियर की दृष्टि अत्यंत खोजी एवं जिज्ञासापूर्ण थी। उसने विभिन्न क्षेत्रों के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ संकलित की हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। उसने उत्तराधिकार के युद्ध, मुगल प्रशासनिक व्यवस्थाओं, राजस्व व्यवस्था एवं कृषकों की स्थिति जैसे विषयों पर सामग्री संकलित की है। उसने अपने विवरण को अत्यंत रोचक तरीके से प्रस्तुत किया है। उसने जिन विषयों पर विशेष ध्यान दिया, वे निम्न हैं :

शहरों एवं प्रांतों के बारे में वर्णन : बर्नियर ने शहरों एवं प्रांतों के बारे में पैनी दृष्टि से देखा एवं उनके बारे में काफी रोचक तरीके से अपने ग्रंथ में विवरण प्रस्तुत किया। उसने इन क्षेत्रों की प्रशासनिक व्यवस्थाओं के बारे में जो टिप्पणियाँ की हैं, वे उल्लेखनीय हैं। उसका विवरण उसकी समझ एवं उसकी सक्षम दृष्टि का परिचायक है। उसने आगरा एवं दिल्ली के बारे में जो वर्णन किया है, वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वह आगरा के बाजारों, अमीरों के महलों एवं अन्य शाही भवनों के बारे में लिखता है। पश्चिम के शहरों के भवनों से तुलना करते हुए लिखता है कि यहाँ के भवन किसी भी तरीके से कम आलीशान नहीं हैं। उसने इन नगरों की बसावट एवं योजना के बारे में भी लिखा है। उसने इन नगरों के दस्तकारी उद्योग के बारे में महत्त्वपूर्ण सामग्री का संकलन किया है।

चरित्रचित्रण में विशिष्टता : ऐसा प्रतीत होता है कि बर्नियर को चरित्रचित्रण में महारत हासिल थी। उसने तत्कालीन समय के सभी महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के चरित्रों को सजीव तरीके से चित्रित किया है। जिन व्यक्तियों के बारे में उसने लिखा है, उनमें मुख्य हैं, दाराशिकोह, शुजा, औरंगजेब, मुराद एव जहाँआरा बेगम। उसके द्वारा दिये गये वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है कि उसे व्यक्तियों के चरित्रों एवं उनकी आदतों को समझने एवं उनके गहन अध्ययन में विशेष रुचि थी। उसके वर्णन उसे एक मनोवैज्ञानिक की श्रेणी में खड़ा कर देते हैं। दाराशिकोह एवं औरंगजेब एक–दूसरे के प्रतिद्वंदी थे। इसलिए उनके बारे में उसकी टिप्पणी अत्यंत रोचक है। दारा के बारे में वह लिखता है कि, 'दारा में अच्छे गुणों का अभाव नहीं था तथा वह अत्यंत उदार था, किन्तु उसकी स्वयं अपने विषय में राय बड़ी ऊँची थी। उसका विश्वास था कि वह अपने दिमाग की शक्ति से हर काम कर सकता है। वह उन लोगों से बड़ी रूखाई से पेश आता था, जो उसे सलाह देने एवं वास्तविक स्थिति से अवगत कराने की चेष्टा करते थे। इसी कारण उसके नजदीकी मित्र भी उसके भाइयों के षड्यंत्रों तथा चालों के बारे में उसे सतर्क नहीं करते थे।'

इसी तरह दारा के कट्टर विरोधी औरंगजेब के बारे में बर्नियर की टिप्पणी अत्यंत रोचक है। वह लिखता है कि, 'औरंगजेब में दारा के समान शिष्टता एवं भद्रतापूर्ण व्यवहार का अभाव था। किन्तु उसमें निर्णय लेने की अद्भुत क्षमता थी तथा अपने सहायकों एवं हितैषियों का चयन करने में उसकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। वह गंभीर, कुशाग्रबुद्धि एवं अपने विचारों एवं योजनाओं को गुप्त रखने में अत्यंत प्रवीण था।'

उपर्युक्त दोनों चरित्रों के वर्णन बर्नियर की पैनी दृष्टि के परिचायक हैं। यह बात निश्चित है कि दारा के चरित्र की विशेषताएँ मानवीय थीं, लेकिन राजनीति में सफलता के लिए घातक थीं, जबकि दूसरी तरफ औरंगजेब की विशेषताएँ राजनीति में सफलता की कुंजी साबित हुईं। इसलिए फ्रेंच यात्री का वर्णन उसकी गहरी समझ को दर्शाता है।

बर्नियर अपने को सिर्फ चरित्रचित्रण तक ही सीमित नहीं रखता है, बल्कि किसी स्थिति के पृष्ठभूमि में छिप कारणों के बारे में अपनी व्याख्या भी प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ जहाँआरा के बारे में लिखते समय वह मुगल शाहजादियों की शादी के बारे में लिखता है कि, 'शाहजादियों की शादी हिन्दुस्तान में बिरले ही होती थी, कोई भी व्यक्ति उनके योग्य नहीं है।' उसकी दृष्टि में इसका कारण था कि शाहजादी से शादी रचानेवाला सत्ता का हकदार बनने का प्रयास कर सकता था इसलिए इस स्थिति से बचने हेतु ऐसा किया जाता था। बर्नियर की यह टिप्पणी अत्यंत रोचक एवं उसकी बौद्धिकता की परिचायक है।

कृषकों की स्थिति का वर्णन : बर्नियर ने कृषकों की स्थिति को राजस्व प्रशासनिक व्यवस्था से जोड़ कर देखने का प्रयास किया जो उसकी गहरी समझ का परिचायक है। वह लिखता है कि राजस्व प्रशासन में जागीरदारों की नियमित ट्रांसफर की नीति प्रचलन में थी। मुगल प्रशासन ने ट्रांसफर की यह नीति जागीरदारों पर अंकुश लगाने के लिए लागू की थी। लेकिन इसका कृषकों पर बुरा प्रभाव पड़ा। जागीरदार अपनी जागीर के बारे में सदैव खतरा महसूस करते थे। वह जागीरी क्षेत्र कभी भी उसके हाथ से निकल सकता था इसलिए वह किसानों से अधिक-से-अधिक राजस्व वसूलने का प्रयास करता था। इसके अतिरिक्त वह अपने जागीरी क्षेत्र के विकास में भी कोई रुचि नहीं लेता था। दूसरी तरफ लगान की अधिकतम वसूली से परेशान किसान अपनी कृषि छोड़ वहाँ से भाग जाते थे। ये भगोड़े किसान या तो कोई अन्य व्यवसाय अपना लेते थे अथवा कभी-कभी वे राजा के क्षेत्र में शरण लेकर वहाँ कृषिकार्य कर लेते थे। बर्नियर के अनुसार राजाओं के क्षेत्र में किसानों पर करों का भार कम था। इसके अतिरिक्त दूसरी शरणस्थली जोरतलब जमींदार थे, जो मुगलों को लगान मुश्किल से देते थे। इस प्रकार बर्नियर के वर्णन से मुगल राजस्व प्रशासन की वास्तविक तस्वीर हमें देखने को मिलती है।

व्यापार एवं सोने-चांदी के बारे में : बर्नियर ने भारत के व्यापार के बारे में भी महत्त्वपूर्ण सामग्री का संकलन किया है। वह लिखता है कि भारत में बाहर के कई देशों से अनेक प्रकार की वस्तुएँ लाई जाती हैं लेकिन इसके भुगतान के रूप में बाहरी व्यापारी सोना–चांदी नहीं लेते बल्कि यहाँ की बनी वस्तुएँ बाहर से ले जाना पसंद करते हैं। यहां विनिमय उनके लिए अधिक लाभदायक होता है। इसके अतिरिक्त विदेशी व्यापारी हिन्दुस्तान के माल को सोने–चांदी के भुगतान के द्वारा खरीदते हैं। यह सोना–चांदी वापिस कभी बाहर नहीं जाता, बल्कि यहीं रह जाता है। यहाँ इन बहुमूल्य धातुओं को संग्रह करने की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के बारे में बर्नियर की टिप्पणी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वह लिखता है कि, 'यद्यपि मुगल साम्राज्य सोना-चांदी को आत्मसात करने के लिए एक गहरे सोते के समान है किन्तु ये बहुमूल्य धातुएँ अन्य स्थानों की तुलना में चलन में अधिक नहीं हैं। इसके विपरीत यहाँ के लोगों के जीवन–स्तर में दुनिया के अन्य स्थानों की अपेक्षा समृद्धि की झलक कम दिखाई देती है। इस परिस्थिति के उसने बहुत–से कारण बताए हैं, जिनमें मुख्य हैं – सोने–चांदी की अधिकांश मात्रा को स्त्रियों के आभूषण बनाने के लिए गला दिया जाना एवं धन के लिए धरती के नीचे गाड़ देना। इससे इतनी बड़ी मात्रा में बहुमूल्य धातु चलन से बाहर हो जाती है। वह लिखता है कि एक बड़ी मात्रा में सोने–चांदी के भारत में आने के बावजूद यह देश लाभान्वित नहीं हो पाता।

इन विषयों के अतिरिक्त भी बर्नियर ने अनेक पक्षों के बारे में महत्त्वपूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया है। उसने जिन पक्षों पर अपनी कलम चलाई है उनमें मुख्य हैं : राजपूतों में शस्त्र–विद्या की परम्परा, घुड़सवारों की दक्षता एवं अमीर वर्ग की बनावट। उसके अनुसार अमीर वर्ग में बाहर से आए कई व्यक्ति सम्मिलित हैं। ये लोग रोजगार की तलाश में यहाँ भारत आए थे एवं मुगल अमीर वर्ग का अंग बन गए थे। वह लिखता है कि अमीर वर्ग के इन सदस्यों को काफी बड़ी रकम वेतन के रूप में मिलती है लेकिन उसके पश्चात् भी वे ऋणग्रस्त रहते हैं। वे फिजूलखर्ची एवं शानो–शौकत पर अत्यधिक खर्च करते हैं यही उनकी बरबादी का अन्त में कारण बनते हैं।

कश्मीर के शाल उद्योग के बारे में वर्णन : बर्नियर ने कश्मीर के बारे में काफी महत्त्वपूर्ण सामग्री का संकलन किया है। उसने वहाँ के शाल उद्योग का काफी रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है। वह लिखता है कि शाल की बुनाई एक प्रकार की कशीदाकारी है जो रेशम पर तैयार की जाती है। दो प्रकार की शालों के बारे में वह लिखता है – एक तो वे, स्पेन की ऊन से भी नरम होती हैं तथा दूसरी जो तिब्बती बकरियों के सीने की ऊन से तैयार की जाती हैं, जिन्हें तोन्ज कहा जाता है। तोन्ज ऊन से निर्मित शाल अन्य ऊन के शालों से अधिक कीमती होते हैं। ये कीमती शाल मात्र अमीर वर्ग के लिए बनाए जाते हैं। कश्मीर के अतिरिक्त पटना भी एक स्थान लाहौर में इस प्रकार के शाल बनाए जाते हैं, लेकिन कश्मीर के शालों से इनकी कोई तुलना नहीं की जा सकती।

कुल मिलाकर इस फ्रेंच यात्री का वर्णन विविधता से भरा अत्यंत रोचक है। इससे भारत के बारे में उसकी गहन दृष्टि के पता चलता है। वह एक अच्छा पर्यवेक्षक एवं चरित्रों के मूल्यांकन का एक मनोवैज्ञानिक था। उसका यह वर्णन सर्वप्रथम ट्रैवल्स इन मुगल

एम्पायर' के शीर्षक से 1670 ई. में प्रकाशित हुआ था। इसमें कोई संदेह नहीं है कि उसका यात्रा–विवरण अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, लेकिन उसे सावधानीपूर्वक उपयोग में लेने की जरूरत है।

मनूची (1653-1717 ई.)

मनूची इटली का निवासी था। वह सम्भवतः प्रथम विदेशी यात्री था जो एक बार 1653 ई. में भारत आने पर सदैव के लिए यहाँ का होकर रह गया, 1717 ई. में यहीं की मिट्टी में दफन होकर रह गया। वह जब भारत आया था तब शाहजहाँ का शासन था। इस प्रकार उसने छह मुगल बादशाहों – शाहजहाँ, औरंगजेब, बहादुरशाह, जहाँदारशाह, फर्रुखशियर के दौर को देखा था। इतने लंबे समय तक यहाँ रह कर उसने भारत के बारे में अत्यधिक जानकारी प्राप्त कर ली थी। आधी सदी से अधिक समय तक भारत में रहने के कारण उसे इस देश के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन को काफी समीपता से समझने का अवसर मिला था। उसने अपने अनुभवों को यात्राओं एवं लोगों के संपर्क में आकर अर्जित किया था, जिनका वर्णन उसने अपने ग्रंथ 'स्टोरिया–डो–मोगोर' में प्रस्तुत किया है।

भारत में निवास करने के दौरान मुगल शासकों, शहजादों एवं अमीरों के साथ उसके व्यक्तिगत संबंध विकसित हो गए थे। दाराशिकोह के साथ उसके घनिष्ठ संबंध थे एवं वह उसका कट्टर समर्थक था। इसके विपरीत औरंगजेब से, उसके प्रति द्रोहपूर्ण एवं शत्रुतापूर्ण व्यवहार के कारण, घृणा करता था। मुगल अमीरों के साथ उसका उठना–बैठना था। इसलिए उसे उनके चरित्र के बारे में विशेष जानकारी प्राप्त हो गई थी।

मनूची ने भारत के बारे में अत्यंत विस्तार से लिखा है। उसके ग्रंथ का विलियम इरविन ने अनुवाद किया है, जो चार बड़े–बड़े भागों में प्रकाशित हुआ है।

मनूची सम्पूर्ण मुगल शासकों का इतिहास लिखना चाहता था लेकिन शाहजहाँ से पूर्व के मुगल बादशाहों के शासन के बारे में उसने जो–कुछ लिखा वह कपोलकल्पित कथाओं पर आधारित है। उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग उसका समकालीन वर्णन है। मुगल बादशाह शाहजहाँ एवं उसके पश्चात् का वर्णन उसके अपने अनुभव एवं आँखों–देखा वर्णन है। इस आधार पर ही इस ग्रंथ के अनुवादक इरविन का मानना है कि, 'शाहजहाँ के अन्तिम वर्षों का एवं औरंगजेब के पूर्ण शासनकाल के लिए मनूची के कथनों की अवहेलना नहीं की जा सकती।'

मनूची ने मुगलों की सैन्य व्यवस्था के बारे में काफी विस्तार से वर्णन किया है। उसका यह वर्णन मुगलों के सैन्य संगठन को समझने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

शाहजहाँ के जीवनकाल में उसके पुत्रों के मध्य लड़े गए उत्तराधिकार के युद्ध का वर्णन अत्यंत प्रामाणिक है, क्योंकि यह उसका आँखों–देखा वर्णन है। इससे भी बड़ी बात यह है कि उसने स्वयं ने सामूगढ़ के युद्ध में भाग लिया था। इसलिए उसका यह वर्णन संदेह से परे है।

इटली के इस यात्री ने हिन्दू एवं मुसलमानों के सामाजिक संस्कारों एवं उनकी परम्पराओं के बारे में अत्यंत रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है। मनूची के लेखन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसका सम्पूर्ण समकालीन वर्णन सत्यता एवं उसके स्वयं के अनुभव पर आधारित है।

उसका वर्णन मुगलकालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास को एक विदेशी की दृष्टि से समझने का अवसर प्रदान करता है। हालाँकि मनूची का वर्णन समकालीन है लेकिन फिर भी इतिहास–लेखन में उसको उपयोग लेते समय सावधानी अत्यावश्यक है। दूसरे, समकालीन स्रोतों से तुलना के पश्चात् ही उसके वर्णन का उपयोग करना चाहिए।

अध्याय-2

हिन्दुस्तान विजय एवं मुगल साम्राज्य की स्थापना

सोलहवीं सदी के प्रारंभ में भारत में लोदी वंश का शासन था, जिनकी राजनीतिक स्थिति डॉवाडोल थी। सत्ता पर इनकी पकड़ कमजोर होती जा रही थी। इनकी राजनीतिक शक्ति बिखरती जा रही थी। इस परिस्थिति का लाभ उठा कर राजनीतिक पटल पर कई छोटे–छोटे राज्य उभर गए थे। सब राज्यों में राजनीतिक प्रतिस्पर्धा एवं वैमनस्य था। सभी राज्य अपने पड़ोसी राज्य को हड़पने के लिए आतुर थे। ये राजनीतिक परिस्थितियाँ किसी भी महत्त्वाकांक्षी आक्रमणकारी के लिए अत्यंत उपयुक्त थे आक्रमण करने के लिए निमंत्रण देनेवाली थीं। इसी निमंत्रण को स्वीकार किया मध्य एशिया के एक साहसिक एवं महत्त्वाकांक्षी फरगना के शासक जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर ने।

बाबर का आरंभिक जीवन

भारत में मुगल शासन के संस्थापक का जन्म शुक्रवार, 14 फरवरी, 1483 ई. को मध्य एशिया के एक छोटे राज्य फरगना में हुआ था। उसके पिता का नाम उमरशेख मिर्जा एवं माता का नाम कुतुलुगनीगार था। पिता तैमूर एवं माता चंगेजखाँ के वंशज थे। अतः बाबर के शरीर में मध्य एशिया के दो प्रसिद्ध राजघरानों एवं शासकों के खून का संचार हो रहा था। मध्य एशिया में इसका वंश तुगलाइ तुर्क के साथ–साथ मुगल वंश भी कहलाता था। इसलिए भारत में बाबर का वंश मुगल वंश या तैमूर वंश के नाम से पुकारा जाता है।

तैमूर की मृत्यु के पश्चात् बाबर के पिता उमरशेख मिर्जा को फरगना का छोटा–सा राज्य मिला, जिससे वह खुश नहीं था। उमरशेख अत्यंत महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था, इसलिए वह अपने राज्य की सीमा को बढ़ाना चाहता था। लेकिन भाग्य ने इस सबध में उसका साथ नहीं दिया। उसके भाई समरकंद तथा बुखारा के शासक थे, जिनके साथ उसकी प्रतिद्वंद्विता थी। इसलिए इन दोनों की संयुक्त सेना ने फरगना पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण के दौरान ही एक असंतुष्ट शासक के रूप में उसकी मृत्यु हो गई

फरगना का शासक बाबर

अपने असंतुष्ट पिता की मृत्यु के समय बाबर मात्र बारह वर्ष के लगभग था। इस अल्पवयस्क बालक शासक को महत्त्वाकांक्षा अपने पिता से विरासत में मिली थी। जिस समय फरगना का शासन उसने सँभाला, उस समय उसके राज्य पर विपत्तियों के बादल मंडरा रहे थे। सबसे बड़ा खतरा उसे अपने चाचाओं से था। इसलिए जैसे ही उसने फरगना की बागडोर सँभाली, वैसे ही मामलों को समरकंद एवं बुखारा के अपने चाचाओं से समझौते का प्रयास किया, जिसमें उसे सफलता नहीं मिली। दोनों शासकों ने फरगना पर आक्रमण जारी रखा, परन्तु भाग्य ने बालक बाबर का साथ दिया। समरकंद एवं बुखारा में बदलती राजनीतिक परिस्थितियों के कारण से उसके चाचाओं को वापिस लौटने के लिए विवश होना पड़ा। इस प्रकार फरगना पर आया राजनीतिक संकट टल गया। इसके पश्चात् उसने इस परिस्थिति का लाभ उठा कर अपने राज्य की आंतरिक स्थिति सुदृढ़ की एवं प्रशासनिक व्यवस्था का पुनर्गठन किया। राज्य के सरदारों एवं लोगों में विश्वास पैदा करने का प्रयास किया।

समरकंद-विजय

समरकंद उसके राज्य फरगना की सीमा से सटा हुआ था। महत्त्वाकांक्षी होने के कारण वह वहाँ की गद्दी पाने का आकांक्षी रहने लगा। यह नगर मध्य एशिया का प्रशासनिक, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक केन्द्र था। ऐसे क्षेत्र पर अधिकार हो जाने से बाबर की शक्ति में वृद्धि हो जाएगी। इस राज्य पर अधिकार करने का दूसरा कारण वहाँ का अहमद तम्बोली था। जिसने उसके पिता एवं चाचा को परेशान किया था। इस प्रकार उसने इस राज्य पर आक्रमण की योजना बनाई। 1496-97 ई. में उसने दो बार आक्रमण किया, उसका प्रथम प्रयास विफल रहा लेकिन उसने हार नहीं मानी। दूसरे प्रयास में समरकंद पर आधिपत्य की उसकी महत्त्वाकांक्षा पूरी हुई एवं उसने नवम्बर, 1497 ई. में इस पर अपना शासन स्थापित कर लिया।

बाबर को अपनी सफलता का पहला फल भोगना नहीं लिखा था। उसकी यह विजय अस्थाई साबित हुई। समरकंद पर उसका लगभग तीन माह तक आधिपत्य रहा। इसी मध्य उसे अपने राज्य फरगना से विद्रोह की सूचना प्राप्त हुई। इसे दबाने हेतु जैसे ही वह गया

पीछे से उसकी सत्ता समाप्त हो गई। फरगना पहुँचने पर पता चला कि उसकी राजधानी विद्रोहियों के कब्जे में है। इस प्रकार बाबर को अपने पैतृक राज्य के साथ समरकंद को भी गँवाना पड़ा। इससे 'माया मिली न राम' की कहावत चरितार्थ हुई। बाबर सत्ताच्युत शासक रह गया।

राज्यविहीन बाबर इधर से उधर भटकता रहा, लेकिन इस विकट परिस्थिति में भी उसने साहस नहीं खोया। उसने स्वयं अपनी आत्मकथा में लिखा है कि 'मुझ पर बड़ी विपत्ति का समय आ गया था और मैं बिना रोये हुए रह नहीं सका।' लेकिन साहसी एवं महत्त्वाकांक्षी सदैव रोते नहीं रहते, बल्कि नई परिस्थितियों के लिए स्वयं को शीघ्र ही तैयार कर लेते हैं। बाबर ने भी ऐसा ही किया। उसने अपने खोए हुए पैतृक राज्य फरगना को पुनः प्राप्त करने के प्रयास तेज कर दिए। इन्हीं प्रयासों का परिणाम उसे 1498 ई. में फरगना पर आधिपत्य के रूप में मिला। लेकिन दुर्भागय से यह आधिपत्य स्थाई नहीं हो सका। 1500 ई. का साल उसके लिए बुरा संदेश लेकर आया, जब फरगना फिर उसके हाथ से निकल गया। फिर उसके घुमक्कड़ जीवन का सिलसिला प्रारंभ हुआ। लेकिन उसने हार नहीं मानी। उसने पुनः जोर–शोर से अपने प्रयास तेज कर दिए।

कहावत है कि दुर्भाग्य साहसी एवं आत्मविश्वासी व्यक्तियों के हौसले हमेशा के लिए पस्त नहीं कर सकता। फरगना के हाथ से निकल जाने के पश्चात् उसने समरकंद विजय पर अपना ध्यान केन्द्रित कर दिया। 1501 ई. में उसने वहाँ के शासक शैबानीखाँ को पराजित कर वहाँ अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इस समय उसने अपनी चचेरी बहिन आयशा से विवाह किया। दुर्भाग्यवश उसका यह विवाह एवं समरकंद पर उसका आधिपत्य, दोनों ही स्थाई न रह सके। आयशा ने थोड़े समय पश्चात् ही उसका साथ छोड़ दिया। इसी तरह 1502 ई. में शैबानीखाँ ने सरायपुल नामक स्थान पर बाबर को पराजित कर दिया। इस पराजय ने एक बार पुनः उसे सड़क पर ला दिया एवं उसे घुमककड़ का जीवन व्यतीत करने पर विवश होना पड़ा। इस प्रकार मध्य एशिया की राजनीति में उसे सफलता हाथ नहीं लगी।

काबुल पर आधिपत्य

इन विषम परिस्थितियों में भी बाबर द्वारा धैर्य एवं साहस न खोना उसके साहसी एवं संघर्षशील व्यक्तित्व की निशानी है। बार–बार की भटकन ने उसे नए रास्ते ढूँढ़ने के लिए प्रेरित किया। उसने मध्य एशिया से अपना ध्यान हटाकर अफगानिस्तान की ओर करना प्रारंभ किया। उसने इस क्षेत्र में अपना भाग्य आजमाने का निर्णय लिया। उन दिनों वहाँ का शासक जनता में लोकप्रिय नहीं था। बाबर ने जिस समय अपना यह निर्णय लिया, उस समय वहाँ का राजनीतिक वातावरण उसकी योजना के काफी अनुकूल था। 1501 ई. में वहाँ के शासक उलुग मिर्ज़ा की मृत्यु हो चुकी थी एवं अब्दुर्रजाक नामक शिशु वहाँ की गद्दी का हकदार था। मोहम्मद मुक़ीम अर्गून वहाँ का सर्वेसर्वा था। उसने बालक शाह की बहिन के साथ विवाह करके राज्य प्रशासन में अपने चहेतों की भरती आरंभ करके पुराने लोगों को नौकरी से अलग करना शुरू कर दिया। इस कारण राज्य में विद्रोह एवं अराजकता की स्थिति थी। ये परिस्थितियाँ बाबर की योजना के अनुकूल थीं। उपयुक्त अवसर देख कर उसने 1504 ई. में काबुल पर आक्रमण कर दिया एवं बिना किसी प्रतिरोध के उस पर उसका आधिपत्य हो गया। काबुल–विजय बाबर के जीवन में एक मोड़ साबित हुई। इस विजय ने उसके घुमक्कड़ जीवन का अंत करके एक स्थायित्व ला दिया। काबुल–विजय ने बाबर को यहाँ का शासक बना दिया। वहाँ का शासक बनने के पश्चात् उसने अपने वंश की 'मिर्ज़ा' की उपाधि त्यागकर 'पादशाह' की पदवी धारण की। इस विजय से उसकी शक्ति एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई।

समरकंद पर आधिपत्य

काबुल–विजय के पश्चात् भी समरकंद खोने की पीड़ा हमेशा काँटे की तरह उसके चुभती रही। इस पीड़ा को समाप्त करने के लिए उसने इस पर आधिपत्य करने की योजना बनाना प्रारंभ कर दिया। 1507 ई. में कन्धार पर विजय प्राप्त कर इसे अपने भाई के सुपुर्द कर दिया, परन्तु शीघ्र ही वहाँ से मुगल आधिपत्य समाप्त हो गया। लेकिन इस बीच बाबर समरकंद पर अपना ध्यान केन्द्रित किए हुए था। इसे प्राप्त करने की धुन उस पर सवार थी। इस हेतु उसने अपने संबंधियों से सहायता माँगी, जो उसे नहीं मिली। इससे वह निराश नहीं हुआ। उसने अपने प्रयास जारी रखे। अन्त में 1511–12 ई. में उसके प्रयासों का फल उसे मिला। शैबानीखाँ की मृत्यु के पश्चात् ईरान के शाह इस्माइल शफवी की सहायता से उसने समरकंद, बुखारा एवं खोरासन पर अपनी विजयपताका फहराई। इस विजय से बाबर की एक योजना पूरी हुई। तैमूर की राजधानी पर आधिपत्य करने की उसकी अभिलाषा पूरी हुई। इस विजय से वह एक विशाल राज्य का स्वामी बन गया। उसका साम्राज्य ताशकंद, कुंदुज, हिसार, समरकंद, बुखारा, फरगना, काबुल एवं गजनी तक फैल गया।

लेकिन कुछ क्षेत्रों पर उसकी विजय शीघ्र ही समाप्त हो गई। ईरान के शाह के वापस मुह मोड़ते ही उजबेगों ने फिर से बल्ख एवं ट्रान्स ऑक्सियाना पर आक्रमण कर 1512 ई. में बाबर की सेना को वहाँ से भगा दिया। इस प्रकार बदख्शा को छोड़कर सभी क्षेत्र उसके हाथों से निकल गया। अन्त में वहाँ की व्यवस्था खान मिर्जा के हाथों सौंप कर बाबर 1513–14 ई. में काबुल लौट आया।

इस क्षेत्र के निकल जाने के पश्चात् बाबर ने काबुल की ओर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखा। 1514 ई. से 1525 ई. के मध्य वह काबुल का शासक रहा। ये वर्ष फरगना के इस पूर्वशासक के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण थे। इस समय का उपयोग उसने अपनी स्थिति मजबूत करने में बिताया। फरगना की सत्ता सम्भालने से लेकर काबुल पर विजय तक बाबर ने कई युद्ध किए थे, जिनसे उसने सामरिक मन्त्र सीखे। उजबेगों से उसने 'तुलगुमा' व्यूहरचना सीखी। तुर्कों से घुड़सवारी के गूढ़ मन्त्र सीखे। इसके अतिरिक्त उसने भीषणता के समय धैर्य एवं संयम बनाए रखना सीखा। युद्धक्षेत्र उसके लिए प्रयोगशालाएँ साबित हुए, जहाँ उसने एक प्रशिक्षणार्थी के रूप में प्रशिक्षण लिया।

इन युद्धों के सबसे बड़े पाठ के रूप में 1514 ई. में ईरान के शाह और रूम के सुल्तान सलीम के मध्य खल्दिर के स्थान पर भीषण युद्ध हुआ। वीरता से लड़ते हुए भी ईरानी हार गए क्योंकि उनके पास कोई आग्नेय अस्त्र नहीं थे और न ही सम्भवत: उन्हें बारूद का ज्ञान था। जबकि उनके विरोधी उस्मानियों के पास सर्वोत्कृष्ट तोपें थीं। इन तोपों के कारण से ईरानियों की पराजय हुई एवं उस्मानियों की विजय हुई। इस कारण से युद्ध में तोपों के उपयोग की ओर बाबर का ध्यान आकृष्ट हुआ। उसने इस युद्ध से सीख लेते हुए अपनी सेना में इनके उपयोग का निर्णय लिया। इस हेतु उसने उस्तादअली एवं मुस्तफा को अपनी सेना में भर्ती कर लिया। तोपों की शक्ति को परखने हेतु सर्वप्रथम उसने अफगानिस्तान में ही विरोधी कबीलों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए इन अस्त्रों का उपयोग किया। सर्वप्रथम युसुफजई कबीलों के विरुद्ध उसने तोपों का उपयोग किया, जिसमें उसे असीम सफलता मिली। इस सफलता से प्रभावित होकर उसने मुस्तफारूमी नामक एक अन्य विशेषज्ञ को अपनी सेना में भर्ती कर लिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि बाबर यह सब तैयारियाँ किसी भावी योजना को ध्यान में रखकर कर रहा था। सर्वप्रथम अफगानिस्तान पर अपनी स्थिति मजबूत करने के पश्चात् उसने मध्य एवं पश्चिम एशिया की राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन किया। वहाँ उस्मानियों, ईरानियों एवं उजबेगों का आधिपत्य था। इसलिए अब उसके पास नए क्षेत्र विजित करने हेतु मात्र भारत ही था। इसलिए भावी योजना में यही देश था, जिस पर आधिपत्य स्थापित करना उसका अंतिम लक्ष्य था। वह जानता था कि इस पर शासन स्थापित करके वह एक समृद्धशाली एवं शक्तिशाली साम्राज्य का स्वामी बन सकता है। इधर भारत की राजनीतिक परिस्थितियाँ अराजकता एवं संकट के दौर से गुजर रही थी। दिल्ली की गद्दी पर लोदी वंश का आधिपत्य था, जिसकी स्थिति इब्राहिम लोदी एवं सिकन्दर लोदी की मृत्यु से उत्तराधिकार की समस्या ने गृहयुद्ध की स्थितियाँ पैदा कर दी। ये परिस्थितियाँ किसी भी विदेशी शासक के लिए न केवल उपयुक्त, बल्कि आदर्श भी थीं।

बाबर के आक्रमण के समय भारत की राजनीतिक परिस्थितियाँ

भारत पर बाबर के सैनिक अभियानों के समय यहाँ की राजनीतिक स्थिति संकट के दौर से गुजर रही थी, यहाँ केन्द्रीय शक्ति दिल्ली सल्तनत अंतिम साँसें गिन रही थी। सारा भारत किसी एक राजनीतिक शक्ति के अधीन नहीं था, बल्कि छोटे-बड़े राज्यों में विभाजित था। इन सबमें आपसी वैमनस्य एवं शत्रुता थी। बड़े एवं शक्तिशाली राज्य छोटे एवं कमजोर राज्यों को हृदय से नष्ट करना चाहते थे। अधिकाँश छोटे–मोटे राज्य सीमा एवं अन्य प्रकार के विवादों में उलझे रहते थे। स्वयं बाबर ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि, 'उस समय, जब मैंने देश पर विजय प्राप्त की, पाँच मुसलमान शासक एवं दो काफिर शासन कर रहे थे। यद्यपि यह पहाड़ी एवं जंगली प्रदेशों में छोटे–छोटे तथा महत्त्वहीन अनेक राजा और राय थे, किन्तु ये मुख्य एवं एकमात्र महत्त्वपूर्ण थे।

उसके आक्रमण के समय विभिन्न क्षेत्रों की स्थिति यह थी :

दिल्ली : दिल्ली पर लोदीवंश का इब्राहीम लोदी शासन कर रहा था। इस समय तक आते–आते सल्तनत की शक्ति क्षीण हो गई थी। क्षेत्र की दृष्टि से यह काफी छोटा हो गया था, लेकिन इसके बावजूद भी दिल्ली अभी भी भारतीय राजनीति का केन्द्र था। प्रत्येक शक्तिशाली शासक की दृष्टि दिल्ली पर लगी रहती थी एवं इस पर आधिपत्य स्थापित करने के अवसर की तलाश में रहता था। इब्राहीम लोदी कमजोर शासक था। अफगान सरदार उससे अप्रसन्न रहते थे। वे अब दिल्ली के इस सुल्तान को समाप्त करने के प्रयत्न करते रहते थे। इब्राहीम भी इनसे शंकित रहता था, इसलिए वह उनका दमन करना चाहता था। लेकिन इसमें उसे सफलता नहीं मिल पा रही थी। उसकी दमनकारी नीतियों ने उसके अपने अमीरों को अप्रसन्न कर दिया था। बिहार के सूबेदार

दरियाखाँ लोहानी ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी थी। इब्राहीम का चाचा आलमखाँ लोदी अफगानों से मिलकर दिल्ली पर कब्जा करना चाहता था। दौलतखाँ ने पंजाब में स्वतंत्रता का बिगुल बजा रखा था। वह तो इब्राहीम लोदी से इतना सशंकित रहता था कि उसने उसके विरुद्ध बाबर को भारत पर आक्रमण करने का निमंत्रण दे दिया था। कुल मिलाकर ये सभी परिस्थितियाँ किसी भी बाहरी आक्रमण के लिए उपयुक्त थीं।

गुजरात, मालवा, एवं बंगाल में अफगान शासकों की स्थिति : ये तीनों राज्य अफगान शासकों के अधीन थे परन्तु सभी अपने–अपने स्वार्थों में लिप्त रहते थे। सभी की राज्य–विस्तार की प्रबल इच्छा रहती थी। बाबर के आक्रमण के समय गुजरात सुल्तान मुजफ्फरशाह द्वितीय के अधीन था। उसका अपने पड़ोसी राज्य मेवाड़ से सदा संघर्ष रहता था एवं उसे वहाँ के शासक राणा सांगा के हाथों पराजित होना पड़ा था। 1526 ई. में मुजफ्फरशाह की मृत्यु के पश्चात् राज्य की बागडोर बहादुरशाह के हाथों में आ गई थी।

मालवा राज्य मांडू के नाम से विख्यात था। तैमूर के आक्रमण के पश्चात् दिलावरखाँ गौरी ने यहाँ एक स्वतंत्र शासक के रूप में अपनी सत्ता स्थापित कर ली। इसके पश्चात् हुसंगशाह 1406 ई. में मालवा का स्वतंत्र शासक बन गया। बाबर के आक्रमण के समय यहाँ का शासक सुल्तान महमूद था जो खिलजी वंश का था। राणा सांगा से भी इसका संघर्ष हुआ। आंतरिक झगड़ों से राज्य जर्जरित हो रहा था।

बंगाल भी एक स्वतंत्र राज्य था। मुहम्मद तुगलक के काल में ही यह एक स्वतंत्र राज्य घोषित हो गया था। बाबर के आक्रमण के समय नुसरतशाह इस प्रांत का शासक था। उसने अपने राज्य की सीमा का बिहार के तिरहुत तक विस्तार कर लिया था।

हालाँकि उत्तर भारत में अफगान एक शक्ति थे लेकिन पारस्परिक द्वेष एवं शत्रुता के कारण से उनमें एकता नहीं थी। इस कारण से वे संगठित होकर किसी भी विदेशी आक्रमण का सामना करने की स्थिति में नहीं थे।

दक्षिण के राज्य : दक्षिण भारत के दो महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली राज्य थे : बहमनी राज्य एवं विजयनगर। प्रथम मुस्लिम एवं द्वितीय हिन्दू राज्य था। तुगलक वंश की कमजोरी का लाभ उठाकर 1436 ई. में अलाउद्दीन हसन बहमन शाह ने स्वतंत्र राज्य की नींव रखी थी। लेकिन 1526 ई. में सुल्तान कलीमुल्लाशाह की मृत्यु के साथ ही इस राज्य का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। इसके पतन के पश्चात् पाँच राज्यों का उदय हुआ, जो बीजापुर, अहमदनगर, बशर, गोलकुंडा तथा बीदर थे। इनमें से बहमनी राज्य की स्थिति पर बाबर लिखता है जिसमें वह वहाँ के सरदारों के वर्चस्व का जिक्र करता है।

दक्षिण के राज्यों में विजयनगर अत्यंत शक्तिशाली एवं प्रभावशाली था। इस राज्य की स्थापना मुहम्मद तुगलक के समय में हरिहर एवं बुक्का नामक व्यक्तियो ने की थी। बाबर के आक्रमण के समय कृष्णदेवराय का शासन था। उसके शासन की प्रशंसा यूरोपीय यात्रियों ने की है। इसके पश्चात् इस राज्य का पतन आरंभ हो गया।

राजपूत राज्य : मेवाड़ में सिसोदिया राजवंश का इतिहास अति प्राचीन समय से था। यह राजपूताना में सबसे शक्तिशाली एवं गौरवशाली राज्य था। इस राजवंश में कई प्रतापी राजा हुए थे जिनमें राणा कुंभा मुख्य थे। बाबर के आक्रमण के समय राणा सांगा यहाँ की बागडोर संभाले हुए था, जिसका उत्तर भारत की राजनीति में भारी प्रभाव था। वह एक शक्तिशाली एवं प्रतापी शासक था। उसके पास एक विशाल सेना थी जिसके बल पर वह दिल्ली के दरवाजे पर लगातार दस्तक दे रहा था। इब्राहीम लोदी उसकी शक्ति से सशंकित रहता था। दिल्ली सल्तनत की निरंतर कमजोर होती स्थिति का वह लाभ उठाना चाहता था। वह अफगानों की सत्ता समाप्त करके हिन्दू राज्य स्थापित करना चाहता था।

इसी प्रकार मारवाड़ एवं आमेर के राज्य थे। इन दोनों में मारवाड़ के राठौड़ों का भी राजपूतों के मध्य काफी प्रभाव था। बाबर के आक्रमण के समय इस क्षेत्र का शासक राव गांगा था, जिसने इस विदेशी आक्रमण के विरुद्ध राणा सांगा की सहायता की थी।

पंजाब : यह राज्य पूर्व में दिल्ली सल्तनत का ही अंग था, लेकिन बाद में उसकी कमजोरी का लाभ उठाकर वहाँ का सूबेदार स्वतंत्र शासक की तरह शासन कर रहा था। बाबर के आक्रमण के समय इस क्षेत्र का शासक दौलतखाँ लोदी था। वह इब्राहीम लोदी की नीतियों से अप्रसन्न रहता था, क्योंकि उसने उसके पुत्र दिलावरखाँ को गिरफ्तार करने का प्रयास किया

था। दौलतखाँ इब्राहीम लोदी के इस व्यवहार से आशंकित तो हो गया था कि दिल्ली का सुल्तान उस पर आक्रमण करके पंजाब को उससे छीन सकता है। इस भय से सुरक्षा प्राप्त करने के लिए उसने बाबर के पास सहायता हेतु दूत भेजा।

इनके अतिरिक्त सिंध, मुल्तान, कश्मीर, जौनपुर, उड़ीसा एवं खानदेश आदि स्वतंत्र राज्य थे। बिहार में भी स्वतंत्र राज्य की स्थापना हो चुकी थी। यहाँ का शासक एक अफगान सरदार दरियाखाँ लोहानी था। उसके पश्चात् उसके पुत्र बहारखाँ ने इस राज्य की बागडोर सँभाली। वह इब्राहीम लोदी का कट्टर विरोधी था।

उपर्युक्त विवरण से भारत की राजनीतिक स्थिति की स्पष्ट तस्वीर देखने को मिलती है। सम्पूर्ण भारत छोटे–छोटे राज्यों में विभाजित था, जो एक–दूसरे के विरोधी थे। सभी राज्यों के स्वामी महत्त्वाकाँक्षी एवं लालची थे। सभी शासक अपने राज्यों की सीमाएँ बढ़ाने के लिए सदैव अवसर की तलाश में रहते थे। मेवाड़ का शासक दिल्ली सल्तनत के अस्तित्व के लिए सबसे बड़ा खतरा था। वहाँ का शासक राणा सांगा अफगान शासन की समाप्ति कर अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। पंजाब का शासक दौलतखाँ भी दिल्ली को कमजोर देखना चाहता था। इन अस्थिर राजनीतिक स्थितियों में विभाजित भारत पर कोई भी विदेशी आक्रमणकारी आसानी से सफलता प्राप्त कर सकता था। उस आक्रमण के संयुक्त विरोध की संभावनाएँ काफी क्षीण थीं। हुआ भी ऐसा ही। बाबर को इन परिस्थितियों का लाभ मिला।

बाबर के भारत के विरुद्ध सैनिक अभियान

भारत को विजय करने का बाबर का एक स्वप्न था जो उसके दिमाग से कभी भी ओझल नहीं हुआ। वह तैमूर द्वारा विजित क्षेत्र पर पुनः अपना आधिपत्य करना चाहता था। बाबर स्वयं अपनी आत्मकथा में लिखता है कि *1504 ई. में काबुल विजय से लेकर पानीपत विजय तक मैंने कभी भी हिन्दुस्तान की विजय को नहीं भुलाया था।*' अपनी विशाल सेना की व्यवस्था के लिए भी उसे भारत जैसे देश की आवश्यकता थी। इस प्रयोजन हेतु हालाँकि उसने 1505 ई. में ही हिन्दुस्तान के सीमावर्ती क्षेत्रों में अभियान की शुरुआत कर दी थी। अगले दो वर्षों तक उसने निन्नानाहर पर आक्रमण किया, लेकिन इन अभियानों का उद्देश्य वहाँ से लगान वसूली तक ही सीमित था।

बाबर द्वारा 1518 ई. में पंजाब के बाजौर एवं भीरा के विरुद्ध अभियानों को हिन्दुस्तान विजय की ओर प्रथम कदम माना जा सकता है क्योंकि वह इन क्षेत्रों पर अपना पैतृक अधिकार मानता था।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि बाबर ने 1519 ई. में पंजाब के बाजौर नामक स्थान पर विजय प्राप्त करके अपने अभियान प्रारंभ कर दी। उसने वहाँ के युसुफजाइयों को पराजित करके वहाँ के किले पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इसके बाद उसने झेलम नदी के किनारे बसे भीरा नामक स्थान पर कब्जा कर लिया एवं वहाँ से सियालकोट की तरफ आगे बढ़ा। *सियालकोट के प्रवेश–द्वारों में से एक था।* सियालकोट में प्रवेश के साथ ही बाबर की पंजाब पर आधिपत्य स्थापित करने की मंशा पूर्ण हो गई। इस स्थान से आगे बढ़ने से पूर्व ही उसे कंधार के शासक द्वारा उसकी सीमा पर आक्रमण करने की सूचना मिलने पर उसे वापिस लौटना पड़ा। उसके वापिस लौटते ही भीरा से बाबर के आधिपत्य को समाप्त कर दिया गया। इसी वर्ष उसने एक बार फिर भारत की ओर रुख किया लेकिन बदख्शाँ में उपद्रव की सूचना पाकर उसे फिर वापिस लौटना पडा।

1520 ई. का आक्रमण बाबर के लिए काफी सुखद रहा। इस बार उसने बाजौर एव भीरा पर विजय प्राप्त करके सियालकोट पर भी अपना कब्जा कर लिया। इसी समय कंधार में उपद्रव को दबाने हेतु उसे वापिस लौटना पड़ा। इन आक्रमणों से बाबर ने काफी अनुभव अर्जित कर लिए थे। उसने यह बात जान ली थी कि सिन्धु नदी पार करते ही पंजाब का रास्ता साफ हो जाएगा।

बाबर पंजाब के शासक दौलतखाँ से नाराज था जिसका कारण था उसके दूत मुल्ला शाह को इब्राहीम लोदी से मिलने भेजना एवं स्वयं का भी उससे मिलने से इंकार। 1519 ई. में बाबर ने अपने दूत को इब्राहीम लोदी के पास पश्चिमी पंजाब को बाबर को लौटाने का संदेश देकर भेजा था जो तैमूर द्वारा विजित क्षेत्र थे। दौलतखाँ ने बाबर के दूत को इब्राहीम एवं बाबर के मध्य संभावित समझौते के भय से रोका था क्योंकि इससे पंजाब का प्रभुत्व उसके हाथ से निकल कर किसी एक के हाथ में जाने का खतरा था।

भीरा एवं सियालकोट विजय के पश्चात् भारत में राजनीतिक घटनाएँ तेज हो गईं। दौलतखाँ पर इब्राहीम लोदी के हमले का खतरा सदैव मंडराता रहता था, जिसका कारण था बकाया राजस्व का उसके द्वारा भुगतान न किया जाना। उसने दिल्ली के खतरे को दूर करने के लिए अपने पुत्र दिलावरखाँ को 1521–22 ई. में बाबर के पास भेजा। उसने अपने पुत्र के माध्यम से इब्राहीम लोदी

पर आक्रमण करने का निमंत्रण दिया जिसके लिए दिल्ली के सुल्तान को आततायी एवं सिकन्दर के अमीरों की हत्या का कारण बताया। इसके लिए उसने अमीरों की भी सहमति की बात कही। दिल्ली सल्तनत का दूसरा दावेदार आलमखाँ भी काबुल में बाबर से मिला। इसी समय, बाबर के अनुसार, मेवाड़ के राणा सांगा द्वारा भी भारत पर आक्रमण करने का निमंत्रण मिला था।

इन निमंत्रणों की पृष्ठभूमि में सब लोगों का स्वार्थ कारण था। सभी का अनुमान था कि तैमूर की भाँति बाबर भी किसी नाममात्र के प्रतिनिधि को दिल्ली की गद्दी पर बिठाकर वापिस लौट जाएगा और उनका राज्य उनके पास ही रहने दिया जाएगा। दौलतखाँ का मुख्य हित पंजाब पर अपने आधिपत्य को बनाए रखना था। वह बाबर द्वारा माँगे गए क्षेत्रों को उसे देने को तैयार था। लेकिन यह असम्भव था। जैसे–जैसे बाबर की पकड़ मजबूत होती गई, वैसे–वैसे उसके दावे बढ़ते चले गए।

दौलतखाँ का निमंत्रण बाबर के लिए एक स्वर्णिम अवसर था। उसने इसका लाभ उठाते हुए लाहौर एवं दीपालपुर पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। लाहौर में इब्राहीम की सेना को पराजित करने का अवसर मिला। दौलतखाँ को जालन्धर एवं सुल्तानपुर के दो जिले ही बाबर ने प्रदान किए, जिससे उसको भारी निराशा हुई। उसके पुत्र दिलावरखाँ से बाबर बहुत प्रसन्न था क्योंकि उसने अपने ही पिता के लालची होने की शिकायत बाबर से की थी। इससे प्रसन्न होकर दौलतखाँ को दिए गए जालंधर एवं सुल्तानपुर उसके पुत्र दिलावरखाँ को प्रदान कर दिए गए। दौलतखाँ को कैद करके काबुल के मार्ग में छोड़ दिया गया। इसी तरह दीपालपुर का क्षेत्र आलमखाँ को दे दिया गया। बाबर इन सफलताओं के पश्चात् वापिस काबुल लौट गया।

बाबर के लौटते ही दौलतखाँ ने दिलावरखाँ से सुल्तानपुर एवं इब्राहीम लोदी ने आलमखाँ से दीपालपुर छीन लिया। दौलतखाँ ने पूरे पंजाब पर अधिकार करने का प्रयास किया लेकिन सियालकोट में उसे बाबर की सेना से मात खानी पड़ी। पराजित आलमखाँ भागकर काबुल में बाबर से मिला। उन दोनों के मध्य एक समझौता हुआ जिसके अनुसार आलमखाँ दिल्ली की राजगद्दी के बदले बाबर को पश्चिमी पंजाब एवं लाहौर दे देगा। ऐसा प्रतीत होता है कि आलमखाँ एक अस्थिर बुद्धि का व्यक्ति था। क्योंकि जैसे ही काबुल से पंजाब लौटा, वह दौलतखाँ की चालाकी का शिकार हो गया। दोनों ने मिलकर दिल्ली पर आक्रमण किया, जहाँ उन्हें इब्राहीम लोदी की सेना ने पराजित कर दिया।

इब्राहीम लोदी के साथ संघर्ष एवं पानीपत का प्रथम युद्ध

अब यह स्पष्ट होता जा रहा था कि इब्राहीम लोदी एवं बाबर के मध्य युद्ध को टालना असम्भव है। इब्राहीम लोदी किसी भी स्थिति में बाबर को पंजाब नहीं देना चाहता था, क्योंकि इससे गंगा के क्षेत्रों में आगे बढने का आधार मिल जाएगा। दिल्ली के सुल्तान ने बाबर को पंजाब में रोकने का प्रयास न करके भारी भूल की थी। पंजाब में अपने पैर जमाने के पश्चात् बाबर दिल्ली की तरफ बढा तब इब्राहीम की आँख खुली। बाबर एक सुगठित विशाल सेना के साथ दिल्ली की ओर आगे बढ़ा। हुमायूँ एवं हिसार–फिरोजा के शिकदार हामिदखाँ के मध्य प्रथम आमना–सामना हुआ जिसमें हुमायूँ को सफलता मिली। उसने विरोधी सेना के सौ लोगों को बंदी बना लिया था, जिनको बाबर के आदेशानुसार तोपों से उड़ा दिया गया ताकि अन्य विरोधी भयभीत हो सकें। इसी बीच दिल्ली के सुल्तान के आगे बढ़ने का समाचार मिला। यह खबर सुनकर बाबर भी तेजी से पानीपत की ओर चला। मार्ग में अफगान शक्ति को कुचलता हुआ वह 12 अप्रैल, 1526 ई. को पानीपत पहुँच गया जहाँ इब्राहीम लोदी की सेना पहले से ही मौजूद थी।

दोनों की सेना की संख्या को लेकर काफी विवाद है। बाबर ने स्वयं ने अपनी आत्मकथा में सैनिकों की संख्या के बारे में नहीं लिखा है। कहा जाता है कि इब्राहीम की सेना में 1 लाख से अधिक सैनिक थे, जो अतिशयोक्तिपूर्ण लगता है। कुछ इतिहासकार केन्द्रीय एवं अफगान सरदारों के सैनिकों की संख्या पचास हजार के करीब बताते हैं। इसके ठीक विपरीत, बाबर के सैनिकों की संख्या कम थी, परन्तु संगठित थी। अबुलफजल बाबर के सैनिकों की संख्या बारह हजार लिखता है जबकि रशबुक विलियम्स मात्र आठ हजार की संख्या बताते हैं। संख्या कितनी भी रही हो, लेकिन एक बात निश्चित तौर पर कही जा सकती है कि बाबर की सेना सुगठित, अनुशासनबद्ध एवं पूर्ण प्रशिक्षित थी। उसकी सेना की सबसे बड़ी विशेषता घुड़सवार सैनिकों के अतिरिक्त उसका तोपखाना था। बाबर प्रथम बार अपने विरोधी के विरुद्ध तोपखाने का उपयोग करने जा रहा था। इसके कारण से निश्चित ही बाबर की सेना की शक्ति बढ़ी थी एवं सैनिकों के आत्मविश्वास में भी मजबूती आई थी।

पानीपत पहुँचकर बाबर ने उस क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति का गहराई से अध्ययन किया। सर्वप्रथम उसने मैदान में खाइयाँ खोद कर एवं पेड़ों की ऊँची दीवार खड़ी करके अपनी सेना की सुरक्षा की मजबूत व्यवस्था की। खाइयों के सामने उसने बैलगाड़ियों से दीवार खड़ी की। चमड़े के रस्सों से गाड़ियों को एक–दूसरे से बाँध दिया गया। प्रत्येक दो गाड़ियों के मध्य तख्ते खड़े कर दिए गए, जिनके

पीछे खड़े होकर तोपची आसानी से गोले दाग सकें। हर दो गाड़ियों के मध्य सैनिकों के आने–जाने का रास्ता छोड़ दिया गया। इस प्रकार बाबर ने युद्ध के मैदान में अपनी व्यूहरचना की, जिसे वह 'ओटोमन' या 'रूमी' व्यूहरचना कहकर पुकारता है। बाबर की सेना दाहिने, मध्यम, बायें एवं अग्रिम पंक्तियों में विभक्त थी। इसके अतिरिक्त उसने 'तुलुगमा' पद्धति से भी व्यवस्था की थी।

युद्ध के लिए तैयार दोनों ओर की सेनाएँ एक सप्ताह तक आमने–सामने डटी रहीं। बाबर की सेना द्वारा उकसाने पर भी इब्राहीम की सेना आगे नहीं बढ़ी। कोई हरकत न देखकर बाबर की सेना ने अन्त में 19–20 अप्रैल की रात में इब्राहीम की सेना पर आक्रमण कर दिया। इस हमले का प्रतिरोध करने के लिए दिल्ली की सेना को आगे आना पड़ा। इसके परिणामस्वरूप 21 अप्रैल, 1526 को सुबह दोनों सेनाओं में भयंकर संघर्ष हुआ। इब्राहीम की सेना आगे बढ़ी लेकिन बाबर की व्यूहरचना देखकर पीछे हट गई। बाबर ने अपने तुलुगमा के नायकों को शत्रु के अगले एवं पिछले भाग पर धावा बोलने का आदेश दिया। आदेश पाकर बाबर की सेना ने अफगान सेना पर आक्रमण कर दिया। बाबर की सेना ने तीरों एवं गोलों की बारिस कर दी। तोपों के मुँह से उगलती आग और तीरों की मार ने अफगान सेना को हतप्रभ एवं आश्चर्यचकित कर दिया। दोपहर तक घमासान युद्ध चला। इब्राहीम ने काफी वीरता से मुकाबला किया एवं अन्त में अपने साथियों के साथ युद्ध के मैदान में ही मारा गया जिसमें ग्वालियर का शासक विक्रमजीत सेन भी था। सुल्तान की मौत की खबर से अफगान सेना में दहशत फैल गई एवं परिणामतः सेना भाग खड़ी हुई। भागती सेना का बाबर की सेना ने दिल्ली तक पीछा किया। कुछ ही घंटों के इस युद्ध ने भारत के भाग्य का फैसला कर दिया। इस युद्ध के बारे में विजयी बाबर ने अपने ग्रंथ 'बाबरनामा' में लिखा है कि, 'सर्वशक्तिमान परमात्मा की असीम अनुकंपा से यह कठिन कार्य मेरे लिए सुगम बन गया और यह विशाल सेना आधे दिन में ही धूल में मिल गई।' डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी के अनुसार, 'बाबर की सफलता के कारण थे नेतृत्व का कौशल, वैज्ञानिक रणकला, उन्नत अस्त्र और सौभाग्य।' इस युद्ध से लोदी वंश का सूरज हमेशा के लिए अस्त हो गया। इसके स्थान पर भारत के आकाश में मुगलवंशरूपी सूर्य का उदय हो गया।

पानीपत युद्ध के परिणाम

पानीपत का यह युद्ध भारत के निर्णायक युद्धों में से एक था। इस युद्ध के परिणाम भारत एवं बाबर के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं दूरगामी थे। इस युद्ध से लोदीवंश का अंत एवं एक नवीन राजवंश का उदय हुआ। दिल्ली सल्तनत पर बाबर का पूर्ण नियंत्रण हो गया। इस युद्ध के पश्चात् इस वंश का लगभग तीन शताब्दियों तक भारत पर शासन रहा। बाद में इनके ही हाथों से अंग्रेजों ने भारत की सत्ता छीनी। इस वंश ने भारतीय इतिहास के समग्र विकास में अपूर्व योगदान दिया।

पानीपत के युद्ध से पंजाब से लेकर आगरा एवं जौनपुर तक का सम्पूर्ण क्षेत्र बाबर के आधीन हो गया। इसमें संदेह नहीं कि बाबर को अपनी स्थिति को स्थाई एवं दृढ़ करने के लिए और भी युद्ध करने पड़े परन्तु भारत में मुगलवंश की नींव इसी विजय ने डाल दी थी। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि मध्य एशिया में घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करनेवाला, फरगना जैसी छोटी सी रियासत का पूर्व शासक भारत में मुगल साम्राज्य का संस्थापक बन गया। साहसिक एवं वीर व्यक्ति इसी प्रकार के कार्यों का सूत्रपात करते हैं। बाबर ने भी यही किया एवं इतिहास में अमर हो गया।

पानीपत युद्ध में बाबर की सफलता के कारण

दिल्ली सल्तनत जैसी स्थापित एवं स्थाई सल्तनत का मध्य एशिया के एक साहसी के हाथों पराजित हो जाना वास्तव में अद्भुत घटना थी। लोदियों की विशाल सेना को बाबर की छोटी–सी सेना द्वारा पराजित करना निश्चित इतिहास में एक आश्चर्यजनक घटना थी। इस युद्ध में बाबर की सफलता के कारणों की जाँच करना परमावश्यक है। मध्य एशिया के इस सौभाग्यशाली शासक की सफलता के निम्न कारण थे –

बाबर का सैन्य कौशल

बाबर एक कुशल सेनानायक एवं अनुभवी राजनीतिज्ञ था। उसने मध्य एशिया एवं अफगानिस्तान में लड़ गए युद्धों से काफी सीख ली थी। उसमें कठिनाइयों का सामना करने की असीम शक्ति थी। उसने कभी भी मुसीबत के समय हार नहीं मानी। उसने मध्य एशिया के युद्धों से ही अपने युद्ध की पद्धति सीखी थी। इब्राहीम से युद्ध के पूर्व उसने मध्य एशिया के युद्ध की पद्धति अपनाई थी। इस युद्धप्रणाली का उसने प्रथम बार यहाँ उपयोग किया, जिसमें उसे अंतिम एवं शीघ्र सफलता मिली। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कुशल सैन्य–संचालन ही बाबर की सफलता का कारण बना।

इब्राहीम लोदी का दुर्बल व्यक्तित्व

बाबर की तुलना में इब्राहीम लोदी की कई चारित्रिक दुर्बलताएँ थीं। वह अदूरदर्शी एवं संदेहशील चरित्र का व्यक्ति था। वह सही या गलत का निर्णय नहीं कर पाता था। उसकी दमनकारी नीतियों के कारण से प्रभावशाली अफगान अमीर नाराज रहते थे। आलमखाँ, दौलतखाँ एवं दरियाखाँ जैसे अमीर उसके कट्टर शत्रु थे। इसी कारण से बाबर के आक्रमण के समय अधिकाँश उसके विरोधी रहे। इसके अतिरिक्त सैन्य–कौशल का भी उसमें अभाव था। उसमें बाबर जैसे एक सेनानायक के गुण भी नहीं थे। बाबर ने भी उसकी अयोग्यता का युद्ध क्षेत्र में लाभ उठाया।

बाबर द्वारा तोपखाने का प्रयोग

पानीपत युद्ध में बाबर की सफलता का एक कारण युद्ध के नए साधनों एवं तकनीक का प्रयोग रहा। बाबर ने इब्राहीम लोदी के विरुद्ध तोपखाने का प्रभावी उपयोग किया था। हालाँकि नई शोध के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत के लोग बारूद के उपयोग से परिचित थे लेकिन युद्ध में व्यापक एवं प्रभावी प्रयोग नहीं होता था। इसीलिए इब्राहीम ने अपनी सेना में तोपखाने को स्थान ही नहीं दिया था। जबकि बाबर की सेना में तोपखाने का एक अलग विभाग था। इस विभाग के अलग अधिकारी थे। तोप चलानेवाले सैनिकों को पूर्ण प्रशिक्षण दिया जाता था। इस प्रकार तोप चलाने में प्रशिक्षित सेना के सम्मुख इब्राहीम की सेना के पाँव उखड़ गए। इस प्रकार कहा जा सकता है कि पानीपत के युद्ध की विजय में बाबर के तोपखाने की मुख्य भूमिका थी।

लोदियों की दोषपूर्ण सैन्य व्यवस्था

बाबर के मुकाबले इब्राहीम लोदी का सैन्य संगठन अत्यंत दुर्बल एवं अव्यवस्थित था। उसने युद्ध के नए साधनों एवं तकनीकों को अपनी सेना में स्थान नहीं दिया था। उसकी सेना में प्रशिक्षण की नितान्त कमी प्रतीत होती है। इब्राहीम की सेना की भक्ति अपने–अपने सरदारों तक सीमित थी। वह एकसूत्र में बँधी सेना नहीं थी। व्यूहरचना भी पुरानी पद्धति की थी। उसने व्यूहरचना में परम्परागत तरीके से घुड़सवारों की बनिस्पत हाथियों को अधिक प्राथमिकता दी। इसके अतिरिक्त इब्राहीम की सबसे बड़ी भूल थी आक्रामक रणनीति का न अपनाया जाना। वह बाबर की सेना का इंतजार करता रहा। उसने बाबर की सेना पर आक्रमण की नीति न अपनाकर रक्षात्मक नीति अपनाई, जिससे बाबर को तैयारी का पूर्ण समय मिल गया। यही गलती उसके लिए घातक सिद्ध हुई। इसकी जगह उसने आक्रामक नीति अपनाई होती तो पासा पलट गया होता। इस प्रकार उसकी सैन्य अनुभवहीनता बाबर की सफलता का एक बड़ा कारण बनी।

इन महत्त्वपूर्ण कारणों के अतिरिक्त अन्य कारण भी थे, जिनमें मुख्य थे भारतीय राजनीति में पारस्परिक फूट एवं वैमनस्यता एवं बाबर की सेना में अति उत्साह आदि। कुल मिलाकर पानीपत युद्ध में बाबर की सफलता एक परिवर्तनकारी सफलता थी।

पानीपत के युद्ध के पश्चात् बाबर की समस्याएँ

डॉ. सतीशचन्द्र के अनुसार 'पानीपत के युद्ध के पश्चात् बाबर को कई गम्भीर समस्याओं का सामना करना पड़ा। प्रथम चिंता लोदियों द्वारा संगृहीत विशाल कोष पर कब्जा करने की थी। इसके लिए उसने कुछ दलों को आगरा एवं दिल्ली भेजा। विशाल खजाने के हाथ में आते ही उसने हुमायूँ एवं उसके भाइयों को उदारतापूर्वक इनाम प्रदान किए।' बाबर के सामने अब मुख्य समस्या अपने जीते हुए प्रदेशों को संगठित करने और लोदीवंश के अधीन अन्य क्षेत्रों को अपने अधिकार में करने की थी। इब्राहीम लोदी की हार व मृत्यु के पश्चात् विभिन्न अफगान सरदारों ने अपने को स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया था। कासिमखाँ ने सम्भल में, निजामखाँ ने बयाना में, हसनखाँ ने मेवात में, मुहम्मद जैतून ने धौलपुर में, तातारखाँ ने ग्वालियर में, कुतुबखाँ ने इटावा में, हुसैनखाँ ने रापरी में, आलमखाँ ने कालपी में और बहारखाँ ने सुल्तान मुहम्मद के नाम से बिहार में अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली थी। इब्राहीम लोदी का छोटा भाई महमूद लोदी अफगानों और राजपूतों की सहायता लेकर बाबर को भारत से निकालने के लिए प्रयत्नशील था।

जनविद्रोह की समस्या : इसके अतिरिक्त जनसामान्य में विद्रोह की सबसे बड़ी समस्या थी। जगह–जगह विद्रोह हो रहे थे। बाबर स्वयं लिखता है कि दिल्ली और आगरा को छोड़कर अनेक स्थानों के निवासियों और प्रशासकों ने किलेबंदी कर ली थी तथा मुगलों का सामना करने की तैयारी कर रहे थे। जनता मुगल सेना के भय से अपने गाँव छोड़कर भाग रही थी।

मेवाड़ के सिसोदिया शासक राणा सांगा की समस्या : अफगानों के अतिरिक्त बाबर को राजपूतों से भी खतरा था। मेवाड़ के राणा सांगा मुगलों को मार भगाने एवं 'हिंदू राज्य' की स्थापना के लिए प्रयत्नशील था। उसने अपना प्रभाव आगरा के समीप पीलिया खार

नदी तक बढ़ा लिया था। उसे अनेक अफगान सरदार भी अपना समर्थन दे रहे थे। यह अत्यंत ही खतरनाक स्थिति थी यदि अफगान और राजपूत एक साथ मिल जाते तो फिर बाबर का भारत में टिकना मुश्किल हो जाता। अतः राजपूतों की शक्ति को कुचलना बाबर के लिए नितांत आवश्यक था। राणा सांगा अपने सैनिक कौशल एवं शौर्य के लिए बहुत प्रसिद्ध था।

इन कठिनाइयों का मुकाबला करने का उसने निर्णय लिया। अपने सैनिकों की हिम्मत को बढ़ाया। इसी निश्चय के साथ उसने अफगानों एवं राजपूतों का मुकाबला करने का मन बना लिया।

राणा सांगा के साथ संघर्ष एवं खानवा का युद्ध (16 मार्च, 1527 ई.)

मेवाड़ के राणा सांगा ने असंख्य युद्धों में विजय के पश्चात् राजपूताना में अपनी स्थिति सर्वोपरि बना ली थी। पानीपत युद्ध के पश्चात् बाबर ने भारत में रहने का निर्णय कर लिया। इस निर्णय से राणा सांगा एवं बाबर का संघर्ष युद्ध अनिवार्य हो गया। मेवाड़ का राणा दिल्ली पर अपना शासन स्थापित करना चाहता था। इसलिए बाबर के निर्णय से इब्राहीम लोदी के स्थान पर मुगल विजेता सबसे मुख्य शत्रु हो गया। इस नवीन शत्रु को पराजित करने हेतु उसने अफगानों के साथ मिलकर संयुक्त मोर्चा बनाना प्रारंभ कर दिया। हसनखाँ मेवाती, महमूद लोदी एवं आलमखाँ को अपनी ओर मिला लिया।

राजपूत–अफगान गठबंधन की सूचना से बाबर का चिन्तित होना स्वाभाविक था। इसीलिए बाबर ने भी राणा सांगा से युद्ध अनिवार्य समझ तैयारियाँ प्रारंभ कर दी। राणा सांगा पहले से ही तैयारियों में व्यस्त था। रणथंभोर के समीप कंदर के गवर्नर बाबर में बयाना पर राणा के आधिपत्य ने बाबर की चिन्ता को बढ़ा दिया। इसलिए उसने पुत्र हुमायूँ को शीघ्र आगरा पहुँचने के आदेश दिया। कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि सांगा की शक्ति को देखकर बाबर भयभीत हो उठा और उसने रायसेन के शासक सिलहदी तंवर के माध्यम से संधि करनी चाही, परन्तु राणा ने इसे अस्वीकार कर दिया। अब सांगा बयाना के सैनिक महत्व के दुर्ग की ओर बढ़ा, जिस पर बाबर ने अधिकार कर लिया था। कुछ ही समय में राजपूतों ने बयाना पर अधिकार कर लिया। महदी ख्वाजा और अन्य अफसर कुछ बचे हुए सैनिकों के साथ–साथ भागकर बाबर के पास पहुँचे जिन्होंने राजपूत सेना की भीषणता और वीरता की भूरि–भूरि प्रशंसा की। बाबर स्वयं अपनी आत्मकथा में लिखता है कि इन लोगों ने राजपूतों की वीरता की चर्चा कर सेना में सनसनी फैला दी। राणा को आगे बढ़ने से रोकने हेतु बाबर ने सीकरी में अपना पड़ाव डालने के लिए अब्दुल अजीज के नेतृत्व में 1,500 सैनिकों का एक दस्ता आगे भेजा किन्तु वह भी राणा के दस्ते के हाथों कुचल डाला गया।

अब बाबर के लिए आवश्यक हो गया था कि वह किसी तरह अपने साथियों का साहस बढ़ाये। अपने सैनिकों के मनोबल को बढ़ाने के लिए उसने बहुत ही नाटकीय ढंग से सभी के सम्मुख कभी शराब न पीने की शपथ ली। शराब के प्याले व बहुमूल्य पात्र तुड़वा दिए तथा बची हुई शराब को जमीन पर उड़ेल दिया। उसने मुसलमानों पर से 'तमगा' नामक कर हटा दिया। अपने सैनिकों के सम्मुख एक जोशीला भाषण दिया, युद्ध के पश्चात् स्वदेश जाने के इच्छुक सैनिकों को वापस जाने देने का आश्वासन दिया और युद्ध को 'जिहाद' (इस्लाम की रक्षा के लिए धर्मयुद्ध) घोषित किया। बाबर के इन कार्यों का वांछित प्रभाव पड़ा। उसके सभी सैनिकों व सरदारों ने 'कुरान' पर हाथ रखकर शपथ ली कि वे मरते दम तक युद्ध करेंगे।

डॉ. बी. एल. गुप्ता एवं डॉ. पेमाराम ने युद्ध के बारे में लिखा है कि, इसके बाद बाबर खानवा पहुँचा और वहाँ अपनी सेना का गठन किया। कुछ समय बाद राणा सांगा भी अपनी सेना के साथ वहाँ पहुँच गया। 16 मार्च 1527 ई. को सुबह करीब साढ़े नौ बजे युद्ध आरंभ हुआ और संध्या तक होता रहा। बाबर ने वही नीति अपनाई, जो उसने पानीपत के युद्ध में अपनायी थी। अन्तर केवल इतना ही था कि अबकी बार गाड़ियों की पंक्तियों को चमड़े के स्थान पर लोहे की जंजीरों से बांध दिया गया था। दूसरा, तोपों को साहियदों तिपाइयों पर रखा गया था ताकि ये आगे–पीछे संचालित हो सकें। सेना की व्यवस्था में एक विशेषता यह थी कि उसका एक बहुत बड़ा हिस्सा पीछे छोड़ रखा था ताकि समय पर काम आ सके। बाबर सेना के मध्य में, हुमायूँ दाहिने हिस्से का और महदीख्वाजा बाएं पार्श्व का संचालन कर रहे थे। सेना में लगभग 40,000 सैनिक थे, जबकि राणा के पास लगभग 80,000 सैनिक थे।

राणा ने अपने सैनिकों को मुगलों पर आक्रमण करने का आदेश दिया। राजपूतों ने सम्परागत युद्धशैली को अपनाते हुए मुगल तोपखाने तथा घुड़सवारों का साहस और शौर्य से मुकाबला किया। पहले तो अपनी संख्या और वीरता के बल से राजपूत विजेता मालूम हुए, किन्तु शाम को लड़ाई का रुख पलट गया और राजपूतों की बड़ी बुरी हार हुई। उनका बड़ा भयंकर संहार हुआ। बची हुई सेना छिन्न–भिन्न हो गई। राजपूतों के लिए मुगलों का तोपखाना भयंकर सिद्ध हुआ। राणा सांगा स्वयं घायल होकर बेहोश हो गया और कुछ सरदार उसे पालकी में डालकर युद्ध–भूमि से बाहर ले गए। बाबर ने एक बार फिर निर्णायक विजय प्राप्त की। उसने अपने विजय–चिन्हस्वरूप राजपूतों के सिरों पर एक स्तूप (ढेर) बनवाया और गाजी (धर्मयुद्ध का विजेता) की उपाधि धारण की।

राजपूतों की हार एवं बाबर की विजय के कारण

डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी ने राजपूतों की हार एवं बाबर की विजय के कारण निम्न शब्दों में बयान किए हैं, 'इस बार फिर उत्कृष्ट नेतृत्व, धैर्य, रण–कौशल और तोपों की सहायता से विजयश्री बाबर के हाथ लगी। यदि राणा सांगा ने बाबर को तैयारी का अवसर न दिया होता तो बयाना–विजय के पश्चात् तुरन्त ही बाबर पर टूट पड़ता तो परिणाम दूसरा ही होता। इसके विपरीत भाग्य ही उसका विपरीत था। युद्ध के प्रारम्भ में ही वह घायल हो गया और चेतनाशून्य दशा में रणक्षेत्र के बाहर ले जाया गया। सेना में घबराहट रोकने के लिए झाला अज्जा नामक व्यक्ति शीघ्रतापूर्वक राजकीय सामग्री से सजाकर उसके हाथी पर बिठा दिया गया। परन्तु वे उसकी योग्यता, अनुभव और नेतृत्व से ही वंचित तो रहे ही।'

बाबर की नवीन युद्ध–प्रणाली के विरुद्ध राणा की परम्परागत रूढ़िवादी सैन्य–व्यवस्था निर्बल सिद्ध हुई। फिर बाबर की तुलुगमा पद्धति बड़ी कारगर सिद्ध हुई। बाबर के तोपखाने एवं अश्वारोहियों का तारतम्य इतना अच्छा था कि उसके सामने राणा के हाथियों व पैदलों की कतारें निरर्थक सिद्ध हुईं। राजपूत सेना एक नेता के अधीन भी संगठित नहीं थी, बल्कि विभिन्न राजपूत राजाओं के अधीन थी, जिनमें 7 राजा, 9 राव और 104 छोटे–मोटे सरदार थे। इन लोगों की अपनी–अपनी परम्परा थी तथा इनकी युद्ध–प्रणाली में आपसी तालमेल का अभाव था। राजपूतों में पैदल सेना की संख्या अधिक थी, जो बाबर के घुड़सवारों की तुलना में घटिया उतरते थे। एक बहुत बड़ा कारण राणा की हार का बाबर का तोपखाना भी था, जिसके सामने राजपूतों के हथियार कारगर सिद्ध न हो सके। मुगलों की सैनिक मोर्चाबन्दी और गाड़ियों की कतार से दुर्गतुल्य फौज की सुरक्षा की व्यवस्था सांगा के लिए नई चीज थी। इन सब कारणों से राणा सांगा की हार का होना अवश्यम्भावी था।

खानवा-युद्ध के परिणाम

राणा सांगा के विरुद्ध खानवा के युद्ध में बाबर की पराजय के दूरगामी परिणाम हुए, जिनके बारे में आर. पी.त्रिपाठी ने लिखा है कि, 'राजपूत संगठन का अस्तित्व जाति, बंधुत्व, धर्म या संस्कृति के किसी बौद्धिक आधार पर न था, वह केवल उदयपुर घराने के ऐश्वर्य, उसके लड़ाकू नेताओं की सैनिक या कूटनीतिक विजयों पर आधारित था। इस घराने का नैतिक ऐश्वर्य अस्त हुआ तो राजपूत संगठन भी विकृत हुआ।.....खानवा की विजय ने मुगल साम्राज्य के बीजारोपण के मार्ग से बहुत बड़ी बाधा हटा दी।'

पानीपत के युद्ध ने बाबर को भारत में पाँव रखने का मौका प्रदान किया, परन्तु खनुआ ने उसे पाँव फैलाने का अवसर प्रदान किया। खनुआ के पश्चात् उसे अपना राज्य खोने का भय नहीं था, उसकी स्थिति अब सुदृढ़ हो चली थी। पानीपत में एक अयोग्य और दुर्बल अफगान सुल्तान की पराजय हुई थी परंतु खनुआ में वीर राणा सांगा के साथ–साथ राजपूत–अफगानों का 'संयुक्त मोर्चा' भी समाप्त हो गया। राजपूतों की शक्ति को गहरा धक्का लगा। भारत में 'हिंदू राज्य' स्थापित करने का उनका स्वप्न भंग हो गया। बाबर की स्थिति अब अत्यधिक सुरक्षित हो गई। बाबर को अभी अनेक युद्ध करने थे, तथापि ये युद्ध राज्य–विस्तार के लिए थे, उसकी गद्दी के लिए नहीं।' इस युद्ध का महत्त्वपूर्ण परिणाम यह भी हुआ कि बाबर की शक्ति का आकर्षणकेंद्र अब आगरा–दिल्ली बन गया, काबुल नहीं। खनुआ के युद्ध में राजपूतों की पराजय से मुगल अब समझ गए कि राजपूतों को भी आसानी से परास्त किया जा सकता है। उनके दिल से राजपूतों की सैनिक श्रेष्ठता एवं वीरता का भय जाता रहा। इससे बाबर के राज्य–विस्तार का रास्ता साफ हो गया।

राजपूतों के अंतिम शासक चँदेरी के मेदनीराय पर विजय (28 जनवरी, 1528 ई.)

यद्यपि खानवा के युद्ध में राजपूत शक्ति को गहरी क्षति पहुँची, तथापि इससे राजपूत शक्ति का सर्वनाश नहीं हो गया। राणा सांगा की तरह चँदेरी का शासक भी एक वीर राजपूत शासक था। राजपूताना पर अधिकार करने से पूर्व बाबर का इसके साथ संघर्ष होना अनिवार्य था, क्योंकि राणा के साथ ही मेदिनीराय भी राजपूतों को संगठित करने का प्रयास कर रहा था। अतः खनुवा के पश्चात् बाबर ने विद्रोहियों के दमन का निश्चय किया। चन्देरी व्यापार और सामरिक – दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। वह मालवा और बुन्देलखण्ड की सीमा पर स्थित था और मालवा तथा उत्तर भारत की मुख्य सड़क वहाँ से गुजरती थी। चन्देरी पहले मालवा के अधीन था, परन्तु बाद में वहाँ के शासक मेदिनीराय ने राणा सांगा की अधीनता स्वीकार कर ली थी और खानवा के युद्ध में सांगा की ओर से भाग लिया था। बाबर चन्देरी पर अधिकार करना चाहता था, क्योंकि चन्देरी पर अधिकार करने से वह गंगा–यमुना के दोआब और राजपूताने पर दृष्टि रख सकता था और मालवा को जीतने में भी सुविधा हो सकती थी।

अब बाबर चँदेरी की तरफ बढ़ा। उसने मेदिनीराय को अपने पक्ष में मिलाने एवं चँदेरी के बदले शम्साबाद देने का प्रस्ताव रखा परन्तु मेदिनीराय ने बाबर के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। क्रुद्ध होकर बाबर ने चँदेरी का दुर्ग घेर लिया। राजपूत दुर्ग की रक्षा नहीं कर सके। उन्हें पराजित होना पड़ा। अनेक राजपूत मारे गए। बाबर का चँदेरी पर 28 जनवरी, 1528 ई. को अधिकार हो गया।

इस युद्ध के बारे में बाबर अपनी आत्मकथा में लिखता है कि 'ईश्वर की कृपा से दो–तीन घ[illegible] म मैंने इस प्रसिद्ध दुर्ग [illegible] न मैंने झण्डा ऊँचा किया, न नक्कारे बजाए और न अपनी पूरी शक्ति लगाई। चन्देरी स[illegible]र–पश्चिम की ओर एक पहाड़ी [illegible] पर मैंने काफिरों के सिरों का एक मीनार बनवाया। चँदेरी मैंने मालवा राज्य–वंश के एक [illegible] शज अहमदशाह को दे दी [illegible] तय हुआ कि उसके द्वारा प्रतिवर्ष शाही कोष में पचास लाख रुपये जमा किए जाएंगे।'

चँदेरी को जीतने के बाद बाबर अपने को सुरक्षित महसूस करने लगा। उसने अपने उन अधिकारियों को काबुल लौट जाने की अनुमति दे दी, जिनका स्वास्थ्य खराब हो गया था। हुमायूँ को बदख्शाँ का भार सँभालने के लिए भेज दिया गया।

भारत में बिखरी अफगान शक्ति का दमन एवं घाघरा का युद्ध (6 मई, 1529 ई.)

राजपूतों पर अपना प्रभाव स्थापित करने के पश्चात् बाबर ने पुनः अफगान विद्रोहियों की ओर ध्यान दिया। जिस समय बाबर चंदेरी अभियान में व्यस्त था, अफगानों ने अवध में विद्रोह कर दिया। शम्साबाद और कन्नौज पर अधिकार कर वे आगरा–विजय को असम्भव बना रहे थे। अफगानों के हौसले बढ़े हुए थे। बाबर अब अफगानों को और अधिक मौका देना नहीं चाहता था; अतः चंदेरी विजय के पश्चात् उसने अफगानों पर अपना ध्यान केंद्रित किया।

डॉ. बी. एल. गुप्ता एवं डॉ. पेमाराम ने अफगान शक्ति के दमन के बारे में लिखा है कि 'अफगानों के विद्रोह को सदा के लिए समाप्त करने की उत्सुकता से बाबर ने उनसे युद्ध करने का निश्चय किया। उसने पत्र–व्यवहार के द्वारा बंगाल के शासक नुसरतशाह से समझौता करने का प्रयत्न किया जिससे वह महमूद लोदी और उसके समर्थकों की सहायता न करे। परन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला। अन्त में 6 मई, 1529 ई. को घाघरा के तट पर अफगानों से युद्ध हुआ। इस घमासान लड़ाई में दोनों ने एक दूसरे की संप्रभुता और सीमाओं को स्वीकार कर लिया। नुसरतशाह ने यह वायदा किया कि वह बाबर के विरोधियों को शरण नहीं देगा।

घाघरा का युद्ध भारत में बाबर का अंतिम युद्ध था। भारत में लड़े गए युद्धों के परिणामस्वरूप बाबर एक बड़े राज्य का स्वामी बन गया। भारत में बाबर का अधिकाँश समय युद्धों में व्यतीत हुआ। वह प्रशासनिक व्यवस्था की ओर ध्यान नहीं दे सका। इन युद्धों में बाबर बहुत थक चुका था, जिसका प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर भी पड़ा था। ऐसे में हुमायूं की बीमारी से उसकी चिंता और अधिक बढ़ गई। इसी बीच बाबर स्वयं बीमार पड़ गया एवं 23 दिसंबर, 1530 ई. को उसने इस संसार से विदा ले ली।

बाबर की चारित्रिक विशेषताओं एवं उसके कार्यों का मूल्यांकन

बाबर की भारत–विजय से उसकी अनेक चारित्रिक विशेषताएँ उजागर होती हैं। उसकी [illegible] विशेषताओं की ओर डॉ. [illegible] ने संकेत करते हुए लिखा है कि 'बाबर में अपूर्व प्रतिभा एवं योग्यता थी। कदाचित् ही किसी तैमूर वंशज में इतने अधिक [illegible] का समन्वय हुआ हो। उसमें हार्दिक उदारता, दया, दानशीलता, सहानुभूति और सरलता के व्यक्तिक सद्गुण स्वाभाविक रूप [illegible] वे आगे उसकी साहित्यिक प्रतिभा के बारे में लिखते हैं कि 'उसे कुशाग्रबुद्धि और बहुमुखी सांस्कृतिक निधि प्राप्त थी। [illegible] अरबी का विद्वान होकर वह तुर्की भाषा का भी अधिकारी था।.....गद्य लेखकों में उसकी [illegible] न थी और उसकी आत्मकथा की [illegible] विश्वसाहित्य के सर्वोच्च ग्रंथों में थी।'

उसके सैनिक गुणों की भी प्रशंसा अनेक इतिहासकारों ने की है। बाबर की ख्याति मुख्य [illegible] उसके सैनिक गुणों के [illegible] वह एक वीर सैनिक एवं कुशल सेनानायक था। वह घुड़सवारी, निशानेबाजी तथा तलवार चलाने में निपुण था। अपनी प्रतिभा के बल पर ही वह फरगना के छोटे–से राज्य के शासक से भारत में नए राजवंश का संस्थापक बन गया। भारत आने से पूर्व उसे अनेक बार अपना राज्य खोना पड़ा; परन्तु उसने कभी हिम्मत नहीं हारी और संघर्ष करता रहा। अंततः उसे विजयश्री हासिल हुई। [illegible] ने अपनी सैनिक प्रतिभा भारत में भी दिखाई। वस्तुतः कुशल सैन्य–संचालन के आधार पर ही भारत में वह अफगानों और [illegible] की विशाल सेना को अपनी छोटी–सी सैनिक टुकड़ी से परास्त कर सका।

प्रोफेसर सतीशचन्द्र ने बाबर को भारत में तोपों एवं बन्दूकों के उपयोग का श्रेय दिया है। बाबर ने इनका उपयोग [illegible] इस्माइल के मध्य 1514 ई. में लड़े गए युद्ध से सीखा था। इस युद्ध से सीख लेते हुए उसने [illegible] निपुण तोपचालकों को अपनी [illegible] में भर्ती कर लिया था। उसने बाजौर अभियान में 1519 ई. में इनका प्रथम बार उपयोग किया। इसके पश्चात् उसने पानीपत [illegible] एवं अन्य युद्धों में इनका उपयोग किया था। युद्धों में विजय के अतिरिक्त केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति भी इससे मजबूत हुई।

इसके अतिरिक्त, प्रो. चन्द्र भारत में नई सैनिक रणनीति के प्रयोग का भी श्रेय बाबर को देते हैं। उसने यह पद्धति रूमियों एवं उजबेकों से सीखी थी। यह पद्धति 'तुलुगमा' कहलाती थी। वे लिखते हैं कि भारत–विजय का श्रेय मात्र हथियारों को न देकर बाबर के सैन्य–कौशल को देना चाहिए।

सैनिक विजयों के अतिरिक्त बाबर का सबसे बड़ा योगदान भारतीय साम्राज्य में काबुल एवं कंधार को सम्मिलित करना था। कुषाण साम्राज्य के पतन के पश्चात् प्रथम बार वे भारत का अंग बने थे। इसके माध्यम से बाबर ने भारत को एक बार फिर पश्चिमी एवं मध्य एशिया से संबंधित कर दिया। इससे भारत के विदेशी व्यापार में भी बढ़ोत्तरी हुई।

प्रो. सतीशचन्द्र भारत में राज्य–सिंहासन के सम्मान की पुनर्स्थापना का श्रेय बाबर को देते हैं। तैमूर एवं चँगेज के वंशज के रूप में उसका अत्यधिक सम्मान था। उसने बेगों एवं अन्य अमीरों को सदैव अपना सेवक ही समझा। इससे बादशाह के राजनीतिक वर्चस्व में जबरदस्त बढ़ोत्तरी हुई। उसने दैवीय सिद्धांत पर बल देकर बादशाह की प्रतिष्ठा में वृद्धि की।

बाबर ने केन्द्रीयकरण की पुनर्स्थापना भारत में की। उसने तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था का अंत करके नए शक्तिसंतुलन का निर्माण किया। उसने साम्राज्य–स्थापना की शुरुआत की। इसी क्रम में उसने सुल्तान की पदवी के स्थान पर बादशाह की पदवी धारण की एवं शेष सभी अमीरों एवं सरदारों को अधीनस्थ सेवक का दर्जा प्रदान किया। इस संबंध में डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी का कथन अत्यंत उपयुक्त है। वे लिखते हैं कि असंख्य राज्यों में बँटे भारत में शक्तिसंतुलन की स्थिति नष्ट करके बाबर ने नई परम्परा के आधार पर एक चक्रवर्ती साम्राज्य की नींव रखी।

बाबर के धार्मिक विचार व्यक्तिगत थे। वह नियमित रूप से पाँचों वक्त की नमाज एवं रमजान के महीने में नियमित रोजा रखता था, लेकिन धार्मिक कट्टरता से काफी दूर था। ट्रान्सओक्सियाना के जिस माहौल में वह रहा था, वहाँ सहिष्णुता का वातावरण था। यद्यपि राणा सांगा एवं मेदिनीराय के विरुद्ध युद्धों को 'जिहाद' का नाम देता है। इसके पीछे धार्मिक कट्टरता की बनिस्पत राजनीतिक कारण देखना चाहिए। कहा जाता है कि उसके समय में हिन्दुओं के मंदिरों के तोड़े जाने में उसका हाथ न होकर उसके सेनानायकों का हाथ था। इन उदाहरणों से बाबर की धार्मिक सहिष्णुता के पक्ष में तर्क नहीं दिए जा सकते। 'जिहाद' एवं मंदिरों का तोड़ा जाना निश्चित ही तत्कालीन समय की राजनीति का एक अभिन्न अंग था।

अन्त में कहा जा सकता है कि बाबर ने जिस साम्राज्य की स्थापना की, उसको एक स्थाई प्रशासनिक ढाँचा नहीं दे पाया। इसका मुख्य कारण समय का अभाव था। बाबर का अधिकाँश समय युद्धों में ही बीता एवं अन्त में इन्हीं के प्रभावों के कारण ही शीघ्र ही इस संसार को त्याग भी दिया। उसे जितना समय मिला, उसमें उसने एक प्रशासनिक ढाँचा देने का प्रयास किया। उसने अपने साम्राज्य को विभिन्न जागीरों में बाँट कर उन्हें जागीरदारों को प्रदान कर दिया। ये ही लोग शक्ति के केन्द्र बन कर साम्राज्य के लिए सिरदर्द बनने लगे। इसके अतिरिक्त उसने शांति–व्यवस्था के लिए सुरक्षा चौकियों की स्थापना की। डाक–व्यवस्था का प्रबंध किया। उसने आगरा, बयाना, धौलपुर एवं ग्वालियर आदि स्थानों पर भवनों का निर्माण करवाया, बाग लगवाए, जिनमें झरने एवं फव्वारे लगवाए। इतने विशाल साम्राज्य के लिए यह कम ही था लेकिन इससे बाबर की प्रशासनिक रुचि की झलक अवश्य देखी जा सकती है। समयाभाव के कारण वह कोई स्थाई प्रशासनिक कार्य नहीं कर पाया इसलिए रशब्रुक विलियम्स की बात बिल्कुल सही है, जब वह लिखता है कि 'बाबर ने अपने पुत्र हुमायूँ के लिए एक ऐसा राजतंत्र छोड़ा, जो केवल निरंतर चलते रहनेवाले युद्ध की परिस्थितियों में ही संगठित रह सकता था। शांति के समय तो वह दुर्बल और अस्थिर था।

हुमायूँ (1530-40 ई.)

हूमायूँ का जन्म 6 मार्च, 1508 ई. को काबुल में हुआ था। पिता के स्वर्गवास के पश्चात् तेईस वर्ष की युवा उम्र में 30 दिसम्बर, 1530 ई. को आगरा के किले में उसका राज्यारोहण हुआ। उसके तीन भाई – कामरान, अस्करी एवं हिंदाल थे।

राज्यारोहण के समय बाबर के उत्तराधिकारी की समस्या : हुमायूँ के लिए आगरा की राजगद्दी फूलों की सेज न होकर काँटों का ताज थी। उसका पिता बाबर सम्पूर्ण जीवन युद्धों में ही उलझा रहा, इसलिए विशाल विजित साम्राज्य के प्रशासन की ओर ध्यान नहीं दे पाया। इसलिए अव्यवस्थित साम्राज्य उसके उत्तराधिकारी के सामने सबसे बड़ी समस्या रही। इस बड़ी समस्या के अतिरिक्त भी बहुत–सी समस्याएँ थीं, जो हुमायूँ के सामने मुँह बाए खड़ी थीं। मुगल बादशाह की मुख्य समस्याएँ निम्न थीं –

बाबर से विरासत में प्राप्त समस्याएँ : भारत में मुगल सत्ता का संस्थापक बाबर अपने उत्तराधिकारी पुत्र हुमायूँ के लिए सबसे बड़ी समस्या अव्यवस्थित प्रशासन के रूप में छोड़ गया था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वह अपने पुत्र के लिए इतने विशाल

साम्राज्य के साथ--साथ उसके लिए अव्यवस्थित राज्य विरासत में छोड़ गया था। इसलिए नव--नियुक्त बादशाह के लिए इस नवस्थापित साम्राज्य को व्यवस्थित करना सबसे बड़ी समस्या एवं चुनौती थी।

बेगों की महत्त्वाकांक्षा : चूँकि बाबर को प्रशासन को व्यवस्थित करने का समय नहीं मिला था इसलिए यहां के प्रचलित प्रशासन को ही जारी रखा। प्रो. सतीशचन्द्र के अनुसार उसने सम्पूर्ण विजित क्षेत्र को बेगों को जागीरों (वज्ह) में प्रदान कर दिया। इन सभी की राजस्ववसूली एवं प्रशासन का कार्य इन्हीं बेगों के हाथ में छोड़ दिया गया। यही लोग राज्य की सेना के लिए सैनिकों का प्रबन्ध करते थे। इन लोगों में भिन्न--भिन्न देशों के लोग थे जिन्होंने भारत--विजय में बाबर का साथ दिया। इसलिए बाबर के पश्चात् हुमायूँ के समय उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ बढ़ना स्वाभाविक था, जिनको दबाना ही उसके लिए एक समस्या थी।

मुगल राजकोष : बाबर अपने उत्तराधिकारी के लिए रिक्त कोष छोड़ कर गया था। उसने पानीपत युद्ध के पश्चात इब्राहीम लोदी के कोष को अपने अनुयायियों के मध्य उदारता से बाँटा था। उसने अपने पुत्रों सहित मध्य एशिया एवं अफगानिस्तान के सम्बंधियों को बड़े--बड़े उपहार दिए थे। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उसने दोनों हाथों से राजकोष को लुटा दिया था। इस लूट की पृष्ठभूमि में सम्भवतः एक मनोवैज्ञानिक कारण था। इससे पूर्व न तो बाबर और न ही उसके अनुयायियों ने इतनी बड़ी तादाद में धन--दौलत देखी थी। इसलिए इस लूट के माध्यम से उसने सबको प्रसन्न करने का प्रयास किया। इससे नवस्थापित साम्राज्य की आर्थिक स्थिति का सोचनीय होना स्वाभाविक था। इसलिए रिक्त राजकोष ही हुमायूँ के लिए बहुत बड़ी समस्या बन कर सामने खड़ा हो गया। बिना धन के प्रशासन को व्यवस्थित करना एक टेढ़ी खीर था।

असंतुष्ट सेना : बाबर के समय में मुगल सेना जितनी सशक्त थी, वह स्थिति बाद में नहीं रही। बाबर ने लूट में प्राप्त धन का समुचित हिस्सा सैनिकों में विभक्त नहीं कर, अपने अमीरों में बाँट दिया था। फलतः सेना में असंतोष की भावना थी। दूसरी समस्या यह थी कि बाबर की सेना में विभिन्न जातियों -- जैसे मुगल, चगताई, उजबेग, ईरानी, अफगानी और भारतीय सैनिक थे। अतः सैनिकों के बीच आपसी मतभेद और वैमनस्य बना रहता था। बाबर ने अपनी कुशल नीति द्वारा इस सेना पर नियंत्रण बनाए रखा था, परन्तु हुमायूँ के सेना पर नियंत्रण रख पाना मुश्किल कार्य था। दूसरा कारण यह भी था कि वे अपने देश से दूसरे देश की जमीन पर लड़ रहे थे। काफी सैनिक अपने वतन लौटने को लालायित थे। इसलिए भारत में रहने की अनिच्छा भी सेना में दुर्बलता का संकेत थी।

हुमायूँ के भाइयों का शत्रुतापूर्ण व्यवहार : बाबर ने अपने ज्येष्ठ पुत्र हुमायूँ को अपने छोटे भाइयों के प्रति प्रेमभाव बनाए रखने की सीख दी थी, यही सीख हुमायूँ के लिए बहुत बड़ी समस्या बनकर सामने आई। उसने भाइयों के प्रति जितनी सहानुभूति व प्रेम जताया, उन्होंने ठीक इसके विपरीत शत्रुतापूर्ण व्यवहार किया। उसको तीन भाइयों कामरान, अस्करी और हिंदाल से कभी भी सहयोग प्राप्त नहीं हुआ। परन्तु मुगल वंश को जिस समय एकता की आवश्यकता थी, हुमायूँ के भाइयों ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थ अधिकारों और महत्त्वाकांक्षाओं पर बल दिया और सदैव हुमायूँ के प्रति विरोधी आचरण अपनाकर उसकी कठिनाइयों में वृद्धि की।

राजनीतिक समस्याएँ : इन समस्याओं के अतिरिक्त हुमायूँ के सम्मुख कुछ महत्त्वपूर्ण राजनीतिक समस्याएं थीं, जो तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की उपज थीं। भारत में केन्द्रीय सत्ता से स्वतंत्र कई महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली राज्य थे जिनका अपने एवं आस--पास के क्षेत्रों में राजनीतिक वर्चस्व था। ये राज्य मुगल साम्राज्य की सीमा पर अव्यस्थित थे, इसलिए मुगल बादशाह के लिए एक चुनौती भी थे। कालान्तर में ये कभी भी मुगल सत्ता के लिए खतरा भी बनकर खड़े हो सकते थे। ये राज्य थे गुजरात, बंगाल, मालवा, खानदेश, कश्मीर, राजपूताना के राज्य सिन्ध एवं मुल्तान। इनके अतिरिक्त अफगान भी एक बहुत बड़ी समस्या थे। ये नवस्थापित मुगल साम्राज्य को सदैव उखाड़ने के लिए योजनाएँ बनाते रहते थे। बिहार में उनके पुनः संगठित होने की प्रबल संभावना थी। ये सभी ऐसी समस्याएँ थीं जिनको टालना भविष्य के लिए भयंकर खतरनाक सिद्ध हो सकता था। ये राजनीतिक समस्याएँ थे जो उसके लिए समस्या बनकर खड़े थे --

गुजरात एवं बंगाल के शासक : हुमायूँ के राज्यारोहण के समय गुजरात का शासक बहादुरशाह और बंगाल का सुल्तान नसरतशाह भी बहुत शक्तिशाली थे। गुजरात का शासक बहादुरशाह एक प्रसिद्ध योद्धा एवं महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था। इस समय उसके पड़ोसी राज्य मालवा तथा मेवाड़ की स्थिति निर्बल थी और इसका लाभ उठाकर उसने 1531 में मालवा पर अपना अधिकार कर लिया था तथा मेवाड़ पर भी अपनी आँख लगाए हुआ था। किन्तु उसके जीवन की सबसे बड़ी आकांक्षा दिल्ली के राजसिंहासन पर अधिकार करने की थी। वह एक उच्च कोटि का कूटनीतिज्ञ था। उसने जहाँ फतहखाँ, कुतुबखाँ और आलमखाँ लोदी नामक शाहजादों को

को शरण दे रखी थी, वहीं शेरखाँ व बंगाल के शासक नुसरतशाह से भी उसका पत्र–व्यवहार था जो मुगलों को हिन्दुस्तान से बाहर निकालने में सहयोग दें।

बंगाल के सुल्तान का विश्वास था कि बाबर की मृत्यु के बाद मुगलों से हुई संधि का अंत हो गया है। इस कारण उसने अपने राज्य में अफगानों को शरण दे रखी थी तथा इस नई परिस्थिति में वह अफगानों की सहायता से मुगल सत्ता को खतरा उत्पन्न कर सकता था। बंगाल की भौगोलिक दूरी भी वहाँ के शासकों को उकसाती रहती थी।

अफगानों के साथ भावी संघर्ष की समस्या : बाबर ने अपने जीवन में अफगानों की शक्ति को समाप्त करने का भरसक प्रयास किया लेकिन वह उनका पूर्णतः दमन करके सफाया करने में कामयाब नहीं हो पाया। अधकुचला साँप जिस प्रकार शत्रु पर आक्रमण करता है, ठीक उसी प्रकार की स्थिति अफगानों के साथ थी। बाबर के हाथों पराजित होकर वे अपने सम्पूर्ण क्षेत्र गवाँ चुके थे। इसलिए वे सदैव मुगलों से बदला लेने के अवसर की तलाश में रहते थे। वे मुगलों को भारत से बाहर निकालने के लिए किसी भी राजनीतिक शक्ति के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने को तत्पर रहते थे। हुमायूँ के प्रतिद्वंद्वियों में सबसे प्रमुख अफगान थे। स्वर्गवासी सुल्तान इब्राहीम लोदी के भाई महमूद लोदी ने मुगलों से अपने पूर्वजों की राजगद्दी को पुनः प्राप्त करने की आशा और आकांक्षा का परित्याग नहीं किया था। उसने बिहार में अपनी शक्ति का पुनः संगठन करना आरंभ कर दिया था। शेरखाँ सूर भी एक स्वतंत्र राज्य स्थापित करने की आकाँक्षा मन में संजोए था। इसके अतिरिक्त बिब्बन और बायजीद जैसे शक्तिशाली अफगान सरदार, जिनको अपने राज्य से निकाल दिया गया था, पुनः अपना राज्य प्राप्त करने की ताक में थे। अफगानों में से ही एक अफगान सरदार शेरखाँ ने बाद में अपनी शक्ति इतनी संगठित कर ली कि कुछ समय पश्चात् वह हुमायूँ का सबसे कट्टर शत्रु साबित हुआ।

अफगानों की समस्या इसलिए भी बहुत बड़ी थी क्योंकि हुमायूँ को उनकी रणनीति का ज्ञान नहीं था। दूसरा, उसके पास युद्धों का अधिक अनुभव नहीं था।

हुमायूँ की दुर्बलताएँ

इन समस्याओं के अतिरिक्त कुछ बातें ऐसी थीं, जो हुमायूँ की व्यक्तिगत आदतों से संबंधित थीं। यह बात तो निश्चित है कि उपर्युक्त समस्याओं को सुलझाने के लिए असामान्य प्रतिभाशाली व्यक्ति की आवश्यकता थी, जो विघटनकारी शक्तियों का दमन कर साम्राज्य को सुशासन प्रदान करके, उसे सूत्र में बाँध सके। उसमें ये गुण थे या नहीं, इसको लेकर इतिहासकारों में मतभेद है। पूर्व के ब्रिटिश इतिहासकारों ने उसे अफीम का व्यसनी बताया है। इसी कमजोरी के कारण वह प्रशासन की तरफ विशेष ध्यान नहीं दे पाया। तारीखे रशीदी के लेखक मिर्जा हैदर दुगलात के कथन से इस बात को समर्थन मिलता है। वह लिखता है कि बुरे एवं लालची लोगों के प्रभाव के कारण हुमायूँ ने बुरी आदतें सीख ली थीं। जिनमें अफीम शामिल था, जिसकी वजह से उसका पतन हुआ। प्रो. सतीशचन्द्र क अनुसार यह बात सही प्रतीत नहीं होती, क्योंकि अफीम खाना एवं शराब पीना मध्य एशिया में तत्कालीन समय में काफी प्रचलन में था। यहाँ तक कि बाबर में भी यह आदत थी। इन आदतों के कारण उनके सैनिक अभियानों में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आई। इसलिए इस कमजोरी को आधार बनाकर हुमायूँ द्वारा समस्याओं में बढ़ोत्तरी करने का आरोप सही प्रतीत नहीं होता। हाँ, यह बात सही है कि बाबर को मुसीबतों के झंझावातों से मुकाबला करना अच्छा लगता था। युद्धों में ही उसने अपना अधिकतर जीवन बिताया था। इसके मुकाबले हुमायूँ का जीवन आरामदायक था। उसको अपने पिता द्वारा विजित साम्राज्य विरासत में मिला था। युद्धों में उसका जीवन अधिक नहीं बीता था। इसलिए जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण आनंद प्राप्त करने का था।

हुमायूँ के बारे में यह कहा जाता है कि बौद्धिक प्रतिभा होते हुए भी उसमें सही समय पर सही निर्णय लेने की क्षमता नहीं थी। यह बात भी अधिक सही प्रतीत नहीं होती, क्योंकि ऐसा होता तो वह जीवन के अंत में सफल नहीं हो पाता। उसने अपने ही कूटनीतिक चातुर्य से खोए हुए मुगल साम्राज्य को पुनः प्राप्त कर लिया।

एक कमी ऐसी थी, जिसकी ओर अधिकाँश इतिहासकार संकेत करते हैं, वह है परिस्थितियों का मुकाबला करने में उसकी शिथिलता। यह कमी वास्तविक समस्या थी, जिससे हुमायँ घिरा था। इसका कारण सामान्यतः अफीम का सेवन बताया जाता है। हो सकता है कि अफीम का अधिक मात्रा में सेवन करने से इसने समस्या का रूप धारण कर लिया हो।

कुल मिलाकर हुमायूँ की चारित्रिक कमजोरियों को बहुत बड़ी समस्या की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

राज्यारोहण के पश्चात् अपने भाइयों के मध्य साम्राज्य का विभाजन एक भारी भूल

राज्यारोहण के शीघ्र पश्चात् हुमायूँ ने बाबर द्वारा विरासत में मिले साम्राज्य को अपने भाइयों के बीच विभाजित कर दिया। यह उसने अपने पिता द्वारा भाइयों के प्रति सद्भावना एवं प्रेम रखने की सीख को ध्यान में रखते हुए किया। उसने हिन्दाल को मेवात का विस्तृत क्षेत्र, जिसमें आधुनिक अलवर, गुड़गांव, मथुरा और आगरा का कुछ भाग सम्मिलित था, जागीर में दे दिया; सम्भल की जागीर अस्करी को दे दी गई। कामरान को काबुल और कन्धार के प्रांत के अतिरिक्त पंजाब और हिसार फिरोजा के जिला पर भी बलात् अधिकार कर लेने दिया गया। काबुल, कंधार और सिंध के क्षेत्र कामरान के अधिकार में चले जाने से हुमायूं का सम्पर्क मध्य एशिया से टूट गया। सुलेमान मिर्जा को बदख्शाँ के राज्य के अधिकार की स्वीकृति दे दी गई।

इस विभाजन से हुमायूँ के अधीन क्षेत्र काफी संकुचित होकर छोटा रह गया जिससे उसी अनुपात में राजस्व की भी कमी आई। राजस्व के संकुचन का प्रशासनिक एवं सैनिक संगठन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त इस विभाजन की सबसे बड़ी हानि एवं मुसीबत हुमायूँ को ही झेलनी पड़ी। उसने अपने ही साम्राज्य का हिस्सा देकर अपने ही साम्राज्य के दुश्मन खड़े कर लिए। यही लोग हुमायूँ एवं मुगल साम्राज्य के लिए सबसे बड़े शत्रु बन गए। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि साम्राज्य-विभाजन हुमायूँ की सबसे बड़ी भूल थी। श्रीराम शर्मा ने इस विभाजन को प्रथम भूल माना है जबकि डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी ने इसका समर्थन किया।

हुमायूँ के सैनिक अभियान

राज्यारोहण के कुछ समय पश्चात् हुमायूँ ने देश की राजनीतिक स्थिति की ओर ध्यान देना प्रारंभ किया, जो राज्य-विस्तार में उसकी रुचि का द्योतक है। किसी भी शासक के लिए यह परम आवश्यक है कि औपचारिकताओं के पश्चात् राज्य-विस्तार की ओर ध्यान दे। अपने साम्राज्य की सुरक्षा के उपाय करने के लिए योजनाबद्ध तरीके से कार्यवाही करे। हुमायूँ ने भी ऐसा ही किया। उसने सर्वप्रथम कालिंजर की तरफ ध्यान दिया।

कालिंजर विजय : कालिंजर का दुर्ग बुन्देलखण्ड के दक्षिण-पूर्वी भाग में एक पहाड़ी पर स्थित है। मध्य-युग में इस दुर्ग की एक शक्तिशाली स्थिति थी। इसके सामरिक महत्त्व एवं इसकी स्थिति को देखते हुए दिल्ली सुल्तानों ने सदैव इस पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहा। डॉ. हरिशंकर श्रीवास्तव के अनुसार वह मालवा के लिए प्रवेशद्वार था। मालवा के बहादुरशाह के हाथ में चले जाने से इस दुर्ग का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया। प्रो. सतीशचन्द्र लिखते हैं कि बयाना, ग्वालियर एवं धौलपुर के साथ कालिंजर का दुर्ग दक्षिण की ओर से आगरा की रक्षा के लिए किलों की श्रृंखला का निर्माण करता है।

राज्यारोहण के छः मास तक हुमायूँ आगरा में रुका रहा। वर्षा के मौसम के पश्चात् 1531 ई. में हुमायूँ ने कालिंजर के दुर्ग को घेर लिया। घेरा कुछ महीने तक चलता रहा। इसी बीच हुमायूँ को सूचना प्राप्त हुई कि महमूद लोदी के नेतृत्व में अफगान बिहार की ओर आगे बढ़कर जौनपुर की ओर बढ़ते आ रहे थे। अफगानों की यह कार्यवाही हुमायूँ के लिए ज्यादा खतरनाक थी। अतः कालिंजर के शासक ने हुमायूँ की अधीनता स्वीकार कर ली तथा उसे बारह मन सोना देकर समझौता कर लिया। शासन सम्भालने के पश्चात् हुमायूँ का यह प्रथम आक्रमण था। इस विजय से मुगल बादशाह कि प्रतिष्ठा में भी बढ़ोत्तरी हुई। इस समझौते में हुमायूं की परिस्थितियों को सही समय पर भांपने की शक्ति का पता चलता है। अफगानों के खतरे को देखते हुए यह समझौता उसकी सूझबूझ दक्षता एवं कूटनीतिज्ञता को दर्शाता है।

अफगानों से प्रथम संघर्ष : कालिंजर युद्ध के समय हुमायूँ को अफगानों की सक्रियता का पता चला। उन्होंने महमूद लोदी बंबन तथा बायजीद के नेतृत्व में बिहार से मुगल साम्राज्य के अधीन जौनपुर में प्रवेश किया। वहाँ के गवर्नर को पराजित कर उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। वहाँ से बाराबंकी होते हुए दादरा नामक स्थान पर पहुचे। कालिंजर से सीधा हुमायूं वहाँ पहुँचा, जहाँ अफगानों को भीषण युद्ध में पराजित किया। इस युद्ध में अफगानों के दो प्रमुख सेनानायक - शेख बायजीद एवं बीबन युसुफ रवैल युद्ध के मैदान में ही मारे गए। डॉ. हरिशंकर श्रीवास्तव के अनुसार यह युद्ध जुलाई-अगस्त 1531 ई. में हुआ।

चुनार के दुर्ग पर आक्रमण : अफगानों के विरुद्ध दादरा के युद्ध में विजय के कारण हुमायूँ की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। वह वापस आगरा चला गया, जो रणनीति की दृष्टि से एक भूल थी। उसके स्थान पर उसे अफगानों का पीछा करना चाहिए था एवं उनको पूर्णतः दमन करके उनके सारे क्षेत्रों पर कब्जा कर लेना चाहिए था।

चुनार का किला सामरिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण दुर्ग था। इसलिए हुमायूँ उस पर आधिपत्य स्थापित करना चाहता था। इस समय वह शेरखाँ के कब्जे में था। उससे बातचीत करने हेतु बाबर ने हिन्दू बेग को भेजा, लेकिन उसे सफलता नहीं मिली। इससे नाराज होकर हुमायूँ ने आगे बढ़कर चुनार का दुर्ग घेर लिया, जो शेरखाँ के अधिकार में था। चार मास (सितम्बर से दिसम्बर, 1532 ई.)) के घेरे के पश्चात् भी किले को जीतने की कोई आशा न दिखाई दी। इसी बीच गुजरात के शासक बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर दबाव बढ़ा दिया था और मालवा को जीत लेने के कारण उसकी शक्ति काफी बढ़ गई थी। ऐसी स्थिति में हुमायूँ ने शेरखाँ से समझौता कर लिया, जिसने हुमायूँ की अधीनता स्वीकार कर ली। किला शेरखाँ के आधिपत्य में ही छोड़ दिया गया और शेरखाँ ने अपने लड़के कुतुबखाँ के नेतृत्त्व में अफगान सैनिकों की एक टुकड़ी मुगलों की सेवा में भेज दी थी। इसके अतिरिक्त शेरखाँ ने पेशकश के रूप में तीन मन सोना देना एवं बादशाह के प्रति वफादार रहने का भी वादा किया। हुमायूँ ने इसलिए समझौता कर लिया क्योंकि न तो उसे निकट भविष्य में बिहार पर आक्रमण करना था और न ही वह शेरखाँ को खतरा मानता था। इस समझौते के अनुसार किला शेरखाँ के पास ही रहा। वास्तव मे यह संधि शेरखाँ की विजय एवं हुमायूँ की पराजय की सूचक थी। इनका कहना है कि अगर हुमायूँ ने इस अवसर पर शेरखाँ को पूर्णतया पराजित कर दिया होता तो उसके उत्कर्ष का मूल ही नष्ट हो जाता और भविष्य में मुगलों को निष्कासन का सामना न करना पड़ता। इससे शेरखाँ को अपनी शक्ति को संगठित करने का मौका मिल गया।

गुजरात के शासक बहादुरशाह के साथ संघर्ष एवं मालवा एवं गुजरात-विजय : अफगानों के विरुद्ध सीमित सफलता के पश्चात् हुमायूँ ने प्रथम दो वर्ष अपनी स्थिति को मजबूत करने में व्यतीत किए। इसके पश्चात् उसने मालवा एवं गुजरात की ओर ध्यान दिया। विशेषतः गुजरात, जहाँ का शासक बहादुरशाह उसके लिए एक खतरे के रूप में उभर रहा था।

प्रो. सतीशचन्द्र के अनुसार 1526 ई. में वह मालवा का स्वामी बन गया था। इस समय तक गुजरात के शासक बहादुरशाह की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। 1532 ई. में उसने रायसीन के महत्त्वपूर्ण दुर्ग पर भी अधिकार कर लिया था तथा 1533 ई. में चित्तौड़ पर आक्रमण कर मेवाड़ को अपमानजनक सन्धि करने के लिए बाध्य किया था। तुर्की के प्रसिद्ध तोपची रूमीखाँ की सहायता से उसने एक अच्छा तोपखाना तैयार कर लिया था। उसने आलमखाँ लोदी और उसके साथ मुगल शासक के अन्य बहुत–से अफगान शत्रुओं को पहले से ही शरण दे रखी थी। डॉ. बी.एल. गुप्ता एवं डॉ. पेमाराम ने लिखा है कि, उसकी महत्त्वाकाँक्षा बढ़ती जा रही थी और वह दिल्ली पर अधिकार करने का इच्छुक था। उसने हुमायूँ के विद्रोही मुहम्मद जमान मिर्जा को भी अपने यहाँ शरण दे दी तथा हुमायूँ के वापिस माँगने पर उसे देने से इंकार कर दिया। उसने मुगल साम्राज्य को दुर्बल करने के लिए प्रयत्न प्रारंभ कर दिए थे। उसने आलमखाँ लोदी के पुत्र तातारखाँ को एक बड़ी सेना के साथ आगरा और दिल्ली की ओर आक्रमण करने के लिए भेजा तथा आलमखाँ लोदी को विद्रोहियों को सहायता देने के लिए कालिंजर की ओर भेजा गया और स्वयं एक बड़ी सेना लेकर मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए चित्तौड़ की तरफ बढ़ा।

बहादुरशाह ने 1532 ई. में चित्तौड़ का घेरा डाला। इस समय हुमायूँ ने उस पर आक्रमण को उचित जान अभियान हेतु सेना लेकर उधर की ओर चल पड़ा। इस परिस्थिति को देखकर चित्तौड़ के शासक विक्रमादित्य की माँ कर्मावती ने सहायता की प्रार्थना की एवं उसे अपना भाई बनाने हेतु राखी भेजी। हुमायूँ ने राखी स्वीकार कर ली और चित्तौड़ की ओर बढ़ा, किन्तु वह सारंगपुर में ही जनवरी, 1535 ई. में रुक गया, जहाँ उसे बहादुरशाह का एक पत्र मिला, जिसमें हुमायूँ से यह प्रार्थना की गई थी कि जब तक वह जिहाद (धर्मयुद्ध) में लगा हुआ है, तब तक उस पर आक्रमण न करे। यह हुमायूँ की एक महान भूल थी। उसने राजपूतों की सहानुभूति और सहयोग प्राप्त करने का एक स्वर्ण अवसर खो दिया, जिसका मूल्य और महत्त्व उसके पुत्र अकबर ने बाद में समझा। वास्तव में हुमायूँ राजपूतों की सहायता के महत्त्व को नहीं समझ सका। यदि उसने इस सुअवसर से लाभ उठाया होता तो उसका भविष्य ही बदल गया होता।

प्रो. सतीशचन्द्र के अनुसार राखी भेजने की घटना को अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए क्योंकि इसका किसी समकालीन स्रोत में उल्लेख नहीं मिलता है।

राणा के साथ हुई सन्धि से बहादुरशाह की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। बहादुरशाह द्वारा चित्तौड़ पर आधिपत्य न कर पाने से हुमायूँ को सम्भवतः थोड़ी राहत मिली।

प्रो. सतीशचन्द्र के अनुसार हुमायूँ की ग्वालियर में उपस्थिति को देखते हुए बहादुरशाह ने राणा से शीघ्रता से समझौता कर लिया एवं उससे मालवा का वह भाग वापिस ले लिया, जो राणा ने पूर्व में उससे ही लिया था।

बहादुरशाह के साथ सामान्य सम्बन्ध

इसके पश्चात् हुमायूँ ने यमुना के किनारे नई राजधानी दीनपनाह बनाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। इसके बनाने के एक अवसर पर बहादुरशाह ने नए शहर के बनाने के अवसर पर हुमायूँ को बधाई दी। इस मैत्रीपूर्ण व्यवहार के बदले दिल्ली के किसी शत्रु को शरण न देने का वायदा बहादुरशाह से ले लिया। इसके बाद दोनों के मध्य पत्राचार एवं मैत्रीपूर्ण आदान–प्रदान जारी रहा। प्रो. सतीशचन्द्र लिखते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि बहादुरशाह की मालवा–विजय में हुमायूँ की सहमति थी। बशर्ते कि वह मुगल–विरोधी तत्त्वों को वहाँ से निकाल दे। ऐसा प्रतीत होता है कि बहादुरशाह ने हुमायूँ के इन कदमों को उसकी कमजोरी समझा।

बहादुरशाह ने हुमायूँ की उदारता का गलत अर्थ निकाल कर कुछ ऐसे काम किए, जिनसे मुगलों के साथ उसका संघर्ष अनिवार्य हो गया। 1534 ई. में उसने चित्तौड़ की ओर दुबारा प्रयाण किया। दूसरा, उसने हुमायूँ के विरुद्ध षड्यन्त्रकारी मुहम्मद जमां मिर्जा को जागीर प्रदान की एवं उसे सम्मानित किया। इसके अलावा शेरखाँ को मुगलों के विरुद्ध भड़काना एवं तातारखाँ के नेतृत्व में मुगल साम्राज्य पर आक्रमण करना एवं अराजकता फैलाना भी हुमायूँ–विरोधी गतिविधियों में सम्मिलित था। इन परिस्थितियों को देखते हुए हुमायूँ के लिए बहादुरशाह के विरुद्ध सैनिक अभियान एवं गुजरात–विजय के अलावा और कोई रास्ता नहीं बचा था।

गुजरात अभियान

पूरी सैनिक तैयारी के पश्चात् हुमायूँ ने बहादुरशाह के विरुद्ध सैनिक अभियान के लिए 1535 ई. के प्रारम्भ में आगरा से प्रयाण किया। चित्तौड़ बहादुरशाह के घेरे में था। इसलिए राइसेन एवं सारंगपुर के मार्ग से उज्जैन पहुँचा। उसने मार्ग में पूर्वी मालवा पर अधिकार करके अपनी स्थिति मजबूत कर ली। उसने बहादुरशाह के अहमदाबाद की ओर भागने का रास्ता भी बन्द कर दिया। मुगल सेनाएँ उज्जैन से मन्दसौर पहुँच गईं। यहाँ दोनों सेनाएँ कुछ दिनों तक एक–दूसरे के आमने–सामने एक झील के किनारे खड़ी रहीं। रूमीखाँ की सलाह पर अपनी सेना के चारों तरफ खाइयाँ खोदकर बहादुरशाह ने रक्षात्मक युद्ध लड़ने का निश्चय किया। किन्तु हुमायूँ ने उस पर आक्रमण करने की बजाय उसकी सेना को चारों तरफ से घेर लिया और रसद वगैरह पहुँचने के सभी स्रोत बन्द कर दिए। इसका परिणाम यह हुआ कि बहादुरशाह की सेना में रसद की भयंकर कमी हो गयी। रसद की कमी हो जाने से उसकी सेना में भुखमरी की स्थिति उत्पन्न हो गई। इस प्रकार रूमीखाँ की रणनीति पूर्णतः असफल रही। ऐसी स्थिति में 25 अप्रैल, 1535 ई. की रात में बहादुरशाह वहाँ से भाग निकला और माण्डू के दुर्ग में जाकर शरण ली। हुमायूँ ने उसका पीछा किया और माण्डू के दुर्ग को घेर लिया। इसी बीच खुदाबन्दखाँ एवं रूमीखाँ जैसे बहादुरशाह के लोगों ने हुमायूँ की सेवा स्वीकार कर ली। इससे वह अत्यन्त दुखी हुआ। बहादुरशाह ने सन्धि–वार्ता के लिए हाथ बढ़ाया, परन्तु इसी बीच मुगलों ने दुर्ग की प्राचीरों पर चढ़कर किले के द्वार खोल दिए। परन्तु इसके पहले ही बहादुरशाह कुछ साथियों के साथ चम्पानेर की तरफ भाग गया। दुर्ग पर अधिकार कर हुमायूँ ने वहाँ कत्लेआम की घोषणा की। सम्पूर्ण मालवा पर आधिपत्य स्थापित करने के पश्चात हुमायूँ शीघ्र ही चम्पानेर की ओर बढ़ा और दुर्ग को घेर लिया। हालाँकि दुर्ग बहुत मजबूत था किन्तु हुमायूँ के पहुँचने का समाचार पाकर बहादुरशाह चम्पानेर का दुर्ग को राजा नरसिंहदेव तथा इख्तियारखाँ के सुपुर्द कर वह केवल 200 सैनिकों के साथ कैम्बे भाग गया। वहां से वह दीव चला गया। हुमायूँ ने कैम्बे तक उसका पीछा किया और वहाँ से चम्पानेर लौट आया और दुर्ग का घेरा डाल दिया जो चार महीने तक चलता रहा। किन्तु अन्त में संघर्ष में नरसिंहदेव मारा गया और इख्तियारखाँ ने आत्मसमर्पण कर दिया। यहाँ गुजरात के सुल्तानों द्वारा संचित विशाल खजाना हुमायूँ को प्राप्त हुआ, जिसे उसने दिल खोलकर अपने अमीरों तथा सैनिकों में बांट दिया।

माण्डू और चम्पानेर पर अधिकार होना मुगलों की एक महान विजय थी। पराजित बहादुरशाह ने अपने विश्वासपात्र हाकिम इमादुलमुल्क को अहमदाबाद से मालगुजारी वसूल करके एक शक्तिशाली सैन्य–दल खड़ा करने हेतु भेजा। परन्तु हुमायूँ और अस्करी ने अक्टूबर, 1535 ई. में इमादुलमुल्क को हराकर अहमदाबाद पर अधिकार कर लिया।

प्रोफेसर सतीशचन्द्र लिखते हैं कि आगरा को छोड़ने के उस महीने के भीतर ही हुमायूँ ने मालवा एवं गुजरात दोनों पर विजय प्राप्त कर ली। इस प्रकार उसने दृढ़ निश्चय एवं व्यक्तिगत साहस का परिचय दिया था। इस उपलब्धि के लिए उसे पूर्ण सम्मान दिया जाना चाहिए।

गुजरात–विजय के पश्चात् इस प्रान्त का क्या किया जाए – इसको लेकर अमीरों में मतभेद था। एक वर्ग चाहता था कि इसको बहादुरशाह को वापिस लौटा दिया जाए। इस सुझाव से हुमायूँ का नाराज होना स्वाभाविक था। इसलिए उसका तर्क था कि इस प्रान्त के प्रशासन को दिल्ली के अधीन सुसंगठित करना चाहिए। इस प्रकार हुमायूँ ने अस्करी को वहां का गवर्नर नियुक्त किया और हिन्दू बेग को उसका सलाहकार बनाया। हुमायूँ ने गुजरात के शासन–प्रबन्ध में कोई रुचि नहीं प्रदर्शित नहीं की और न ही अस्करी के

अधीन भिन्न–भिन्न भागों में नियुक्त अमीरों में पारस्परिक सम्बन्ध ही स्पष्ट किये। अब हुमायूँ बहादुरशाह का विनाश करने के लिए ड्यू की तरफ चल पड़ा, किन्तु इसी बीच मालवा से चिन्ताजनक समाचार मिले, जहाँ विद्रोहियों ने मुगल सेना को उज्जैन की ओर धकेल दिया था। अतः हुमायूँ को माण्डू लौटना पड़ा, जहाँ वह फिर लम्बे समय तक रुका रहा तथा आलस्य और उत्सवों में डूब गया। उधर अस्करी ने भी अपना समय दावतों आदि में नष्ट किया।

बहादुरशाह द्वारा अपने खोए क्षेत्रों को पाने के प्रयास

हुमायूँ और अस्करी – दोनों की इस उदासीनता का लाभ उठाकर बहादुरशाह ने मुगलों से अनेक नगर छीन लिए। गुजरात में मुगलों के विरुद्ध जन–आन्दोलन शुरू हो गया। गुजरात के स्थानीय सरदारों ने, जो मुगल–शासन से असन्तुष्ट थे, बहादुरशाह को वापिस आने का निमन्त्रण दिया। बहादुरशाह एक सेना संगठित कर अहमदाबाद के निकट आ पहुँचा। थोड़े–से संघर्ष के बाद अस्करी के पैर उखड़ गए और वह अप्रैल, 1536 ई. में अहमदाबाद छोड़कर चम्पानेर की ओर भाग गया। वहां के किलेदार तारदीबेग ने अस्करी को बिना हुमायूँ की स्वीकृति के सहायता देना अस्वीकार कर दिया। यही नहीं, हुमायूँ को तारदीबेग ने सूचना दी कि अस्करी के विचार पवित्र नहीं हैं और उसकी दृष्टि आगरे पर है। अस्करी ने तारदीबेग को पकड़कर कोष को अधिकृत करने और अपने को स्वतन्त्र शासक बनाने की योजना बनाई, परन्तु वह सफल नहीं हुआ। अतः वहाँ से वह आगरे की ओर चल पड़ा। इसी समय बहादुरशाह चम्पानेर के निकट आ पहुँचा और तारदीबेग को 22 अप्रैल, 1536 को दुर्ग छोड़कर भागना पड़ा। इस प्रकार साल–भर से कुछ अधिक समय तक मुगलों द्वारा अधिकृत रहने के बाद हुमायूँ के आलस्य और अस्करी की अयोग्यता के कारण गुजरात उनके हाथ से निकल गया। हुमायूँ भी अब माँडू से आगरे की ओर बढ़ा, क्योंकि साम्राज्य के अन्य भागों से उपद्रवों और अव्यवस्था के समाचार उसे प्राप्त हो रहे थे। मालवा से हुमायूँ के हटते ही वहाँ विद्रोह हो गया और वहाँ के शासकों के एक उत्तराधिकारी मल्लूखाँ ने यहाँ पर अपना अधिकार जमा लिया। गुजरात के साथ समस्त मालवा प्रदेश भी मुगलों के हाथों से निकल गया। इस प्रकार मुगलों ने जितनी आसानी से इन प्रदेशों पर अधिकार किया था, उतनी ही आसानी से ये प्रदेश उनके हाथों से निकल गए।

मुगलों के हाथों से गुजरात के विजित क्षेत्र निकल जाने के कारण

हुमायूँ ने जिस तीव्र गति से गुजरात को बहादुरशाह के हाथों से छीना था उसी तेजी से वे निकल गए। उसके निम्न कारण थे –

हुमायूँ के हाथों से इन प्रदेशों के निकल जाने के अनेक कारण थे। प्रथम, गुजरात की जनता में माण्डू तथा चम्पानेर के हत्याकाण्ड की वजह से मुगल–विरोधी भावना उत्पन्न हो गई थी। दूसरा, हुमायूँ ने गुजरात में शासन की उचित व्यवस्था नहीं की थी और न वहाँ लगान–वसूली की ही व्यवस्था की थी। तीसरा, वहाँ नियुक्त मुगल सरदारों में पारस्परिक वैमनस्य था तथा उनमें परस्पर सद्भावना का नितांत अभाव था। फिर मुगलों का गुप्तचर विभाग सजग और योग्य नहीं था। पाँचवाँ, बहादुरशाह को उच्च स्थान प्राप्त था। छठा, अस्करी की अयोग्यता एवं हुमायूँ की लापरवाही भी गुजरात से मुगलों के पलायन का एक मुख्य कारण था। सातवाँ, हुमायूँ के गुप्तचर विभाग की लापरवाही, जो समय पर गुजरात की घटनाओं के बारे में बादशाह को सूचित नहीं कर पाया।

बंगाल अभियान एवं शेरशाह के साथ संघर्ष

गुजरात अभियान के पश्चात् हुमायूँ अनिश्चय की स्थिति में था। वह गुजरात अभियान के बारे में सोच रहा था और इसी तैयारी में व्यस्त था, तभी उसे पूर्वी क्षेत्रों में शेरखाँ की तेज होती गतिविधियों की सूचना मिली। उसने तत्काल बंगाल अभियान का निर्णय लिया। लेकिन बहादुरशाह की सूचना मिलने पर बंगाल अभियान की योजना तब त्यागनी पड़ी थी। जिस समय हुमायूँ गुजरात के बहादुरशाह के साथ संघर्षरत था, शेरखाँ बिहार और बंगाल में अपनी स्थिति दृढ़ कर रहा था। दक्षिणी बिहार उसके आधिपत्य में आ चुका था। चुनार का किला उसका अपना था तथा उसका पुत्र कुतुबखाँ भी हुमायूँ की सेवा को छोड़कर वापस आ गया था। बंगाल के शासक महमूदशाह को 1534 ई. और 1536 ई. में दो आक्रमणों में पराजित कर शेरखाँ ने अपनी प्रतिष्ठा एवं साधनों में भारी वृद्धि कर ली थी। हुमायूँ ने 1537 ई. की बरसात तक इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया कि अफगान सरदार शेरखाँ इतना प्रबल हो गया है।

चुनार विजय

प्रो. सतीशचन्द्र के अनुसार हुमायूँ के पूर्वी क्षेत्रों के अभियान का मुख्य कारण शेरखाँ को दण्डित करना नहीं था, बल्कि बंगाल–विजय था। इसी प्रयोजन हेतु उसने आगरा छोड़ा। इसके अतिरिक्त शेरखाँ के बंगाल की राजधानी पर अभियान ने ही सम्भवतः उसे सक्रिय कर दिया था। उसने बरसात के मौसम में जुलाई, 1527 ई. को आगरा छोड़ा। चुनार पहुँचने तक वह आराम से चलता रहा। एवं

चुनार पर आक्रमण से पूर्व वह बनारस में रुका रहा। हुमायूँ किले की अभेद्यता के कारण [illegible] पर आधिपत्य करना चाहता [illegible] पहुंचकर हुमायूँ द्वारा किले का घेरा डाल दिया गया, जहां शेरखाँ का पुत्र कुतुबखाँ किले की रक्षा के लिए तैनात [illegible] तोपखाने की मार के बाद भी घेरा छः माह चलता रहा। अंत में मार्च, 1538 ई. को तोपखाने की सहायता से मुगलों द्वारा [illegible] अधिकार कर लिया गया। तब तक शेरखाँ बंगाल की राजधानी गौड़ जीत चुका था और उसके खजाने को लेकर [illegible] किले में लाकर सुरक्षित कर दिया था। चुनार की विजय के बाद हुमायूँ ने रूमीखाँ को चुनार का शासक नियुक्त कर दिया।

चुनार–विजय के पश्चात् उसने शेरखाँ को यह कहला भेजा कि अगर वह उसकी अधीनता स्वीकार कर ले तो हुमायूँ उसे उसकी इच्छानुसार कोई भी जागीर – चुनार अथवा जौनपुर या किसी अन्य स्थान पर दे सकता है। हुमायूँ का शेरखाँ के बारे में ऐसा सोचना एक भूल थी। ऐसा प्रतीत होता है कि शेरखाँ की महत्त्वाकांक्षा कोई मुगल जागीर प्राप्त करने से संतुष्ट होनेवाली नहीं थी। बल्कि वह तो मुगलों को भारत से खदेड़कर दिल्ली पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहता था।

शेरखाँ के व्यवहार से स्पष्ट झलकने लगा था कि वह हुमायूँ के अधीन रहकर जीवन–यापन नहीं करना चाहता था बल्कि हिन्दुस्तान का स्वतंत्र शासक बनने की महत्त्वाकांक्षा पाले हुए था।

कहा जाता है कि शेरखाँ मुगल बादशाह को बिहार सौंपने देगा। लेकिन इसी बीच बंगाल का पराजित राजा महमूदशाह हुमायूं से मिला और उसने बंगाल अभियान को जारी रखने की अपील की। इसलिए बंगाल–विजय के लिए यह एक अतिरिक्त कारण था। इससे प्रभावित होकर शेरखाँ के साथ हुई बात को भँग करके हुमायूँ ने बंगाल–विजय का निर्णय लिया। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि बंगाल में अपार संगृहीत धन–दौलत ने भी इस अभियान की योजना को परवान चढ़ाया।

अब हुमायूँ बंगाल की तरफ रवाना हुआ। कोलगाँव के पास बंगाल के सुल्तान महमूदशाह की तो मृत्यु हो गई, किन्तु हुमायूं आगे बढ़ता गया और तेलियागढ़ी पहुँचा। यहाँ गौड़ जानेवाली सड़क को शेरखाँ के पुत्र जलालखाँ ने रोक रखा था। जैसे ही मुगल यहाँ पहुँचे, जलालखाँ ने हमला कर दिया, जिससे मुगलों को भारी हानि हुई। जलालखाँ को यह जानकारी मिलने पर कि उसके पिता ने गौड़ का कोष रोहतासगढ़ पहुँचा दिया है, उसने मुगलों का रास्ता छोड़ दिया और अपने पिता शेरखाँ से जा मिला। यह देखकर कि अफगान सेना पीछे हट गई है, हुमायूँ आगे बढ़ा और गौड़ पर अधिकार कर लिया, जहाँ वह आठ महीने रुका।

गौड़–विजय के पश्चात् हुमायूँ ने आठ महीने बंगाल में ऐशो–आराम किया तथा आगरा और दिल्ली से सम्पर्क बनाए रखने का कोई प्रबंध नहीं किया। उधर शेरखाँ ने इस स्थिति का पूरा लाभ उठाया। उसने बनारस, कड़ा, बहराइच, कन्नौज और सम्भल पर अधिकार कर लिया तथा जौनपुर और चुनारगढ़ को घेर लिया और आगरा से हुमायूँ का संबंध–विच्छेद कर दिया। इस प्रकार जनवरी, 1539 ई. के मध्य तक कोसी और गंगा के बीच का सम्पूर्ण भाग शेरखाँ के अधिकार में आ गया।

हुमायूँ की कठिनाइयों का यहीं अन्त नहीं हुआ। उसने हिंदाल पर अत्यधिक भरोसा करते हुए आगरा जाकर सेना इकट्ठा करने एवं शेरखाँ पर आक्रमण करने का निर्देश दिया था। अतः वह आगरा चला गया था, परंतु उसने वहाँ जाकर विद्रोह कर दिया। उसने बादशाह की पदवी धारण कर ली और हुमायूँ के विश्वस्त पदाधिकारी बहलोल की हत्या कर दी। इसी समय कामरान भी कंधार से दिल्ली आ धमका। उसने दिल्ली पर अधिकार करने का प्रयास किया परंतु विफल होकर वह आगरा की तरफ बढ़ गया। इन घटनाओं ने हुमायूँ को विचलित कर दिया। वर्षाऋतु के कारण मलेरिया का प्रकोप भी बढ़ गया। इसका बुरा प्रभाव उसकी सेना पर पड़ा। उसके सैनिकों एवं सरदारों में असंतोष फैलने लगा। फलतः हुमायूँ ने शीघ्र आगरा लौटने का निश्चय किया। वह जहांगीर बेग को बंगाल की सुरक्षा का भार सौंपकर एवं सेना की छोटी–सी टुकड़ी छोड़कर मार्च 1539 में आगरा के लिए कूच कर गया।

चौसा का युद्ध (6 जून, 1539 ई.)

हिंदाल के आगरा विद्रोह की सूचना पाकर वह तेजी से राजधानी की ओर लौट रहा था। वह और उसकी सेना भी थकी [illegible] वह शीघ्रता से आगरा पहुँचकर अपने भाई को सबक सिखाना चाहता था। लेकिन उसे क्या पता था कि दुर्भाग्य मार्ग में [illegible] कर रहा है।

हुमायूँ ने मुँगेर के पास गंगा के दक्षिणी तट को पार करके आगरा जानेवाली ग्राण्ड–ट्रंक [illegible] पकड़ी। इस रास्ते [illegible] नदी से थोड़ी दूर पर स्थित चौसा नामक स्थान पर पहुँचा जहाँ उसे सूचना मिली कि शेर [illegible] भी पास आ पहुंचा है [illegible] जानेवाली सड़क की नाकेबंदी कर रखी थी. अतः हुमायूँ के सामने युद्ध के अलावा कोई [illegible] विकल्प नहीं था। तीन महीने [illegible] सेनाएँ एक–दूसरे के आमने–सामने पड़ी रहीं। इस बीच हुमायूं और शेरखां के बीच [illegible] की बातचीत भी हुई परंतु [illegible] कोई

परिणाम न निकला। ऐसे ही समय में 25 जून, 1539 ई. की रात को शेरखाँ ने अचानक मुगल सेना पर आक्रमण कर दिया। यह आक्रमण उसके पुत्र जलालखाँ और सेनापति खवासखाँ के नेतृत्व में तीन ओर से किया गया। मुगलों में भगदड मच गई। बड़ी सख्या में मुगल सैनिक मारे गए या भाग खडे हुए। स्वयं हुमायूँ भी बड़ी कठिनाई से निजाम नामक भिश्ती की मशक की सहायता से गंगा पार कर सका। उसका कैम्प, जिसमें हरम की कुछ महिलाएँ भी थीं, शेरखाँ के हाथ लगा। हुमायूँ कुछ लोगों की देखरेख में जान बचाकर आगरा चला गया।

चौसा का युद्ध निर्णायक युद्ध था और इसने शेरखाँ की शक्ति मे चार चाँद लगा दिए। इस युद्ध में हुमायूँ पूर्णरूप से पराजित हुआ। इससे हुमायूँ को बड़ा धक्का लगा। इस युद्ध में लगभग आठ हजार सैनिक तथा बहुत–से मुगल सरदार काम आए, जिनमें मुहम्मद जमान मिर्जा भी एक था। कई स्त्रियाँ या तो डूबकर मर गईं या उनका पता न चला। हुमायूँ की पटरानी बेगा बेगम और उनके साथ बहुत–सी अन्य मुगल स्त्रियों को शेरखाँ के हाथों बन्दी बना लिया गया, जिन्हें बाद में सम्मान सहित हुमायूँ के पास भेज दिया गया।

इस युद्ध ने शेरखाँ को बंगाल व बिहार का तत्काल शासक बना दिया। उसने अपने को सुल्तान घोषित कर दिया और शेरशाह की उपाधि ग्रहण की। इस युद्ध में मुगलों की पराजय ने अफगान सैनिकों में अपार उत्साह पैदा कर दिया तथा शेरखाँ के नेतृत्व में कठिन–से–कठिन कार्य करने के लिए तैयार कर दिया।

शेरखाँ ने अब शीघ्र ही बंगाल पर अधिकार कर लिया और पूरब में मुगलों की शक्ति को पूर्णतया नष्ट करके कन्नौज पहुँच गया जिस पर उसके सैनिकों ने पहले ही अधिकार कर लिया था।

कन्नौज या बिलग्राम का संघर्ष (17 मई, 1540 ई.)

चौसा की पराजय के पश्चात् हुमायूँ जान बचाकर आगरा चला आया। वहाँ आने पर उसके भाइयों की महत्त्वाकांक्षाएँ एवं अन्तर्विरोध खुलकर सामने आ गए। वह अपने भाइयों के साथ जब मतभेद सुलझाने एवं उन्हें समझाने में व्यस्त था तब शेरशाह पूरब में अपनी स्थिति दृढ़ कर रहा था हुमायूँ ने हिंदाल को माफ कर दिया था, परन्तु हुमायूँ और कामरान शत्रु से मोर्चा लेने के लिए संयुक्त संगठन पर एकमत न हो सके। इसी दौरान कामरान की तबीयत खराब हो गई। उसे संदेह हुआ कि हुमायूँ ने उसे जहर दिलवा दिया। अतः वह अपनी अधिकांश सेना लेकर लाहौर चला गया। हैदर मिर्जा स्पष्ट लिखता है कि कामरान के प्रस्थान के साथ ही शेरखाँ के भाग्य का उदय तथा मुगलों की शक्ति का ह्रास प्रारंभ हो गया।

अब शेरशाह हुमायूँ से अंतिम युद्ध करने के लिए रवाना हुआ और अपने पुत्र कुतुबखाँ को मालवा के जमींदारों को उकसाने के लिए भेजा कि वे आगरा तथा दिल्ली के पास गड़बड़ करें। किन्तु कुतुबखाँ, अस्करी व हिंदाल के हाथों कालपी नामक स्थान पर पराजित होकर मारा गया।

हिंदाल की विजय से हुमायूँ का प्रसन्न होना स्वाभाविक था। इससे प्रोत्साहित होकर अप्रैल, 1540 में हुमायूँ सेनासहित कन्नौज जा धमका। गंगा के दोनों किनारों पर मुगलों एवं अफगानों की सेनाओं ने पड़ाव डाल दिए। हुमायूँ ने यहाँ पुनः पहले वाली भूल दुहराई। उसने तत्काल शेरशाह पर आक्रमण नहीं किया, बल्कि उसके साथ वार्ता में संलग्न रहा। उसने शेरशाह की अनुमति से गंगा को पार कर लिया एवं बिलग्राम के निकट एक नीची जगह में खेमा डाल दिया। इस बीच शेरशाह पर आक्रमण में विलंब देखकर मुगल भयभीत हो गए। उनका मनोबल गिर गया एवं मुगलों में हताशा फैल गई। मुगल सरदार और सैनिक हुमायूँ का साथ छोड़ने लगे। सुलतान मिर्जा, उसके पुत्र और कामरान की सेना की टुकड़ी मैदान से भाग गई। भीषण वर्षा के कारण मुगल शिविर में पानी भर गया। इस तरह हुमायूँ को अपने तोपखाने का प्रयोग करने का अवसर ही नहीं मिला। जैसा मिर्जा हैदर लिखता है, 'एक गोली तक नहीं चलायी गई और गोला–बारूद का कतई काम नहीं पड़ा।' मुगलों ने डटकर मुकाबला किया, परन्तु अफगानों का आक्रमण इतना भयंकर था कि मुगलों के छक्के छूट गए और वे भाग निकले। हुमायूँ भी थोड़ा डटा रहने के बाद भाग खड़ा हुआ। रास्ते में भोगांव के लोगों ने विरोध कर उसे बड़ा कष्ट पहुँचाया। हुमायूँ आगरा पहुँचकर अफगानों के भय से जितना ले जा सका, कोष साथ लेकर पंजाब की ओर भाग गया।

बिलग्राम का यह युद्ध मध्य युग का एक परिवर्तन बिन्दु है। इस युद्ध ने हिन्दुस्तान में मुगलों की सत्ता समाप्त कर दिल्ली का राजमुकुट अफगानों के सिर पर रख दिया। हुमायूँ निष्कासित हो 15 वर्ष तक ठोकरें खाता रहा। यह युद्ध अफगानों के युद्ध–कौशल का प्रतीक था। जिस युद्ध–कौशल से मुगलों ने अफगानों को पानीपत में हराया था, उसी कौशल से अफगानों ने इस युद्ध में मुगलों को हराया। मुगलों को बड़ी हानि उठानी पड़ी और उनके यश को बड़ा गहरा धक्का लगा।

इसं पराजय के पश्चात् हुमायूँ ने भारत में रहकर पुनः सत्ता हासिल करने के प्रयास किए। उसने सिन्ध जाने से पूर्व गुजरात- विजय के लिए योजना बनाना प्रारंभ किया। वहीं से उसने शेरखाँ के विरुद्ध अभियानों को पुनः शुरू करने के प्रयास किए, वह सिन्ध में दो–तीन महीने भटकता रहा, लेकिन कोई भी शासक उसकी सहायता को तत्पर नहीं था। मारवाड़ के शासक राजा मालदेव ने हुमायूँ को मारवाड़ आने का निमन्त्रण देकर सैनिक सहायता का आश्वास दिया। लेकिन बाद में बदली हुई परिस्थितियों के कारण वह भी पीछे हट गया। अन्त में सत्ताच्युत मुगल बादशाह ने ईरान के शाह तहमास्प के यहाँ शरण ली उसकी सहायता से कन्धार एवं काबुल पर अधिकार कर लिया।

शेरखाँ के विरुद्ध हुमायँ की असफलता के कारण

चौसा एवं कन्नौज के युद्धों ने मुगल बादशाह हुमायूँ के सिर से बादशाही का ताज उतार दिया। इनमें पराजय के कारण वह पन्द्रह वर्षों तक दिल्ली के राजसिंहासन से च्युत रहा। शेरखाँ जैसे कुशल राजनीतिज्ञ के विरुद्ध उसकी असफलता के मुख्यतः निम्न कारण थे :

प्रथम, उसने अफगानों के खतरे को न केवल अच्छी तरह समझा, बल्कि उनकी शक्ति को कम करके आँका। पूर उत्तर भारत में बड़ी संख्या में अफगान परिवार अवस्थित थे, जो बाबर द्वारा उनके राज्य छीने जाने को भूले नहीं थे। वे सदैव अपने राज्य को पुनः प्राप्त करने की प्रतीक्षा में रहते थे।

द्वितीय, मुगल अमीर वर्ग में बिखराव था। इसके अतिरिक्त वे आगरा–दिल्ली क्षेत्र से दूर नहीं जाना चाहते थे, क्योंकि पहले से ही अपने वतन से दूर चले आने के कारण दुखी थे। वे आगरा–दिल्ली क्षेत्र में रह रहे सम्बन्धियों से और अधिक दूर नहीं जाना चाहते थे।

प्रोफेसर सतीशचन्द्र इन्हीं दो कारणों को मुख्यतः हुमायूँ की शेरखाँ के विरुद्ध असफलता का कारण मानते हैं। जबकि अन्य इतिहासकार इनके अतिरिक्त अन्य कारणों को अधिक बल प्रदान करते हैं।

तीन, डॉ. बी. एल. गुप्ता एवं डॉ.पेमाराम ने हुमायूँ की भूलों को मुख्यतः उत्तरदायी माना है। जिन विषम परिस्थितियों में हुमायूं ने राज्य सँभाला, अपनी गलतियों से उसने उसे और जटिल बना दिया। हुमायूँ ने अपने भाइयों में साम्राज्य का बँटवारा कर पहली भूल की। काबुल, कंधार और पंजाब कामरान को दे देने से उसकी शक्ति का आधार ही समाप्त हो गया तथा अस्करी और हिन्दाल को छोटी जागीरें देने से उनमें असन्तोष बना रहा। द्वितीय, हुमायूँ ने कालिंजर का अभियान कर दूसरी भूल की, जबकि न तो राजा को पराजित किया जा सका और न ही उसे मित्र बनाकर अपनी तरफ मिलाया जा सका। तृतीय, चुनार का दुर्ग शेरखाँ के आधिपत्य में रख देना उसकी तीसरी भूल थी। इससे शेरखाँ को अपनी शक्ति बढ़ाने का मौका मिल गया। चतुर्थ, गुजरात के बहादुरशाह के विरुद्ध चित्तौड़ की मदद न करना उसकी चौथी भूल थी, जिसने राजपूतों की सहानुभूति और सहयोग प्राप्त करने का मौका खो दिया। जिस प्रकार राजपूतों ने बाद में अकबर को सहयोग देकर मुगल साम्राज्य को दृढ़ता प्रदान की, उसी प्रकार हुमायूँ भी उनसे सहयोग लेकर अपने साम्राज्य की रक्षा कर सकता था। पाँचवाँ, गुजरात के बहादुरशाह के विरुद्ध आक्रमण की योजना में अनेक भूलें रह गयी थीं, जिनके कारण हाल ही में विजय किए गए मालवा और गुजरात से ही उसे हाथ नहीं धोने पड़े बल्कि इससे उसकी भावी असफलता, अवनति और अप्रतिष्ठा का संकेत भी प्राप्त हो गया। छठा, कन्नौज की लड़ाई में तो उसने भारी भूल की जैसे कि सैनिक–शिविर के लिए नीचा स्थान चुनना, डेढ़ महीने तक अकर्मण्य बने रहना, शिविर को दूसरे स्थान पर हटाते समय सेतु का प्रबन्ध न करना, तोपखाने का युद्ध में उपयोग न कर पाना आदि बातें उसकी असफलता, पराजय और अन्त में युद्ध–क्षेत्र से पलायन के लिए उत्तरदायी बनीं।

जबकि प्रो. सतीशचन्द्र इन कारणों से सहमत नहीं है, उन्होंने हुमायँ को कुशल प्रशासक एवं योग्य सेनापति माना है

चार, कुछ इतिहासकार हुमायूँ के भाइयों के प्रति नरम व्यवहार को ही उसकी मुसीबतों का कारण मानते हैं। उनके अनुसार यदि तीनों भाइयों ने समय पर सहायता की होती तो हुमायूँ चौसा के युद्ध में अपमानजनक पराजय से बच जाता। इसी प्रकार कन्नौज के युद्ध से पहले यदि कामरान अपनी सेना लेकर लाहौर न लौटता और युद्ध में हुमायूँ की मदद करता तो स्थिति भिन्न होती। परन्तु यह कहना ठीक है कि सदा निर्बल और अस्थिर होने के कारण अस्करी और हिंदाल स्वार्थी चाटुकारों के कारण खतरनाक मालूम होते थे। इस प्रकार अपने भाइयों के प्रति अत्यधिक उदारता तथा भाइयों का असहयोग हुमायूँ की असफलता में सहायक सिद्ध हुआ।

जबकि प्रो. रामप्रसाद त्रिपाठी एवं प्रो. सतीशचन्द्र इस मत से असहमत हैं। त्रिपाठी लिखते हैं कि 'घटनाक्रम के सब सूत्रों पर विचार करने से यह सरलतापूर्वक सिद्ध होता है कि यदि हुमायूँ के पतन में भाइयों का हाथ रहा भी, तो बहुत कम। चौसा की हार नहीं, कन्नौज की हार ही हुमायूँ के प्रवास का मुख्य कारण बनी। कन्नौज में मुगल शक्ति के नष्ट होने का दायित्व किसी भाई पर नहीं आता, कामरान पर भी नहीं।'

प्रो. सतीशचन्द्र लिखते हैं कि मतभेदों के बावजूद असकरी एवं हिंदाल ने बंगाल अभियान तक वफादारी से साथ दिया। कामरान ने भी तब तक कोई विरोध नहीं किया, जबकि वास्तव में उसने हिंदाल के विद्रोह को दबाने में सहयोग दिया। चौसा के युद्ध के पश्चात् भाइयों ने उसमें विश्वास खो दिया था एवं उस समय उसको मारने की योजना बनाई।

पाँच, हुमायूँ की व्यक्तिगत कमजोरियों को भी उसकी असफलता के लिए दोषी ठहराते हैं। उसमें संकल्प–शक्ति का अभाव था। डटकर प्रयत्न करना उसकी शक्ति से बाहर था। विजय–प्राप्ति के थोड़े समय बाद ही वह अपने हरम में जाकर आनंद में पड़ा रहता था और अपने समय को अकीमची के सपनों की दुनिया में नष्ट करता था। जैसे मालवा और गुजरात पर विजय प्राप्त करने के बाद हुमायूँ ने माण्डू में कई सप्ताह रंगरेलियों में व्यतीत कर दिए, जिससे बहादुरशाह को गुजरात को पुनः विजय करने का अवसर मिल गया। इसी प्रकार बंगाल की राजधानी गौड़ पर अधिकार करने के बाद हुमायूँ भोग–विलास और प्रमाद में फँस गया और आठ महीने से अधिक का समय नष्ट कर दिया, जिससे शेरखाँ को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर मिल गया। शत्रु की शक्ति का ठीक अनुमान न लगा पाना और कठिन परिस्थितियों में तत्काल निर्णय न कर पाना उसकी कमजोरियाँ थीं।

प्रो. त्रिपाठी हुमायूँ के चरित्र को उसके पतन का कारण नहीं मानते। उनके अनुसार वह वीर, धैर्यशाली, शांत और गम्भीर तो था ही, आवश्यकता पड़ने पर अत्यधिक श्रम और क्रियाशीलता भी दिखाने योग्य था।.... वह योग्य एवं अनुभवी सेनानायक भी था। जबकि डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने भी लिखा है कि 'ऐसे अवसर पर, जबकि उसे सजग–सचेष्ट होकर सैन्य–संचालन में संलग्न रहना चाहिए था तब अपने हरम में रंगरेलियाँ मनाना और आराम करने का हुमायूँ का स्वभाव उसकी असफलता का एक प्रमुख कारण था।'

छह, हुमायूँ में सैनिक गुणों का अभाव भी उसकी असफलता के कारणों में गिनाया जाता है। वह आक्रमण के समय की उपयुक्तता का निर्णय नहीं कर पाता था। उसकी रणनीति भी दोषपूर्ण थी। उसने अपने सैनिक सलाहकारों के उचित परामर्शों पर भी ध्यान नहीं दिया। उदाहरणस्वरूप चौसा के युद्ध के पूर्व उसके सलाहकारों ने उसे जौनपुर तक गंगा के उत्तरी मार्ग से जाने की सलाह दी थी, परंतु उसने दक्षिणी मार्ग पकड़ा। मालवा से लौटने के बाद उसे शेरखाँ के दमन की सलाह दिलावरखाँ लोदी ने दी थी, परंतु उसने इस पर ध्यान नहीं दिया। चौसा और बिलग्राम के युद्धों के अवसरों पर उसने अपना शिविर नीची जगहों पर लगाया, शत्रु पर तत्काल आक्रमण नहीं किया एवं व्यूहरचना भी ढंग से नहीं की। फलतः शेरखाँ के मुकाबले में अधिक विशाल सेना रखते हुए भी उसकी हार हुई। हुमायूँ अपनी दुर्बलता से सेना में अनुशासन बनाए नहीं रख सका। परिणामस्वरूप विपत्ति में उसकी सेना भी उसका साथ छोड़कर चल देती थी।

इन कारणों को प्रो. सतीशचन्द्र सही नहीं मानते। वे उसे एक निपुण सेनानायक मानते हैं। इसी कारण से प्रो. रामप्रसाद त्रिपाठी अपनी सहमति जताते हैं। उनके अनुसार वह एक योग्य एवं अनुभवी सेनानायक था। वे अपने तर्क को आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं कि यदि बाबर की इब्राहीम लोदी पर विजय न होती तो बाबर की सफलताओं का लेखा उसके उत्तराधिकारी की अपेक्षा कहीं कम होता। यदि बाबर को इब्राहीम की जगह शेरशाह जैसे शत्रु से निपटना होता तो इसमें संदेह है कि वह सफल भी हो पाता।

सात, सेनानायक की दृष्टि से अफगान सेनानायक हुमायूँ की तुलना में अधिक प्रतिभावान था। उसमें योग्य सेनानायक के सभी गुण थे। वह सोच–समझकर युद्ध एवं आक्रमण की योजनाएँ बनाता था। रणक्षेत्र में भी उसकी व्यूहरचना हुमायूँ से श्रेष्ठ होती थी। उसमें प्रशासनिक गुण भी थे, जिनसे वह शीघ्र ही सभी अफगान सरदारों को अपने पक्ष में मिलाकर उनका सहयोग प्राप्त कर सका। अनेक अवसरों पर उसने हुमायूँ को झूठा आश्वासन एवं प्रलोभन देकर समय प्राप्त कर लिया एवं अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली।

हुमायूँ के मुकाबले सैन्य प्रतिभा की दृष्टि से शेरशाह निश्चित ही प्रतिभावान था। इस मत से प्रो. सतीशचन्द्र एवं प्रो. रामप्रसाद त्रिपाठी दोनों सहमत हैं। प्रो. त्रिपाठी लिखते हैं कि रणनीति और रणकौशल में अफगान नेता उससे बढ़ा हुआ नहीं तो उसके बराबर अवश्य था। उसकी सैनिक रणनीति ही हुमायूँ के पतन का कारण बनी।

आठ, हुमायूँ की अपव्यता भी उसके लिए आर्थिक संकट लेकर आई। प्रो. त्रिपाठी लिखते हैं कि हुमायूँ का अपव्यय उसके लिए घातक सिद्ध हुआ। उसमें वित्तीय अयोग्यता थी। यह कमजोरी सम्भवतः उस अपने पिता से विरासत में मिली थी। लेकिन हुमायूँ ने इस

पक्ष की ओर ध्यान नहीं दिया। बाद में हुमायूँ को कालिंजर से युद्ध–क्षति के रूप में बहुत बड़ी धनराशि और चम्पानेर [illegible] के शासकों का विशाल कोष मिला था, लेकिन उसने इस धन को बड़ी–बड़ी दावतें देने, आमोद–उत्सव मनाने, अपने अनुयायियों को पुरस्कार बाँटने और इमारतें बनाने में खर्च कर दिया। चम्पानेर से प्राप्त खजाने को तो [illegible] अपने हाथों से खर्च किया और अपने अनुयायियों को दावतें देने तथा खिलअत बाँटने में तत्पर रहता था। इससे साम्राज्य की आर्थिक स्थिति [illegible] राजकोष रिक्त हो जाने से अन्य सारी समस्याएँ भी खड़ी हो गईं।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि उसकी सबसे बड़ी कमजोरी दूसरे व्यक्ति के वचन पर आसानी से विश्वास कर लेना था। अगर उसने शेरखाँ की बात पर विश्वास न किया होता तो चौसा की दुर्घटना से बच सकता था।

प्रो. त्रिपाठी हुमायूँ की भाग्यहीनता को भी उसकी असफलता के लिए दोषी मानते हैं। मई पास में मौसम के विपरीत मूसलधार वर्षा ने कन्नौज में उसकी मुसीबतें बढ़ा दीं। इसके अतिरिक्त प्रशासनिक सूझबूझ का भी अभाव था। विजित क्षेत्रों को एकसूत्र में बांध पाने में उसकी अयोग्यता ही झलकती है। विजित प्रदेशों पर अधिकार बनाए न रख पाना उसके एवं साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुआ। इस प्रकार उपर्युक्त सभी कारणों ने संयुक्त रूप से हुमायूँ की असफलता में अपना योगदान दिया।

राज्यच्युत मुगल बादशाह हुमायूँ का निर्वासित जीवन

चौसा एवं कन्नौज का युद्ध हुमायूँ के लिए अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण था। इन युद्धों के पश्चात् उसकी प्रतिष्ठा समाप्त हो गई एवं अवस्थापित मुगल साम्राज्य उसके हाथ से निकल गया। विजयी शेरशाह दो विजयों के पश्चात् आगरा की ओर अभियान की योजना बना रहा था। इस समाचार को सुनकर हुमायूँ आगरा का त्याग करके लाहौर की ओर प्रस्थान कर गया।

वहाँ पहुँचकर उसने अपने भाइयों से शेरखाँ का प्रतिरोध करने का अनुरोध किया लेकिन किसी ने भी रुचि नहीं दिखाई। इस बीच शेरखाँ भी वहाँ पहुँच गया और उसने हुमायूँ को काबुल लौट जाने का संदेश भिजवाया। दूसरी ओर कामरान की नीयत में भी फर्क आ गया था। वह शेरखाँ के साथ साँठ–गाँठ कर रहा था। उसके साथ मिलकर वह पंजाब पर अपना आधिपत्य बनाए रखना चाहता था। यह देखकर मिर्जा हैदर की सलाह पर कश्मीर जाने की योजना बनाने लगा। लेकिन कामरान ने कश्मीर जाने का उसका मार्ग रोक दिया। इन षड्यंत्रों से तंग आकर वह सिंध की ओर चल पड़ा।

सिंध में भी दुर्भाग्य ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। वहाँ के शासक शाह हुसैन अरगुन से सहायता की अपील की, लेकिन उसने सहायता से मना कर दिया। तब उसका घुमक्ड़ी एवं मुसीबतों का दौर आरंभ हुआ। शाह के व्यवहार से नाराज होकर उसने सिंध–विजय की योजना बनाई लेकिन सफलता नहीं मिली। उसकी असफलताओं से उसके सैनिक एवं साथी परेशान हो गए थे। इसी समय हिंदाल ने भी उसका साथ छोड़ दिया एवं वह काबुल चला गया। इन मुसीबतों के समय उसने सुख के कुछ क्षण निकाल ही लिए। उसने अगस्त, 1541 ई. में हमीदाबानो बेगम से विवाह कर लिया। इससे उसको थोड़ा सुकून अवश्य ही मिला होगा।

जब वह घुमक्ड़ का जीवन बिता रहा था एवं एक जगह से दूसरी जगह शरण हेतु भटक रहा था तब उस समय उसे मारवाड़ के राजा मालदेव का निमंत्रण मिला। अतः वह राजपूतों की सहायता से अपने खोए राज्य को प्राप्त करने की आशा लेकर मारवाड़ की राजधानी जोधपुर की तरफ बढ़ा। मार्ग में जैसलमेर के स्थानीय शासक ने हुमायूँ को घेरने का प्रयास किया। इस आक्रमण को विफल कर हुमायूँ जोधपुर के निकट पहुँचा। उसने मालदेव के पास अपना दूत भेजा। इस बीच मालदेव ने शेरशाह के भय और प्रलोभन में फँसकर हुमायूँ को गिरफ्तार करने की योजना बनाई। फलतः हुमायूँ को पुनः वहाँ से भागना पड़ा।

मार्ग में उमरकोट के राजा वीरसाल ने उसे संरक्षण और सहायता प्रदान की। यहीं 15 अक्टूबर, 1542 ई. को हमीदाबानो से एक पुत्र अकबर का जन्म हुआ। यहाँ से हुमायूँ कँधार के लिए रवाना हो गया, लेकिन कामरान ने असकरी को भेजकर उसका रास्ता रोक लिया। सम्भवतः वह उसे बंदी बनाना चाहता था। हुमायूँ बड़ी कठिनाई से अपने एकवर्षीय पुत्र अकबर को छोड़कर अपनी जान बचाकर भाग सका। 1544 ई. में हुमायूँ फारस पहुँच गया, जहाँ शाह तहमास्प ने उसका स्वागत–सत्कार किया। इसके पश्चात् वह ईरान के शाह की शरण में चला गया।

फारस की सहायता से कन्धार एवं काबुल पर अधिकार

फारस का शासक कट्टर शिया–धर्मावलम्बी था। उसने हुमायूँ को इस शर्त पर सैनिक सहायता देना स्वीकार कर लिया कि वह शिया मतावलम्बी बनकर अपने राज्य की सीमाओं में शिया मत का प्रचार करेगा और कँधार को जीतने के बाद [illegible]

देगा। हुमायूँ ने इन शर्तों को स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् हुमायूँ शाह से सैनिक सहायता लेकर कंधार की ओर बढ़ा, जो इस समय अस्करी के अधिकार में था। उसने अस्करी को हराकर कधार पर अधिकार कर लिया। अब वह काबुल की ओर बढ़ा, जो कामरान के अधिकार में था। शीघ्र ही काबुल भी उसके अधिकार में आ गया। कामरान पहले गजनी भाग गया और बाद में सिंध की ओर चला गया। यहाँ हुमायूँ को अपना बिछुड़ा हुआ दो वर्षीय पुत्र अकबर पुनः प्राप्त हुआ।

काबुल और कँधार को जीतने से हुमायूँ की समस्याओं का हल नहीं हो गया। यद्यपि हिन्दाल और यादगार मिर्जा इस समय हुमायूँ के साथ थे और बैरमखाँ हुमायूँ का योग्य और वफादार सरदार साबित हुआ था, परन्तु कामरान और अस्करी हुमायूँ का विरोध करते रहे। कामरान ने 1547 ई. और 1549 ई. में दो बार पुनः काबुल पर अधिकार कर लिया, परन्तु प्रत्येक बार उसे हुमायूँ द्वारा परास्त किया गया और माफ कर दिया गया। सरदारों द्वारा कामरान को मौत की सजा दिए जाने की राय की अवहेलना करते हुए बाद में हुमायूँ ने कामरान को अंधा करवा दिया और उसे मक्का भेज दिया, जहाँ 1557 ई. में उसकी मृत्यु हो गई। इसी प्रकार अस्करी को भी कैद से मुक्त करके मक्का भिजवा दिया जहाँ रूम में 1558 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। हिंदाल हुमायूँ की तरफ से युद्ध करता हुआ 1551 ई. में ही मर गया था। इस प्रकार अब हुमायूँ अपने भाइयों से छुटकारा पा चुका था और अब उसे एक बार फिर भारत के खोए हुए साम्राज्य को प्राप्त करने का अवसर मिला।

इन सफलताओं के पश्चात् उसने अपनी भावी योजनाएँ सावधानीपूर्वक एवं सतर्कता के साथ लागू करने का निर्णय किया। वह अब पुरानी गलतियाँ दुहराना नहीं चाहता था। जिनके कारण से उसे अपना साम्राज्य गँवाना पड़ा था।

भारत अभियान एवं अपने खोए साम्राज्य की पुनर्प्राप्ति

कँधार एवं काबुल विजय से लगने लगा था कि दुर्भाग्य ने हुमायूँ का पीछा करना छोड़ दिया था। अपने भाइयों से मुक्ति के पश्चात् तो इस बात की और भी पुष्टि हो गई। इसी बीच भारत में भी राजनीतिक परिस्थितियों में तेजी से परिवर्तन आ रहा था। उसका मुख्य प्रतिद्वंद्वी शेरशाह 22 मई, 1545 ई. को संसार से विदा ले चुका था। उसके पश्चात् शेरशाह का उत्तराधिकारी इस्लामशाह भी 1553 ई. में इस संसार से विदा ले चुका था। ये सभी शुभ संकेत थे और हुमायूँ को भारत पर आक्रमण करने के लिए निमंत्रण दे रहे थे। इन सब परिस्थितियों से लगने लगा कि हुमायूँ के सौभाग्य ने दस्तक दे दी है।

इस्लामशाह की मृत्यु के पश्चात् अफगानों की फूट सामने आई, जब उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र फिरोज को उसके ही मामा एवं चाचा मुबारिजखाँ ने उसे मार दिया। मुबारिजखाँ स्वयं मुहम्मद आदिलशाह के नाम से राजसिंहासन पर बैठा। उसी के काल में सूर साम्राज्य के पतन का सिलसिला प्रारंभ हो गया।

शेरशाह ने जिस अफगान एकता की भावना को जाग्रत् किया था, वह समाप्त हो गई। लाहौर में सिकन्दरशाह सूर ने, बिहार में आदिलशाह सूर ने और बंगाल में मुहम्मदशाह सूर ने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। दिल्ली पर पहले इब्राहिमशाह ने और फिर सिकन्दरशाह ने अपना अधिकार कर लिया।

इन राजनीतिक परिस्थितियों का कन्धार में बैठा हुमायूँ गौर से अध्ययन कर रहा था। उसने देखा कि यह उसके लिए स्वर्णिम अवसर है। इन परिस्थितियों में उसने अपने खोए साम्राज्य के स्वप्न को साकार करने का निर्णय लिया।

एक सेना लेकर नवम्बर, 1554 ई. में वह सिन्ध को पार करके पेशावर की ओर बढ़ा और 24 फरवरी, 1555 ई. को लाहौर पर अधिकार कर लिया। उधर सिकन्दरशाह ने एक बड़ी सेना तातारखाँ और हैबतखाँ के नेतृत्व में मुगलों का मुकाबला करने के लिए भेजी। 15 मई, 1555 ई. को दोनों सेनाओं के बीच में मच्छीवाड़ा का युद्ध हुआ, जिसमें मुगलों की विजय हुई और अफगान हारकर भाग खड़े हुए। इस युद्ध के बाद सम्पूर्ण पंजाब पर मुगलों का अधिकार हो गया। अब स्वयं सिकन्दरशाह बड़ी सेना लेकर मुगलों से संघर्ष करने आगे बढ़ा। 22 जून, 1555 ई. को सरहिन्द में दोनों सेनाओं के बीच भीषण युद्ध हुआ, इसमें हुमायूँ की फिर विजय हुई। सिकन्दरशाह भागकर पंजाब की पहाड़ियों में छिप गया। हुमायूँ ने आगे बढ़कर 23 जुलाई, 1555 ई. को दिल्ली पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार 15 वर्ष के अन्तराल के पश्चात् वह पुनः हिन्दुस्तान का सम्राट् बनने में सफल हुआ।

1555 ई. में मुगलों द्वारा दिल्ली पर आधिपत्य ने हुमायूँ को दोबारा मुगल तख्त पर बैठा दिया। प्रोफेसर सतीशचन्द्र के अनुसार हुमायूँ हिन्दुस्तान का बादशाह तो अवश्य बन गया था लेकिन अफगान शक्ति अभी भी पूर्णतः समाप्त नहीं हुई थी। सिकन्दर सूर एव मुहम्मदशाह आदिलशाह सूर आदि अलग-अलग क्षेत्रों में सक्रिय थे। दिल्ली के हाथ से निकल जाने के कारण इब्राहीम सूर राज्य

रहा था एवं उस पर पुनः अधिकार करने के अवसर की प्रतीक्षा में था। बंगाल में मुहम्मदशाह सूर अपनी शक्ति संगठित कर रहा था। आगरा के आस–पास के क्षेत्रों पर आदिलशाह सूर का अधिकार था। उसके पास वीर एवं योग्य सेनानायक

दिल्ली पर आधिपत्य के पश्चात् उसने तुरन्त कुछ प्रशासनिक कार्य किए। सबसे पहले उसने अपने पुत्र अकबर को [illegible] किया और बैरमखाँ के संरक्षण में उसे पंजाब का गवर्नर नियुक्त कर दिया, क्योंकि वहाँ सिकन्दरशाह अब भी [illegible] था। आगरा, सम्भल और आस–पास के क्षेत्र पर भी अधिकार कर लिया, जो पहले उसके कब्जे में रह चुके थे।

हुमायूँ जीते हुए प्रदेशों की व्यवस्था भी नहीं कर पाया था कि उसका अन्त समय आ गया। 26 जनवरी, 1556 ई. को जब वह 'दीनपनाह' के पुस्तकालय की छत पर बैठा हुआ विशिष्ट सरदारों से विचार–विमर्श कर रहा था, तो उसी समय नमाज की आवाज सुनकर वह सीढ़ियों से उतरने लगा किन्तु उसका पैर फिसल गया और वह लुढ़कता हुआ नीचे आ गिरा। उसकी खोपड़ी की हड्डी टूट गई और इसी चोट से 27 जनवरी, 1556 ई. को हुमायूँ की मृत्यु हो गई। उसकी मौत पर डॉ. हरीशकर श्रीवास्तव ने लिखा है कि जब उसकी लाश बार–बार कब्र से निकाली जा रही थी तब लिखा कि 'भाग्य की कैसी विडम्बना थी कि हुमायूँ को जीवन भर शान्ति नहीं मिली और उसकी लाश भी बार–बार दफनाई गई।'

हुमायूँ द्वारा अपनी खोई सत्ता को पुनः प्राप्त करना उसकी योग्यता की सबसे बड़ा मिसाल है। दिल्ली पर पुनः अपना कब्जा करके स्वयं पर लगे सारे दाग उसने मिटा दिए। उसने यह प्रमाणित कर दिया कि उसमें परिस्थितियों को पहचान कर निर्णय लेने की अभीम शक्ति है। उसने यह भी दिखा दिया कि उसमें एक सेनानायक एवं रणनीतिकार के वे सभी गुण विद्यमान हैं जो किसी साम्राज्य–विजेता के पास होने चाहिए।

हुमायूँ में अनुभवों से सीख ग्रहण करने की अपार क्षमता थी। डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी लिखते हैं कि 'कठोर अनुभवों ने हुमायूँ को समझदार बना दिया था और उसकी प्रवृत्ति में आवश्यक परिवर्तन हो गया था।.....दीर्घकालीन कष्टमय जीवन की अन्तिम परीक्षा में उसका चरित्र तप कर निखर चुका था।'

इस बार उसमें प्रशासन के गठन का भी अनुभव था। शेरशाह के शासन की खूबियों को भी वह जारी रखना चाहता था। उसने प्रान्तीय प्रशासन पर अधिक बल दिया एवं उसी के अनुसार उसने प्रान्तों के गठन का निर्णय लिया लेकिन भाग्य में कुछ और ही लिखा था। अपनी योजना को मूर्त रूप देने से पहले ही उसकी अचानक मौत ने सब–कुछ अधूरा छोड़ दिया। लेकिन एक बात निश्चित तौर पर कही जा सकती है कि उसने भी मुगल साम्राज्य की स्थापना में अपना योगदान दिया। अपनी सैन्य कुशलता एवं राजनीतिक समझ के आधार पर खोए हुए मुगल साम्राज्य को फिर से प्राप्त करना उसकी एक महान उपलब्धि थी।

मुगल साम्राज्य की स्थापना एवं अकबर (1556–1605 ई.)

हुमायूँ की मौत का समाचार साम्राज्य के सभी लोगों के लिए एक दुखद समाचार से अधिक उन पर बिजली गिरने के समान था। सब मुगल अमीरों की आँखों के सामने पुरानी मुसीबतों के दिन घूम गए। अभी–अभी तो मुगलों ने सत्ता पर अधिकार किया था और शत्रुओं का खतरा पूर्णतः समाप्त भी नहीं हुआ था। अफगान अब भी देश के विभिन्न भागों में सक्रिय थे एवं अपने खोए हुए साम्राज्य को वापिस प्राप्त करने के लिए पुनः संगठित हो सकते थे। हुमायूँ की मौत की सूचना उनके प्रयासों में तेजी ला सकती थी। इसलिए मुगल अमीरों ने इस सूचना को लगभग सत्रह दिनों तक छिपाए हुए रखा। इस बीच मुल्ला बकसी को मुगल ताज पहना कर झरोखा दर्शन के लिए बिठाया जाता रहा। इसके बाद बादशाह की मौत की खबर पंजाब के कलानौर में अकबर एवं उसके संरक्षक (अतालिक) को भी पहुँचा दी गई। 14 फरवरी, 1556 ई. के दिन अकबर के नाम का दिल्ली में खुतबा पढ़ा गया।

अकबर का राज्यारोहण

बादशाह की मौत का समाचार पाकर उसके संरक्षक बैरमखाँ ने एक अस्थाई ईंटों का सिंहासन बना कर 14 फरवरी [illegible] के दिन ही अकबर का राजतिलक करके मुगल बादशाह घोषित कर दिया। इस समय अकबर की आयु मात्र चौदह वर्ष के [illegible]

इस समय अकबर नाममात्र का शासक था। उसके अधीन पंजाब का एक छोटा–सा हिस्सा था एवं शेष भाग सिकन्दर सूर [illegible] में उपस्थिति से संशय में था। आदिलशाह सूर का आगरा के आस–पास के क्षेत्र पर आधिपत्य था। उसका वजीर हेमू अत्यन्त योग्य एवं सेनानायक था। हुमायूँ की मौत की खबर से उनमें पुनः जोश भर गया। हेमू ने एक विशाल सेना के साथ दिल्ली की ओर [illegible] सूर्व मुगल साम्राज्य के कई क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया था। बदायूँनी लिखता है कि वह 50,000 सवारों, 1,000 हाथियों एवं [illegible]

की विशाल सेना के साथ आगे बढ़ रहा था। इससे नवनियुक्त बादशाह के साम्राज्य के सामने एक बड़ा खतरा मंडरा रहा था।

हेमू ने अपने स्वामी आदिलशाह के आदेश से आगे बढ़कर आगरा के सूबेदार को पराजित करके दिल्ली के सूबेदार तारदीबेग को भी 7 अक्टूबर, 1556 ई. को पराजित करके दिल्ली पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। बदायूँनी के अनुसार उसने स्वय को दिल्ली का शासक घोषित कर दिया। इसके साथ ही उसने प्रसिद्ध हिन्दू सम्राट विक्रमाजीत के नाम की उपाधि धारण करली।

हेमू की इस दिल्ली–विजय की प्रतिक्रिया मुगल अमीरों पर काफी प्रभावी रही। उन्होंने अकबर को भारत त्याग कर काबुल जाने की सलाह दे डाली। बैरमखाँ की प्रतिक्रिया इनसे नितान्त भिन्न थी। वह एक वीर योद्धा एवं सेनानायक था। इसलिए अपने गुणों के अनुसार उसने हेमू का मुकाबला करने का निर्णय लिया। उसने कहा कि दिल्ली हेमू से वापिस लिया जाएगा।

पानीपत का द्वितीय युद्ध (5 नवम्बर 1556 ई.)

हेमू का मुकाबला करने के बैरमखाँ के निर्णय में अकबर की सहमति भी सम्मिलित थी। मुगल सेना ने पूरी तैयारी के साथ दिल्ली की ओर प्रयाण किया। मार्ग में सेना के सम्मुख उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए बैरमखाँ ने सरहिंद के समीप तारदीबेग को मौत के घाट उतार दिया।

हेमू को जब बैरमखाँ के नेतृत्व में मुगल सेना के आगे बढ़ने की सूचना मिली तो उसने एक अग्रिम सैन्य दल उसको रोकने हेतु पानीपत की ओर रवाना कर दिया। लेकिन इस टुकड़ी को अलीकुलीखाँ के हाथों पराजय का मुँह देखना पड़ा एवं उसके तोपखाने पर भी मुगलों का आधिपत्य हो गया। लेकिन इससे हेमू के हौसले पस्त नहीं हुए। पूरे जोश के साथ उसकी सेनाएँ पानीपत के मैदान में 5 नवम्बर, 1556 ई. को पहुँच गई। यह युद्ध वास्तव में सूर सेनानायक हेमू एवं मुगल सेनानायक बैरमखाँ के मध्य था। हेमू के बायें दस्ते की कमान हेमू के भाँजे रमैया के हाथ में थी। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। इस युद्ध में हेमू ने बिना तोपखाने के ही युद्ध किया। एक समय तो ऐसा लगने लगा कि हेमू की विजय अति निकट है। उसकी वीरता से मुगल सेना में भगदड़ मच गई। किन्तु इसी मध्य अचानक एक तीर हेमू की आँख में लगा एवं वह बेहोश होकर हाथी के हौदे से गिर गया। इससे उसकी सेना का मनोबल गिर गया। इसी समय उसकी मौत की अफवाह ने परिस्थिति को और अधिक गम्भीर बना दिया। सेना तितर–बितर होकर इधर से उधर भागने लगी। हेमू के सहायक उसको युद्धक्षेत्र से हटाना चाहते थे लेकिन एक मुगल सैनिक अधिकारी ने उसको पकड़कर अकबर के सामने प्रस्तुत किया, जहाँ बैरमखाँ ने अकबर की उपस्थिति में उसको मौत के घाट उतार दिया।

प्रोफेसर सतीशचन्द्र के अनुसार पानीपत के द्वितीय युद्ध में हेमू की पराजय का मुख्य कारण कुछ अफगान सरदारों का उसके प्रति असंतोष था। द्वितीय कारण तोपखाने के उपयोग के प्रति हेमू का नकारात्मक रवैया था। सशक्त एवं प्रशिक्षित हाथियों पर उसकी अत्यधिक निर्भरता भी उसकी पराजय का कारण बनी थी।

पानीपत युद्धक्षेत्र मुगलों के लिए अत्यंत शुभ था। प्रथम युद्ध ने मुगल साम्राज्य की नींव डाली जबकि दूसरे युद्ध ने भारत में उसकी स्थिति को दुबारा से स्थापित किया। 8 नवम्बर, 1556 ई. को मुगल सेना दिल्ली में प्रवेश कर गई एवं थोड़े समय पश्चात् ही आगरा पर भी कब्जा कर लिया। इसलिए पानीपत के दूसरे युद्ध के भी महत्वपूर्ण परिणाम निकले। इस समय जो सत्ता स्थापित हुई वह अंग्रेजों के आने के पश्चात् भी जारी रही।

अफगानों का पूर्णतः दमन

बैरमखाँ वह गलती दुबारा नहीं करना चाहता था जो बाबर एवं हुमायूँ ने की थी। हेमू की पराजय के साथ ही अफगान खतरा स्वतः ही समाप्त नहीं हो गया था। इसलिए वह इस बार अफगानों की शक्ति को हमेशा के लिए समाप्त कर देना चाहता था। उनकी शक्ति को कुचलने के लिए उसे छह महीने तक सैनिक अभियान करने पड़े। इस समस्या से निबटने के लिए सबसे पहले सिकन्दर सूर के विरुद्ध सेना भेजी गई, जिसने 1557 ई. के मई महीने में आत्मसमर्पण कर दिया। मुहम्मद आदिलशाह सूर बंगाल के गवर्नर से लड़ता हुआ मुँगेर में मारा गया। खान–ए–जमान ने इब्राहिमशाह सूर को जौनपुर से निकाल दिया और उसकी मौत उडीसा के किसी स्थान पर हो गई। इस प्रकार बैरमखा ने मुगलों के कट्टरतम शत्रु अफगानों का सफाया करके उस खतरे को हमेशा के लिए समाप्त कर दिया। यह बैरमखाँ की दूरदृष्टि का प्रतीक है।

बैरमखाँ का दूसरा मुख्य महत्त्वपूर्ण कार्य अपने चार साल के संरक्षणकाल में मुगल साम्राज्य का विस्तार करना था। यह साम्राज्य की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक भी था। उसने इस हेतु सैनिक अभियान प्रारभ किए। सर्वप्रथम 1557 ई. में उसने ग्वालियर के किले

पर आधिपत्य किया। सम्भल, अजमेर एवं मेवात पर मुगल पताका फहरा दी गई। चुनार, रणथम्भौर एवं मालवा की ओर भी सेनाएँ भेजी गईं। लेकिन पूर्व के दो किलों पर कब्जा करने में सफलता नहीं मिल पाई। अकबर एवं बैरमखाँ के मध्य बढ़ते मतभेदों के कारण मालवा अभियान अधूरा ही रह गया। बैरमखाँ के समय एकमात्र कंधार का किला रहा, जो मुगलों के हाथ से निकलकर ईरान के हाथों में पहुँच गया। बैरमखाँ ने अपने चार साल के दौरान मुगल साम्राज्य का फैलाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। बड़े क्षेत्र पर अकबर की विजय–पताका फहरा दी। इससे अकबर के नेतृत्व में मुगल सत्ता का व्यापक प्रभाव हुआ और उसकी स्थिति में जबरदस्त बढ़ोतरी हुई।

बैरमखाँ एवं अकबर के मध्य बढ़ते मतभेदों की परिणति उसकी 1560 ई. में अपने पद से मुक्ति के रूप में हुई। लेकिन भारत में मुगल सत्ता की दुबारा स्थापना में उसका महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय योगदान था। उसके चारसाला कार्यकाल के दौरान न केवल मुगल सत्ता की स्थापना हुई बल्कि उसमें विस्तार एवं उसका सुदृढ़ीकरण भी हुआ।

अकबर के अधीन मुगल साम्राज्य का विस्तार

बैरमखाँ से मुक्ति पाकर अकबर ने शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली। जैसे ही उसने शासन–प्रबंध सभाला इसके मन में साम्राज्य–विस्तार की इच्छा जाग्रत् हो गई। राज्य–विस्तार के द्वारा वह अपने साम्राज्य की गरिमा में अभिवृद्धि करना चाहता था। बागडोर संभालने के एक साल पश्चात् ही उसने अपनी योजना को मूर्तरूप देने का निर्णय ले लिया।

मालवा-विजय (1561 ई.)

सर्वप्रथम उसने मालवा की ओर ध्यान दिया, जो कृषि–उत्पादन की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध प्रांत था। इसके अतिरिक्त व्यापारिक दृष्टि से भी काफी महत्त्वपूर्ण क्षेत्र था। मालवा अभियान को अकबर ने यह कहकर उचित ठहराया कि यह प्रांत उसके पिता हुमायूँ के अधीन था। इस समय बाजबहादुर यहाँ का शासक था। वह सुजातखाँ का बेटा था, जो शेरशाह के समय में यहाँ का सूबेदार था लेकिन बाद में वह स्वतंत्र हो गया। इसके पश्चात् अपनी शक्ति के बल पर बाजबहादुर यहाँ का शासक बन गया था।

मालवा पर आक्रमण के लिए बाजबहादुर की अकर्मण्य राज्य–नीति को भी बहाना बनाया गया। उसकी लापरवाही के कारण वहाँ की जनता बरबाद हो रही थी। इन बातों को आधार बनाकर 1561 ई. में अधमखाँ एवं पीरमोहम्मद के नेतृत्व में एक सेना भेजी गई। सारंगपुर नामक स्थान पर 29 मार्च, 1561 ई. को बाजबहादुर एवं मुगलों के बीच घमासान युद्ध हुआ, जिसमें विजयश्री मुगलों के हाथ लगी। बाजबहादुर को युद्धक्षेत्र छोड़कर भागना पड़ा। लेकिन इस पराजय से वह पस्त नहीं हुआ, बल्कि असीरगढ़ एवं बुरहानपुर से सैनिक सहायता लेकर मालवा में नव–नियुक्त सूबेदार पीरमोहम्मद को युद्ध में पराजित कर मालवा पर पुन अपना कब्जा कर लिया।

इस सूचना के मिलने पर अकबर ने 1562 ई. में अब्दुल्लाखाँ के नेतृत्व में एक सेना भेजी। उसने कड़े संघर्ष के बाद एक बार फिर से बाजबहादुर को पराजित करके मालवा पर मुगल पताका फहराई। वह भागकर चित्तौड़ के राणा उदयसिंह की शरण में चला गया लेकिन थोड़े समय बाद उसने अकबर की सेवा स्वीकार कर ली। इसके बदले में उसे 2,000 का मनसबदार बना दिया गया।

चुनार-विजय

इसके पश्चात् अफगानों ने आदिलशाह सूर के बेटे शेरखाँ के नेतृत्व में फिर से सिर उठाया और जौनपुर पर आक्रमण कर दिया। वहाँ के मुगल गवर्नर खानेजमां ने उसे पराजित कर दिया। इसके पश्चात् अकबर ने आसफखाँ को चुनारगढ़ पर आक्रमण करने हेतु भेजा एवं 1561 ई. में ही उस पर मुगलों का अधिकार हो गया।

राजस्थान की यात्रा एवं मेड़ता पर आधिपत्य (1562 ई.)

जनवरी 1562 ई. में अकबर अजमेर में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह यात्रा हेतु गया। उसी समय उसने अजमेर के सरदार जागीर के स्वामी शरफुद्दीन को मेड़ता पर आधिपत्य करने का आदेश दिया। आगरा–अहमदाबाद व्यापारिक मार्ग पर स्थित महत्त्वपूर्ण शहर था। इस पर जयमल मेड़तिया का शासन था। उसने अपने सैनिकों के साथ मुगलों का कड़ा मुकाबला किया किले पर मुगल कब्जा करने में सफल रहे। इस प्रकार मारवाड़ में स्थित मेड़ता पर अकबर की विजय पताका फहरा दी।

गढ़-कतंगा अर्थात गोडवाना-विजय (1564 ई.)

पन्द्रहवीं सदी के अन्त के दशकों में अमनदास नामक वीर के प्रयासों से एक राज्य अस्तित्व में आया, जिसमें कई छोटी-छोटी रियासतें सम्मिलित थीं। यह राज्य जबलपुर जिले के गढ एवं कतंगी कस्बों के कारण से गढ-कतंगा नाम से ही जाना जाने लगा। इसके अतिरिक्त यह गोडवाना के नाम से भी जाना जाता है। इस समय यह राज्य रानी दुर्गावती के अधिकार में था जो अपने पुत्र वीरनारायण की संरक्षिका के रूप में शासन कर रही थी। वह राज्य का प्रशासन चलाने के साथ-साथ तीर एवं बंदूक चलाने में भी माहिर थी। वह मूलतः एक साहसी महिला थी।

अकबर की मालवा-विजय से गोंडवाना पर मुगल खतरा मंडराने लगा। दुर्गावती ने अकबर के पास शांति के लिए एक दूत भेजा लेकिन उसमें सफलता नहीं मिली। इस वार्ता की असफलता के कारण अकबर ने राज्य को पूर्ण समर्पण एवं कुछ क्षेत्र मुगलों को सौंपने के लिए कहा था। वार्तालाप की असफलता के पश्चात् मुगल बादशाह ने 1564 ई. में आसफखाँ को गोंडवाना-विजय हेतु आदेश दिया। दोनों में घमासान युद्ध हुआ। रानी दुर्गावती ने पीछे हटना अपमानजनक समझा एवं वह अपने सैनिकों के साथ आक्रमण करने हेतु आगे बढ़ी, लेकिन दमोह के समीप उसे पराजय का मुँह देखना पड़ा। इस पराजय में उसके अपने क्षेत्र के राजाओं का मुगलों की सेना में सम्मिलित हो जाना था।

इस युद्ध में विजय के पश्चात् आसफखाँ राज्य की राजधानी चौरागढ़ की ओर बढ़ा, जिसे रानी के पुत्र वीरनारायण ने अपने अंतिम समय तक बचाए रखा। मुगल सेनानायक को यहाँ अपार दौलत मिली। दुर्गावती की छोटी बहिन कमलादेवी को बादशाह के पास भिजवा दिया गया। इस प्रकार गोंडवाना-विजय से मुगल साम्राज्य में एक विशाल क्षेत्र जुड़ गया एवं मध्यप्रदेश में उसका प्रभाव काफी बढ़ गया।

चित्तौड़-विजय (1568 ई.)

अकबर राजस्थान पर अपना आधिपत्य चाहता था, क्योंकि गुजरात का व्यापारिक एवं सामुद्रिक मार्ग एवं इसके साथ-साथ मालवा का रास्ता भी राजस्थान होकर जाता था। इसके अतिरिक्त गंगा-दोआब के क्षेत्र में किसी भी राज्य के अस्तित्व के लिए राजस्थान में किसी की समानान्तर सत्ता उसकी प्रतिष्ठा के विरुद्ध थी।

इसके पूर्व आमेर के शासक भारमल ने आत्मसमर्पण कर दिया था। मेड़ता मुगल साम्राज्य का भाग बन गया था। जोधपुर ने भी मुगल सत्ता स्वीकार कर ली थी। इसलिए अकबर का ध्यान अब राजस्थान के सबसे शक्तिशाली राज्य मेवाड़ की ओर जाना स्वाभाविक था। इस समय इस राज्य की राजधानी चित्तौड़ थी। मेवाड़ के राणा उदयसिंह ने बाजबहादुर एवं सम्भल के भगोड़े मिर्जाओं को शरण देकर अकबर को चिढ़ा रखा था।

पूरी सैनिक तैयारी के साथ 23 अक्टूबर, 1567 ई. को चित्तौड़ के किले को घेर लिया गया। इस परिस्थिति को देखकर राणा अरावली पहाड़ों की ओर चल दिया और किले की सुरक्षा की जिम्मेदारी जयमल राठौड़ एवं कत्ता (फतेहसिंह) को सुपुर्द कर। घेरा लंबा चला एवं चार महीनों तक मुगल सेना को कोई विशेष सफलता नहीं मिली। आक्रमणकारियों के सम्मुख किले की आपूर्ति रोकने एवं धोखे से किले में घुसने के अलावा कोई रास्ता नहीं बचा था। इस बीच सौभाग्य से मुगलों को एक सफलता मिली, जिसने पूरे अभियान में जोश भर दिया। किले की दीवार की मरम्मत के लिए जयमल दुर्ग की प्राचीर पर खड़ा था। इसे देखकर अकबर ने एक शिकारी की तरह निशाना साधकर जयमल पर गोली दाग दी जिससे वह घायल हो गया। मुगलों के लिए यह सौभाग्य का दिन 23 फरवरी, 1568 ई. का था। चित्तौड़ के सेनानायक के घायल होते ही सेना में भगदड़ मच गई। रात के समय स्त्रियों ने जौहर किया। दूसरे ही दिन राजपूत सैनिक किले से बाहर निकल कर मुगलों पर टूट पड़े। वहाँ भयंकर युद्ध हुआ। अकबर ने गुस्से में कत्लेआम का आदेश दिया। विकरालता से लड़े गए इस युद्ध में मुगलों की विजय हुई एवं चित्तौड़ पर मुगल-पताका फहरा दी गई। इस विजय में चित्तौड़ के आस-पास का क्षेत्र मुगल साम्राज्य का अंग बन गया।

मार्च, 1568 ई. में चित्तौड़ के पतन के पश्चात् सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण किले रणथम्भौर पर मार्च, 1569 ई. में मुगल आधिपत्य हो गया। इसके एक वर्ष पश्चात् 1570 ई. में जब अकबर नागौर गया तब उस समय मारवाड़, बीकानेर एवं जैसलमेर के शासकों ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली। इससे राजपूताना में मुगलों का वर्चस्व स्थापित हो गया।

कालिंजर-विजय (1569 ई.)

रणथंभौर के पश्चात अकबर ने उत्तरप्रदेश के बांदा जिले में स्थित कालिंजर दुर्ग की ओर ध्यान दिया, जो सामरिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण किला था। उसने 1569 ई. में वहाँ के शासक रामचंद्र के विरुद्ध एक सेना भेजी। मुगल सेना की विजयों की खबर उसके पास भी पहुँच चुकी थी, इसलिए उसने युद्ध न करने में ही अपने राज्य एवं परिवार का हित समझा। इसलिए उसने मुगल सेनापति के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। अकबर ने उसको इलाहाबाद के समीप जागीर प्रदान कर दी। कालिंजर किले के आत्मसमर्पण ने अकबर की सैनिक स्थिति को मजबूत बना दिया।

गुजरात विजय (1572-73 ई.)

राजस्थान में महत्त्वपूर्ण सफलताओं के पश्चात् अकबर ने इसके पड़ोसी राज्य गुजरात की ओर अपना ध्यान दिया। बहादुरशाह की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार की समस्या को लेकर वहाँ राजनीतिक अस्थिरता रहती थी। वहाँ के अमीर अपने-अपने प्रतिनिधियों को राजसिंहासन पर बिठा कर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते थे। इसी समय अन्य विदेशी शक्तियाँ भी इस पर आधिपत्य स्थापित करने की फिराक में थीं। पुर्तगाली उनमें मुख्य थे। अकबर कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण इस प्रांत को इस प्रकार उजडते नही देख सकता था। यह अत्यंत उपजाऊ होने के साथ व्यापारिक दृष्टि से अत्यंत समृद्धिशाली प्रांत था। यहाँ के सामुद्रिक मार्ग से माल का आना-जाना होता था। यह तुर्की, सीरिया, ईरान तथा यूरोप के कई महत्त्वपूर्ण देशों से व्यापारिक दृष्टि से जुडा था। यहां का दस्तकारी उद्योग इसकी आत्मा था।

ऐसे धनी एवं समृद्धशाली प्रांत पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए अकबर अवसर की तलाश कर रहा था। तभी अहमदाबाद के शासक इतिमादखाँ हब्शी ने मुगलों को इस प्रांत की अराजकता समाप्त करने के लिए निमंत्रित किया। इसी निमंत्रण पर सितम्बर 1572 ई. में अकबर ने एक विशाल सेना के साथ गुजरात की ओर प्रस्थान किया। वह अजमेर, मेड़ता एवं सिरोही के मार्ग से वहाँ पहुँच गया। अराजकता की स्थिति में वहाँ कोई प्रतिरोध करनेवाला नहीं था इसलिए नवम्बर, 1572 ई. में ही बहुत आसानी से मुगल सेना ने अहमदाबाद पर अधिकार कर लिया। इसी अभियान के पश्चात् उसने इब्राहीम हुसैन मिर्जा को भी पराजित करके उसको भागने पर मजबूर किया।

इसके पश्चात् 1573 ई. के प्रारंभ में अकबर ने सूरत का घेरा डाला एवं इसे सौंपने के लिए बाध्य किया। इसके साथ ही अन्य छोटे-छोटे राजाओं ने आत्मसमर्पण कर दिया। कैम्बे में उसने पुर्तगालियों से भी भेंट की। वे लोग स्वयं आए एवं बादशाह को काफी मूल्यवान वस्तुएँ भेंट में दीं।

इस विजय के पश्चात् अकबर ने खान-ए-आजम अज़ीज कोका को यहाँ का गवर्नर नियुक्त किया एवं स्वयं आगरा लौट आया।

बंगाल-विजय (1574-76 ई.)

गुजरात-विजय से प्रोत्साहित होकर मुगल बादशाह अकबर ने पूर्वी प्रांतों की ओर ध्यान देना आवश्यक समझा। इस्लामशाह के पश्चात बंगाल एक स्वतंत्र प्रदेश हो गया था। सुलेमान किरानी वहाँ का शासक हो गया। किरानियों की बिहार में बहुत जागीरें थीं। प्रो. सतीशचन्द्र लिखते हैं कि बंगाल के शासक का बिहार में प्रभाव एक बार पुनः बहुत बढ़ गया था।

पटना, हाजीपुर एंव रोहतासगढ़ का किला बंगाल के शासक के आधिपत्य में था। इसलिए अकबर के पूर्वी प्रदेश का अभियान सिर्फ बंगाल तक ही सीमित नहीं था, बल्कि बिहार भी उसमें सम्मिलित था।

बंगाल एवं बिहार के अफगानों पर आक्रमण का तात्कालिक कारण सुलेमान किरानी के पुत्र दाऊदखाँ द्वारा स्वतन्त्रता की घोषणा थी। उसने अपनी सैन्य शक्ति के घमंड के आधार पर ऐसा किया था। इसलिए यह जाहिर था कि इन दोनों प्रदेशों का संगठन अकबर के लिए एक बहुत बडा खतरा बन सकते थे। इसलिए प्रो. सतीशचन्द्र के अनुसार अकबर ने जौनपुर के गवर्नर मुनीम खाँ को इस परिस्थिति का सामना करने का आदेश दिया लेकिन अफगानों के विरुद्ध उसे कोई विशेष सफलता नहीं मिली।

गुजरात मामले से मुक्त होते ही अकबर ने एक विशाल सेना के साथ आगे बढ़कर पटना व हाजीपुर पर अपना कब्जा किया। दाऊदखाँ अपना इलाका छोड़ कर भाग गया। अकबर ने बंगाल तक उसका पीछा किया। इसके बाद अकबर स्वयं आगरा लौट आया।

अन्त में मुनीमखाँ को दाऊदखाँ के विरुद्ध ३ मार्च, 1575 ई. को तुरकोई में लड़े गए युद्ध में सफलता मिली। इसके बाद ऐक बार फिर से बंगाल को प्राप्त करने का प्रयास किया लेकिन अंत में वह नए गवर्नर खानकुलीखाँ के हाथों मारा गया।

गया। इस प्रकार बंगाल एवं बिहार का क्षेत्र मुगल साम्राज्य का अंग बन गया। स्थानीय जमींदारों के छुटपुट विद्रोहों के दमन के बाद वह इलाका सदैव के लिए शांत हो गया।

इस प्रकार दाऊदखाँ के विरुद्ध, अफगानों के विरुद्ध यह अन्तिम विजय थी, यद्यपि छिटपुट अभियान जहाँगीर के समय तक जारी रहे।

बंगाल–विजय के पश्चात् अकबर कुछ समय के लिए प्रशासनिक संगठन में व्यस्त हो गया। अपने राज्य को स्थायित्व प्रदान करने के लिए वह एक ऐसे अमीर वर्ग का गठन करना चाहता था जिसमें भारत एवं बाहर से आए सभी लोगों की समान भागीदारी हो सके। राज्य–प्रशासन में संतुलन एवं नियंत्रण बनाने के लिए यह आवश्यक था। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करने के पश्चात् उसने सैनिक अभियानों के नये चरण की शुरुआत की।

अफगानों की शक्ति की दमन

उत्तर भारत में अकबर ने अफगानों का पूर्णतः दमन कर दिया था लेकिन उन्होंने उड़ीसा में दाऊदखाँ के पश्चात् कुतलुखाँ के नेतृत्व में संगठित होकर एक बार पुनः अपना प्रभाव सथापित कर लिया था। शक्ति के नशे में कुतलुखाँ एक स्वतंत्र शासक की तरह वहाँ का शासन चला रहा था। अकबर जैसे महत्त्वाकांक्षी बादशाह के लिए यह असहनीय था। अकबर ने 1590 ई. में बिहार के सूबेदार राजा मानसिंह को उड़ीसा में कुतलुखाँ की शक्ति को तत्काल कुचलने का आदेश दिया। मानसिंह के उड़ीसा पहुँचने से पूर्व ही कुतलुखाँ ने इस संसार को छोड़ दिया। इसके पश्चात् उड़ीसा की बागडोर उसके पुत्र निसारखाँ के हाथों में आ गई। मानसिंह के नेतृत्व में मुगल सेना के आगे बढ़ने की खबर से निसारखाँ भयभीत हो गया और उसने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली। उसने खुतबे एवं सिक्के में मुगल बादशाह का नाम रखने के अतिरिक्त हिंदुओं पर अत्याचार न करने एवं जगन्नाथ मंदिर भी बादशाह को सौंपने का वचन दिया। लेकिन अफगान अपनी आदत से मजबूर थे। उन्होंने थोड़े समय पश्चात् ही उपद्रव करने प्रारंभ कर दिए। परिणामस्वरूप मानसिंह ने सैनिक अभियान के द्वारा निसारखाँ को उड़ीसा से भगा दिया एवं उसके स्थान पर खुर्दा के राजा रामचंद्र देव को उड़ीसा के महाराजा के रूप में मान्यता प्रदान कर दी। लेकिन वह पूर्णतः मुगलों के अधीन था।

साम्राज्य–विस्तार के इस दौर में अकबर ने महत्त्वपूर्ण सफलताएँ प्राप्त कीं। उसने प्रथम बार मुगल साम्राज्य में ये क्षेत्र जोड़े थे जो उससे पूर्व स्वतंत्र राज्य थे। उसने उत्तर–पश्चिम के काबुल, बलूचिस्तान एवं कंधार के क्षेत्रों पर मुगल पताका फहराई। इसी क्रम में काश्मीर एवं सिंध प्रदेशों को भी अपने अधीन कर लिया। उत्तरी भारत एवं उत्तर–पश्चिमी प्रदेशों पर आधिपत्य स्थापित करने के पश्चात् अकबर का ध्यान दक्षिण के प्रदेशों की ओर गया, जो अत्यंत समृद्धिशाली एवं गौरवशाली थे। मालवा, गुजरात एवं उड़ीसा की विजयों ने दक्षिण के राज्यों से सीमा को जोड़ दिया। इसलिए मुगल साम्राज्य एवं दक्षिणी राज्यों के मध्य सीमा–विवाद स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त अकबर जैसे प्रतापी एवं महत्त्वाकांक्षी बादशाह के लिए दक्षिणी राज्यों का अस्तित्व असहनीय था। इन राज्यों की विजय के बिना सम्पूर्ण भारत का बादशाह होने का गौरव उसे नहीं मिल सकता था। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसने खानदेश, अहमदनगर एवं असीरगढ़ पर सैनिक अभियान करके उनको मुगल साम्राज्य का अंग बना लिया। दक्षिण की इन विजयों से मुगल साम्राज्य का विस्तार अपनी चरम सीमा पर था।

इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मुगल साम्राज्य–स्थापना एवं उसके सुदृढ़ीकरण में अकबर का सर्वाधिक योगदान था। उसने अपने दादा एवं पिता के साम्राज्य–विस्तार के कार्य को योजनाबद्ध तरीके से आगे बढ़ाया एवं अपने उत्तराधिकारियों के लिए एक विशाल एवं सुदृढ़ साम्राज्य छोड़कर गया।

साम्राज्य की स्थापना : मुगल शासकों की नीति

मुगल साम्राज्य की स्थापना एवं उसका व्यवस्थित रूप से चलते रहना एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसके लिए स्थानीय या भारतीय शासक वर्ग के साथ सम्बन्ध अत्यावश्यक हैं। उनका समर्थन एवं सहयोग साम्राज्य की स्थापना एवं सुदृढ़ीकरण के लिए बहुत जरूरी है। बाबर ने मुगल सत्ता की स्थापना की एवं बहुत लम्बे समय तक जीवित नहीं रह सका। फिर उसको तो अपने शासन की नींव डालने के लिए स्थानीय शासक वर्ग से संघर्ष करके उनको पराजित करना था, इसलिए उसके लिए इन वर्गों से मित्रता क़ायम करना मुश्किल था। उसके स्वर्गवास के पश्चात् उसके पुत्र हुमायूँ ने इस ओर प्रयास किया था। उसके समय में घटित एक घटना से स्थानीय शक्ति से सम्बन्ध स्थापित करने का पता चलता है। गुजरात के शासक बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया था। इस समय

इस महत्त्वपूर्ण राजपूत रियासत का अवयस्क राणा विक्रमादित्य था। वहाँ का शासन उसकी माता कर्णावती चला रही थी। उस समय के समय कर्णावती ने हुमायूँ से आक्रमणकारी के विरुद्ध सहायता की अपील की एवं राखी भेजी। उसने प्रार्थना की कि का कर्तव्य समझ कर वह बहादुरशाह के विरुद्ध अपनी बहन की रक्षा करे। मुगल बादशाह ने राखी स्वीकार कर ली एवं सहायता के लिए चित्तौड की ओर बढ़ा। इस घटना का मुगल–राजपूत सम्बन्धों में ऐतिहासिक स्थान है। मुगल बादशाह ने एक अन्य मुस्लिम शासक के विरुद्ध एक विधर्मी शासक की सहायता करने की नीति अपनाई। इससे मुगल बादशाह के स्थानीय राजपूतों के प्रति दृष्टिकोण का पता चलता है। यह बात अलग है कि हुमायूँ मदद नहीं कर पाया लेकिन कर्णावती की राखी भेजने एवं मदद के लिए अपनी स्वीकृति ही उसके दृष्टिकोण की परिचायक है।

इसके अतिरिक्त शेरशाह के विरुद्ध जोधपुर के शासक मालदेव के द्वारा हुमायूँ की सहायता के लिए उसे अपने राज्य में निमंत्रण करना, राजपूतों एवं हुमायूँ के मध्य सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों का परिचायक है। इसका सीधा अर्थ है कि हुमायूँ स्थानीय शासकों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहा था। हालांकि राजनीतिक परिस्थितियों में बदलाव के कारण मालदेव हुमायूँ की सहायता नहीं कर पाया।

एक अन्य तथ्य भी स्थानीय शासकों के साथ सम्बन्ध बनाने की ईरान के शाह की सलाह है। अपना साम्राज्य खोने के पश्चात् से हुमायूँ निर्वासित जीवन बिता रहा था एवं ईरान के शाह की शरण में था तब उसने एक महत्त्वपूर्ण सलाह दी थी। कहा जाता है कि जब हुमायूँ ने फारस के शाह के पास शरण ली तब शाह ने उसे परामर्श दिया था कि जब अफगानों और राजपूतों में शत्रुता थी और बाबर ने अफगानों को हटाकर राज्य प्राप्त किया था तब दूरदर्शिता इसी में थी कि वह राजपूतों से पूर्ण सहयोग प्राप्त कर अफगानों को नष्ट करने में उनकी शक्ति का प्रयोग करता। उसने इसी संदर्भ में हुमायूँ को सलाह दी कि भारत पर पुनः सत्ता स्थापित करने के पश्चात् उसे स्थानीय शासक वर्ग से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए। लेकिन पुनर्विजय के बाद हुमायूँ की असामयिक मृत्यु के कारण उसे तो इस नीति को कार्यान्वित करने का मौका न मिला, परन्तु उसके पुत्र अकबर ने राजपूतों के प्रति अपनी नीति निर्धारित करते समय उनका सहयोग प्राप्त करना अपना प्रधान लक्ष्य स्थिर किया।

इस बिन्दु की पुष्टि प्रो. सतीशचन्द्र के कथन से भी होती है कि हुमायूँ ने भारत वापिसी के पश्चात् स्थानीय जमींदारों के साथ सहयोगपूर्ण नीति की शुरुआत की।

अकबर की राजपूत नीति उसकी साम्राज्य–विस्तार एवं उसे मजबूत आधार प्रदान करने से मेल खाती थी। दूसरे शब्दों में इसी को ध्यान में रखकर मुगल सम्राट् ने राजपूतों से अपने सम्बन्ध विकसित किए थे। प्रो. सतीशचन्द्र के अनुसार अकबर की राजपूत नीति मुगल साम्राज्य की एक विशिष्टता थी। उन्होंने आगे लिखा है कि भारत के देशी शासक वर्ग के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा अकबर की राजनीति का आधार रही। इन उद्देश्यों के अतिरिक्त मुगल बादशाह की नीति के मुख्य उद्देश्य निम्न थे, जिनका डॉ. गुप्ता एवं डॉ. पेमाराम ने अपने ग्रन्थ में उजागर किया है।

प्रथम, पिछले साढ़े तीन सौ वर्ष के इतिहास से यह स्पष्ट था कि हिन्दू–प्रधान देश भारत पर राजपूतों को शत्रु बनाकर स्थायी अथवा शांतिपूर्ण शासन करना असंभव था। अकबर एक दूरदर्शी सम्राट् था जिसने इस तथ्य को समझा कि राजपूतों की सहायता के बिना हिन्दुस्तान में मुगल साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान नहीं किया जा सकता। अतः उसके लिए राजपूतों का सहयोग प्राप्त करना अनिवार्य था। द्वितीय, राज्यारोहण के समय से ही अकबर को अपने घर तथा दरबार में शाह अदलमाली से लेकर शाह मसूर तक मुसलमान विद्रोहियों का सामना करना पड़ा, यहाँ तक कि मिर्जा हकीम को राजगद्दी देने तक का षड्यन्त्र रचा गया। अपने ही लोग द्वारा जिन पर शासनाधिकार की सुरक्षा के लिए भरोसा किया जा सकता था, इस प्रकार समय-समय पर विद्रोह खडा किया जाता देखकर अकबर को आरंभ में ही यह बात स्पष्ट हो गई कि यदि उसे भारतवर्ष में अपने राज्याधिकार को सुरक्षित रखना है तथा अपने राज्य को आगे बढ़ाना है तो उसे यहीं के प्रमुख राजनीतिक तत्त्व – राजपूतों का सहयोग-समर्थन प्राप्त करना आवश्यक है। तृतीय, अन्त तक अफगानों का विरोध पूरी तरह शांत नहीं हुआ था। भारत में बिहार, बंगाल और उडीसा के बहुत–से भागों पर उनका प्रभाव और अधिकार था तथा काबुल तथा सीमांत प्रदेशों में तो इनका पूरी तरह प्रभाव था। अफगानी सुल्तान मुहम्मद आदिलशाह का भाई तो उत्तरप्रदेश के पूर्वी भागों से मुगल–सत्ता को उखाड फेंकने की तैयारी में लगा हुआ था। अकबर भारत की एक दूसरी शक्ति का उपयोग इन अफगानों के विरुद्ध करना चाहता था। इसलिए अकबर ने इन लोगों का सहयोग प्राप्त करने का निश्चय किया। यह भी तय किया कि विद्रोही मुगल सरदारों, अफगानों तथा उजबेगों के विरुद्ध उन्हें लगाया जाए। चतुर्थ, अकबर ने सोचा था कि राजपूतों का सहयोग प्राप्त करने से उसका विदेशीपन दब सकता था और उसे राष्ट्रीय सदभावना प्राप्त हो सकती थी। इसके कुछ विद्वानों का यह भी मानना है कि राजपूत शासक के यहाँ अकबर का जन्म होने के कारण उसमें राजपूत जाति के प्रति

एवं उदारता की भावना थी। कुछ लोगों ने उसकी स्वाभाविक उदारता को भी इस नीति का कारण बताया है। षष्टम्, अकबर ने यह भली प्रकार समझ लिया था कि राजपूतों के ऊपर, जिनके अधिकार में विस्तृत भू-प्रदेश हैं, असंख्य सैनिक दल हैं जो अपनी बात के पक्के है तथा अपने पौरुष-पराक्रम के लिए प्रसिद्ध हैं, विश्वास किया जा सकता है और उन्हें मित्र बनाया जा सकता है। इन सब कारणों से अकबर पहला मुस्लिम सम्राट् था जिसने राजपूतों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए एवं उनसे सहयोग प्राप्त करने की नीति का सूत्रपात किया। अकबर की यह नीति स्वलाभ, योग्यता की स्वीकृति तथा न्याय-नीति के सिद्धान्तों पर आधारित थी। अस्तु, अकबर ने अपनी साम्राज्यवादी नीति में जो सम्मान एवं सुविधा राजपूत राजाओं को प्रदान की, वह अन्य मुस्लिम शासकों की तुलना में अनेक दृष्टियों से विशिष्ट थी।

अकबर की इस राजपूत नीति के प्रधान अंग ये थे कि प्रथम, वह राजपूतों के प्रसिद्ध दुर्भेद्य दुर्गों पर अधिकार करके अपने शौर्य और शक्ति का प्रमाण देना चाहता था, परन्तु विजय प्राप्त करने के पश्चात् वह अधीनता स्वीकार करनेवाले राजा को उसका सम्पूर्ण राज्य लौटा देता था और उसका आंतरिक शासन उसको सौंपकर उसे बाह्य शत्रुओं से रक्षा का अभयदान देता था। द्वितीय, साम्राज्य के हित की दृष्टि से यदि किसी दुर्ग पर सीधा अधिकार रखना जरूरी हो जाता था तो उसके बदले में अन्य कोई जागीर दे देता था। तृतीय, वह राजपूतों को साम्राज्य के विस्तार एवं शासन संचालन में सहयोग हेतु न केवल आमंत्रित करता था, बल्कि उनकी प्रतिष्ठा तथा योग्यता के अनुरूप उनको ऊँचे-ऊँचे पद भी देता था। चतुर्थ, वह राजपूतों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने हेतु सदैव तैयार रहता था, जिससे मुगलों का स्वदेशीकरण शीघ्र हो सके और राजपूतों को सम्राट् का सम्बन्धी होने का गौरव प्राप्त हो सके। इस प्रकार अकबर ने अपनी इस राजपूत नीति को तीन तरह से कार्यान्वित किया।

1. वैवाहिक सम्बन्ध : प्रो. सतीशचन्द्र लिखते हैं कि सामन्तवादी राजनीति में स्वामिभक्ति की पुख्ता गारन्टी का आधार व्यक्तिगत सम्बन्ध होता है। इस प्रकार के समाज में शाही परिवारों में विवाह सम्बन्धों की घनिष्ठता एवं एक द्वारा अधीनता स्वीकार करना होता है। उन्होंने एवं डॉ. गुप्ता ने अकबर द्वारा राजपूत राजपरिवारों की लड़कियों से विवाह करने के कई उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इस सन्दर्भ में सबसे पहला सम्बन्ध आमेर के राजवंश से 1562 ई. में हुआ, जब आमेर के राजा भारमल ने अपनी पुत्री जोधाबाई, जिसे हरखाबाई भी कहा जाता है, के विवाह का प्रस्ताव सम्राट् अकबर के सामने रखा। अकबर ने न केवल आमेर के शासक की इस कन्या से विवाह किया, बल्कि भारमल, उसके पुत्र भगवन्तदास तथा पौत्र मानसिंह को शाही सेवा में लेकर उन्हें ऊँचे पदों पर नियुक्त किया। राजा भारमल का अनुसरण बाद में बीकानेर और जैसलमेर के शासकों ने भी किया। उन्होंने अकबर की 1570 ई. में नागौर दरबार में न केवल अधीनता स्वीकार की, बल्कि अकबर के साथ अपनी पुत्रियों के वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। इसके बाद मारवाड़ के मोटा राजा उदयसिंह ने भी अधीनता स्वीकार करने के साथ अपनी पुत्री जगत गुसाईं का विवाह अकबर के पुत्र सलीम के साथ किया और इस प्रकार विवाह-सम्बन्ध करना राजपूत-नीति का एक विशिष्ट अंग बन गया।

इन वैवाहिक सम्बन्धों के विषय में विद्वानों ने विभिन्न प्रकार की टिप्पणियाँ की हैं। डॉ. बेनीप्रसाद ने इसे एक युगान्तरकारी नीति कहा है, क्योंकि इसके कारण मुगलों को उच्च कोटि के शासक तथा कुछ महानतम सेनापति और कूटनीतिज्ञ प्राप्त हुए। डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने इसे सामाजिक और राजनीतिक समन्वय में सहायक बताया है। जबकि कुछ विद्वानों ने इन विवाहों को उसकी धूर्तता का अस्त्र बताया है, जिसके द्वारा अकबर ने राजपूतों का आत्माभिमान नष्ट कर दिया और उनको स्वतंत्र व्यक्तियों के स्थान पर अपना सेवक बना लिया। जबकि कुछ अन्य विद्वानों ने ये विवाह धर्मविरुद्ध एवं निन्दनीय बताए हैं, जिनमें हिन्दू जाति के आदर्शों की अवहेलना की गई थी। लेकिन इन वैवाहिक सम्बन्धों में सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि अकबर ने किसी भी राजपूत शासक को अपनी पुत्री का विवाह करने के लिए बाध्य नहीं किया और इन राजपूत राजकुमारियों को मुगल हरम में पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई थी।

वैवाहिक सम्बन्धों के अतिरिक्त अकबर ने राजपूत राजाओं के साथ सन्धियाँ स्थापित करके सम्बन्ध कायम किए एवं जिन्होंने इस रास्ते को स्वीकार नहीं किया। सैनिक कार्यवाही के द्वारा उनके राज्य को मुगल साम्राज्य में शामिल कर लिया गया। डॉ. गुप्ता ने इन दो कारणों पर भी बल दिया है। एक, अकबर ने राजपूत राजाओं को अपने साथ लाने के लिए सन्धिवार्ता का भी सहारा लिया। जब वह 1570 ई. में नागौर गया तो वहां उत्तरी-पश्चिमी राजस्थान के शासकों ने, जिनमें बीकानेर के राव कल्याणमल व उसका पुत्र रायसिंह, मारवाड़ के राव चन्द्रसेन तथा जैसलमेर के हरराय भाटी प्रमुख थे, ने बिना विरोध किए ही मुगल सम्राट् की अधीनता स्वीकार कर ली। यद्यपि बाद में राव चन्द्रसेन वहाँ से चला गया, लेकिन बाकी के लोगों को मुगल सेवा में ले लिया गया, और बीकानेर के रायसिंह का उपयोग तो बाद में कई युद्धों में किया गया।

दो, वैवाहिक संबधों और सधिवार्ताओं का जिन राजपूत शासकों पर असर नहीं हुआ, वहाँ शक्ति का प्रयोग किया गया। मेड़ता 1562 ई. में मेड़ता पर आक्रमण कर, उस पर अधिकार कर लिया गया और वहाँ के शासक जयमल को चित्तौड़ में जाकर शरण लेना पड़ा। इसी प्रकार 1567 ई. में चित्तौड़ पर आक्रमण किया गया जिसमें जयमल किले की रक्षा करता हुआ मारा गया और चित्तौड़ का समर्पण का अधिकार हो गया। इसी प्रकार की सैनिक कार्यवाही बाद में 1569 ई. में रणथंभौर के विरुद्ध की गई, जिसमें सुर्जनहाड़ा ने अकबर की अधीनता स्वीकार करते हुए उसे किला सुपुर्द कर दिया। लेकिन मेवाड़ के महाराणा प्रताप और मारवाड़ के चन्द्रसेन ऐसे शासक हुए, जिनके खिलाफ़ अनेक बार सैनिक कार्यवाहियाँ करने के बावजूद अकबर उन्हें अधीनता में नहीं ला सका। उन सैनिक कार्यवाहियों के कारण प्रताप और चन्द्रसेन, दोनों को पहाड़ों और घोर जंगलों में भटकना पड़ा और अनेक कष्ट उठाने पड़े। महाराणा प्रताप तो डूँगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ के सजातीय राजवंशों द्वारा मुगल अधीनता स्वीकार कर लेने के बावजूद भी संघर्ष करते रहे और अपनी स्वतंत्रता के लिए आजीवन मुगलों के विरुद्ध संघर्ष करता रहा।

प्रो. सतीशचन्द्र के अनुसार मुगल–राजपूत संबंधों से दोनों को लाभ हुआ। अकबर ने उनके साथ संबंध स्थापित करके भारत के सर्वोत्तम वीर सपूतों की साम्राज्य के लिए सेवाएं अर्जित कर ली। उनको बड़े–बड़े सूबा में सूबेदार के पद पर नियुक्त किया गया एवं उनके नेतृत्व में साम्राज्य का विस्तार किया गया। राजपूतों की साहसपूर्ण स्वामिभक्ति का मुगल साम्राज्य के विस्तार एवं उसके सुदृढ़ीकरण में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। यही नहीं, अकबर ने अपने व्यवहार से उनको बराबर संतुष्ट रखा, जिसके अन्तर्गत मुगल दरबार में अनेक हिन्दू उत्सवों को मनाना एवं धार्मिक–क्रियाओं का पालन करना तथा राजपूतों को अपने धर्म के अनुसार चलने तथा देवालयों के निर्माण की पूरी छूट मिलना था। साथ ही, उन्हें ऊँचे पद, बड़ी–बड़ी जागीरें और दरबार में सम्मान मिला। इससे राजपूत अकबर के अटल राजभक्त बन गए, जिन्होंने आपत्ति के समय अपूर्व साहस और स्वामिभक्ति का परिचय दिया। शक्तिशाली राजपूत घराने मुगल साम्राज्य के सुदृढ़ आधारस्तंभ बन गए और उन्होंने मुगल साम्राज्य के विस्तार में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

राजपूत राजाओं को अपने वतन अर्थात् पैतृक राज्य से बाहर भी जागीरें प्रदान की गई, जिससे उनकी राजनीतिक स्थिति में काफी वृद्धि हुई। इससे उनके सामाजिक सम्मान एवं स्तर में काफी बदलाव आया। उनको बड़े–बड़े मनसब दिए गए। इससे उनकी आय में वृद्धि हुई, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति मजबूत हुई। अकबर के समय में जो सैनिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक सांस्कृतिक तथा कलात्मक उन्नति हुई, उसमें इन राजपूत शासकों ने यथेष्ट योगदान दिया। इनके सहयोग से मुगल शासन को सुरक्षा और स्थायित्व ही प्राप्त नहीं हुआ, बल्कि देश में अपूर्व समृद्धि एवं सांस्कृतिक चेतना का उदय हुआ। हिन्दू–मुस्लिम संस्कृतियों का समन्वय हुआ, जो मुगल शासन की एक अमूल्य देन है। यह सब अकबर की दूरदर्शिता तथा उदारता की नीति के कारण ही संभव हो सका। जब तक उसके उत्तराधिकारियों ने उसकी इस नीति का अनुपालन किया, उनको बराबर राजपूतों का सहयोग मिलता रहा।

अन्त में प्रो. सतीशचन्द्र का यह कथन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, जहाँ वे लिखते हैं कि राजपूतों की स्वामिभक्ति मुगल साम्राज्य के विस्तार एवं सदृढ़ीकरण का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व था। यह बात भी सही है कि इन संबंधों को कायम करने में अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की नीति का भी महत्त्वपूर्ण योगदान था। यह बात बिल्कुल सही है कि अकबर की राजपूत नीति उसकी बुद्धिमत्ता की द्योतक है कि उसने इसके माध्यम से अपने साम्राज्य का विस्तार चारों ओर किया।

अकबर की धार्मिक नीति

अकबर के राज्यारोहण के पश्चात् उसके सम्मुख साम्राज्य विस्तार एवं उसके सुदृढ़ीकरण की प्राथमिकता थी। इस हेतु उसने देश के शासक वर्ग की तरफ दोस्ती का हाथ बढ़ाया। इस शासक वर्ग में राजपूत जमींदार मुख्य थे। उनके साथ सबधों का आधार प्रो. सतीशचन्द्र के अनुसार अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की नीति थी।

अकबर ने सत्ता की बागडोर सम्भालने के शीघ्र बाद ही अपनी नीति के निर्धारण एव उसे लागू करने का कार्य अपने हाथ में ले लिया। उसने उदार दृष्टिकोण अपनाने का निर्णय लिया, जिसके कई कारण थे, जिनकी ओर डॉ. गुप्ता ने संकेत किया है। वे थे– प्रथम, उसके पिता सुन्नी थे, उसकी माता फारस की शिया थी और उसका जन्म हिन्दू राजा के घर में हुआ था, जहाँ वह एक वर्ष तक रहा था। द्वितीय, अकबर का संरक्षक बैरमखाँ शिया था, जिसका उस पर काफी प्रभाव था। अकबर के शिक्षक शेख अब्दुल लतीफ का भी उस पर काफी प्रभाव पड़ा, जो इतना उदार था कि फारस के शिया उसे सुन्नी व भारत के सुन्नी उसे शिया मानते थे। चतुर्थ, अकबर के राज्यारोहण के समय मुगल शासन की नाजुक स्थिति मुस्लिम अमीरों की विश्वासघाती और षड्यंत्र उसके विचार परिवर्तन के लिए उत्तरदायी थे। पंचम, किशोरावस्था से ही अकबर शेख मुबारक विद्वानों और साधुओं के संपर्क

था। वह शेख नलीम चिश्ती का परम भक्त था तथा सूफी विद्वान शेख मुबारक और उसके दो योग्य पुत्रों – अबुल फजल तथा फैजी ने उसकी उदार मनोवृत्ति को प्रोत्साहित किया था। अन्तिम, फिर यह भी था कि वह उत्तरी भारत के कई मुस्लिम राजवंशों के अंत और स्वयं अपने पिता एवं पितामह की समस्याओं से परिचित था। 1562 ई. में आमेर राजवंश से वैवाहिक संबंध स्थापित हो जाने से भी वह प्रभावित हुआ होगा। हरम में हिन्दू स्त्रियों की उपस्थिति, दरबार में हिन्दू अधिकारियों से सम्पर्क तथा उस समय प्रचलित भक्ति आंदोलन ने भी अकबर को प्रभावित किया होगा।

अकबर राज्यारोहण एवं सत्ता अपने हाथ में लेने के बीच के समय के दौरान बैरमखाँ के संरक्षण के कारण कोई स्वतंत्र निर्णय नहीं ले पाया, लेकिन जैसे ही उसने सत्ता सम्भाली, उसने अपने खुले दिमाग का परिचय देना प्रारंभ कर दिया। उसने जो कदम उठाए, वे निम्न थे –

1. अगस्त 1563 में अकबर ने साम्राज्य के विभिन्न तीर्थस्थानों में तीर्थयात्रियों से लिए जानेवाले कर की वसूली बंद कर दी। अबुलफजल का कहना है कि इस कर से साम्राज्य को प्रतिवर्ष लगभग एक करोड़ की आय होती थी। उसके विवरण के अनुसार अकबर ने अपने कार्य को इस प्रकार उचित ठहराया : 'यद्यपि किसी संप्रदाय–विशेष में ज्ञानाभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है, किंतु उस संप्रदाय–विशेष के अनुयायियों से, जिन्हें यह एहसास ही नहीं कि वे गलत राह पर जा रहे हैं, पैसा वसूल करना तथा इस प्रकार अद्वैत के अलौकिक प्रवेशद्वार के मार्ग में, जो उन्होंने अपनी सूझ–बूझ के अनुसार अपनाया है तथा जिसे वे कर्ता की उपासना का माध्यम समझते हैं, रोड़ा अटकाने के कार्य को विवेकसम्मत बुद्धिजीवियों ने नापसंद किया है तथा इसको ईश्वर की इच्छा का पालन न करने का चिह्न समझा है।'

   इतिहासकार आलमखाँ ने इस कर की समाप्ति का मुख्य कारण अकबर द्वारा राजपूतों को खुश करने का प्रयास था, क्योंकि इसके माध्यम से वह उज़बेगों की शक्ति के समानान्तर एक देशी शक्ति खड़ी करना चाहता था। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि ये कार्य अकबर के उदार एवं मानवतावादी दृष्टिकोण से प्रेरित हों तथा मुगल साम्राज्य को नवीन सैद्धांतिक आधार प्रदान करने की दिशा में आरंभिक उपाय हों।

2. इसके एक वर्ष पूर्व 1562 ई. में उसने एक आदेश जारी करके अपनी विशालहृदयता का परिचय दिया था। जिसके अनुसार हिन्दू युद्धबंदियों को जबरदस्ती इस्लाम में दीक्षित करना वर्जित कर दिया गया था।

3. उसने राजपूत राजकुमारियों से, इस्लाम धर्म में परिवर्तित किए बिना, विवाह किए। यही नहीं, उसने उनको महलों में अपनी पूजा–पद्धति को करने की छूट दी।

4. बीरबल मुगल सेवा स्वीकार करने के पश्चात् भी अपने साथ सदैव मूर्तियां रखता था एवं उनकी नियमित पूजा करता था। यहाँ तक कि वह अकबर के साथ होता था तब भी बादशाह ने उसको कभी भी मना नहीं किया।

5. 1564 ई. में उसने एक क्रांतिकारी कदम उठाया और हिन्दुओं पर लगने वाले घृणित जजिया कर को एकदम हटा दिया। यद्यपि इससे शाही राज्यकोष की आय कम हो जाने का खतरा उठाकर भी उसने गैरमुस्लिम प्रजा के प्रति जो भेदभाव बरता जाता था, उसे समाप्त कर दिया।

6. अकबर की विशालहृदयता का इस बात से पता चलता है कि उसने प्रशासनिक सेवाओं के दरवाजे हिन्दुओं के लिए खोल दिए। उसने हिंदुओं को बड़े–बड़े ओहदों पर नियुक्त किया, जिनमें राजा टोडरमल का उदाहरण विख्यात है। उसको नियुक्त किए जाने पर मुस्लिम अमीरों ने जो विरोध प्रकट किया उसकी ओर उसने बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया। 1562 ई. में राजा भारमल, भगवन्तदास तथा कुंवर मानसिंह को शाही सेवा में ले लिया गया था। कच्छवाहों और अन्य राजपूतों ने अकबर के प्रति जो निष्ठा–भक्ति दिखाई, उसने अकबर को इसके लिए प्रेरित किया कि सभी हिन्दुओं के प्रति सहिष्णुता की नीति बरते और उन्हें विश्वसनीय समझे। फलस्वरूप टोडरमल को 1574 में दीवान (वित्तमंत्री) के पद पर नियुक्त कर दिया गया। इसके तुरंत पश्चात् ही रामदास को साम्राज्य का नायब दीवान बना दिया गया। उसने हिन्दुओं के लिए ऊँचे पदों के द्वार खोल दिए और वे सर्वोच्च मनसब, प्रांतीय सूबेदार तथा सेनानायक व प्रधानमंत्री का पद भी पाने लगे।

अकबर द्वारा हिन्दुओं एवं गैरमुस्लिम धर्म के माननेवालों के दिल जीतने की ओर महत्त्वपूर्ण कदम उठाया ताकि उनका समर्थन प्राप्त करके मुगल साम्राज्य को एक मजबूत आधार प्रदान किया जा सके। यह कदम राजनीति में उलेमा वर्ग की शक्ति में कटौती से ही संभव हो सकता था क्योंकि इस वर्ग का गैरमुस्लिम अनुयायियों के प्रति दृष्टिकोण अपमानजनक था।

इबादतखाने की स्थापना

अकबर ने 1575 ई. में इबादतखाना (पूजागृह) की स्थापना की। उसमें प्रत्येक बृहस्पतिवार को सभा होती थी और किसी [illegible] धार्मिक प्रश्न पर चर्चा होती थी। अकबर ने पहले इन बैठकों में केवल सुन्नियों को ही स्थान दिया। जिनमें शेख सैय्यद [illegible] और मुस्लिम अमीर भाग लेते थे। अकबर स्वयं इन वाद–विवादों में उपस्थित रहता था। इसमें उसने देखा कि इन विद्वानों में न केवल सामान्य धार्मिक समस्याओं पर, बल्कि इस्लाम के मौलिक सिद्धांतों पर भी मतभेद विद्यमान हैं। उलेमाओं ने परस्पर व्यक्तिगत लांछन लगाने आरंभ कर दिए और इबादतखाने का वातावरण गाली–गलौज तथा अनुशासनहीनता के कारण कटु हो उठा।

इसके बाद 1578 ई. में अकबर को एक सूफीयाना अनुभव हुआ, जिसके बाद उसने इबादतखाने के दरवाजे हिन्दुओं के लिए खोल दिए। इसके अतिरिक्त जैनियों, ईसाइयों एवं जोराष्ट्रीयन्स को भी निमंत्रित किया गया। इबादतखाने की बहसों से मुगल बादशाह ने एक तथ्य का पता लगाया कि सारे धर्मों में सच्चाई के तत्त्व होते हैं एवं वे सब ईश्वर को प्राप्त करने के माध्यम हैं। ये सारी परिस्थितियाँ अकबर के व्यक्तिगत धार्मिक विचारों के विकास का एक महत्त्वपूर्ण दौर था एव इसके कारण सुलह–ए–कुल अर्थात सभी धर्मों के मध्य शांति की अवधारणा का विकास हुआ। इसके अलावा इसकी बहसों से उलेमाओं की हठधर्मिता एव कट्टरपन का उसे पता चला। इसके कारण से अकबर एवं उलेमा वर्ग के मध्य विरोध उत्पन्न हो गया।

ऐसी परिस्थितियों में उलेमाओं की शक्ति में कटौती करना अकबर ने आवश्यक समझा। डॉ. शिवशंकर मेनन ने मुगल बादशाह एव उलेमा वर्ग के बीच की खाई को बढाने वाली एक घटना को उद्धृत किया है। उसके अनुसार अब्दुलनबी द्वारा एक ब्राह्मण को पैगंबर का तिरस्कार करने के अपराध में मृत्युदंड दिए जाने की घटना ने बादशाह तथा धर्मशास्त्रियों के मध्य के तनावों को और भी तीव्र बना दिया। यद्यपि अकबर ने स्पष्टरूप से वध की मनाही नहीं की, किंतु उसने संभवतः यह जाहिर कर दिया कि ब्राह्मणों को इतनी भारी सजा नहीं मिलनी चाहिए थी। इस घटना से लगता है कि सदर–उस–सदूर की कार्यवाही को उसने उलेमा द्वारा अपनी सत्ता के प्रति स्पष्ट चुनौती समझा। ऐसा प्रतीत होता है कि अकबर ने उसी समय यह निश्चित कर लिया कि उलेमा के प्रभाव का समाप्त करने का एकमात्र उपाय था कि वह सर्वोच्च आध्यात्मिक तथा भौतिक शक्तियों को इस्लाम द्वारा अनुमोदित दायरे के अंतर्गत स्वय में केंद्रित करे। अन्त में प्रो. सतीशचन्द्र के इस कथन से इबादतखाना की बहसों का महत्त्व उजागर होता है। उनके अनुसार इबादतखाने की बहसों ने एक नए, उदारवादी एवं सहिष्णु राज्य के उत्थान में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

महज़र : राज्य की नई नीति की शुरुआत

महज़र एक ऐसा दस्तावेज था, जिसके माध्यम से धार्मिक मामलों में विवाद होने पर अंतिम निर्णय का अधिकार मुगल बादशाह को प्रदान कर दिया गया। डॉ. मेनन ने इसके बारे में लिखा है कि अकबर द्वारा धार्मिक व भौतिक सत्ता को अपने हाथों में केंद्रित करने का विधिवत् कार्य अगस्त–सितंबर, 1579 में महज़र नामक दस्तावेज द्वारा हुआ। महज़र जारी करने की प्रेरणा शेख मुबारक तथा उसके पुत्र फैजी व अबुलफजल द्वारा दी गई थी। उलेमा ने इन पर महदवी व शिया होने का आरोप लगाकर उनका उत्पीड़न किया था। वे उलेमा की शक्ति में कटौती करने का मौका पाकर खुश थे। शेख मुबारक ने अकबर से कहा, महज़र ने अकबर को यह अधिकार दिया कि उलेमा में किसी विषय पर मतभेद होने की दशा में वह साम्राज्य की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए किसी एक विचार को, जिसे वह सर्वोत्तम समझें, मान्यता दे सकता है। अकबर की रिआया (प्रजा) की भलाई के लिए कोई भी फरमान जारी करने का अधिकार दिया गया बशर्ते कि उसमें कुरान के कानूनों का उल्लंघन न हो। बादशाह को सुल्ताने आदिल (न्यायप्रेय शासक) की उपाधि देकर इन सभी कार्यवाहियों को वैधता प्रदान की गई। बदायूँनी के अनुसार प्रमुख उलेमा को महज़र पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया गया। इसमें केवल शेख मुबारक ही अपवाद था जिसने सहर्ष इस दस्तावेज पर हस्ताक्षर किए

सैय्यद अतहर अब्बास रिजवी ने महज़र दस्तावेज के जारी करने का जो उद्देश्य दिया वह अकबर की राजनीति के अनुकूल है उनके अनुसार, 'महजर का उद्देश्य उन सभी विषयों को, जो अकबर की हिंदू–मुस्लिम प्रजा से संबंधित थे, बादशाह के [illegible] में लाना था। महजर ने अकबर को अमीर उल् मोमिनीन (मोमिन अर्थात् इस्लाम में विश्वास रखनेवाला का नायक [illegible]

इसके अतिरिक्त जिंदी ने इसके महत्व को यह कहकर भी उजागर किया है कि यह सुलह–ए–कुल के उसके सिद्धांत [illegible] जिसको अकबर पूरा से लागू करना चाहता था।

[illegible] ने यह भी कहा है कि महज़र की अवधारणा पर बल देने के अतिरिक्त इसने अकबर की नीति का [illegible] ने दस्तावेज के माध्यम से अकबर को स्मरण दिलाया कि राज्य की मशीनरी लोगों के कल्याण के लिए है।

इस प्रकार अकबर ने खुतबा पढ़कर एवं महज़र की घोषणा के द्वारा उलेमाओं के अधिकारों में कटौती कर दी, जिससे उनका नाराज़ होना स्वाभाविक था। लेकिन यह मुगल साम्राज्य के विस्तार एव सदृढ़ीकरण के लिए लाभप्रद था।

दीन-ए-इलाही

आधुनिक शोधों के द्वारा यह स्थापित हो चुका है कि अकबर ने दीन–ए–इलाही नामक किसी धर्म की स्थापना नहीं की थी। इस विवाद की जड़ में जेसुईट पादरी एवं बदायूँनी थे, जिन्होंने कहा कि अकबर ने एक नए धर्म की स्थापना की थी। यह नया धर्म हिन्दू, ईसाई एवं जोराष्ट्रीयन धर्मों से मिलकर बना था एवं अकबर स्वयं को इसका प्रमुख बनाना चाहता था। आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार दीन–ए–इलाही में न तो कोई प्रमुख था और न ही कोई ग्रंथ था, और न ही किसी प्रकार के कोई विधि–विधान थे।

वास्तव में इस धर्म के बारे में मुहसिन फनी के ग्रंथ 'दबिस्तान–ए–मज़ाहिब' में इसका उल्लेख मिलता है। उसमें इस धर्म की गुणों का जिक्र है, जो सामान्य प्रवृत्ति के है। यह ग्रंथ शाहजहाँ के बाद के समय में लिखा गया था।

अबुलफज़ल ने अपने ग्रंथ में दीन–ए–इलाही शब्द का प्रयोग ही नहीं किया है। उसने तौहीद–ए–इलाही अर्थात् ईश्वरीय एकेश्वरवाद का उपयोग किया हे। बदायूँनी ने दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। अबुलफजल ने अकबर के जनसमुदाय का आध्यात्मिक मार्गदर्शक होने की अवधारणा से इसे जोड़ा है।

डॉ. शिवशंकर मेनन ने अपने आलेख में तौहीदे–इलाही की विशेषताओं की ओर संकेत किया है। उसके अनुसार अबुलफजल की सैद्धांतिक योजना में अकबर को एक विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया था, जो सांप्रदायिक दायरों से परे था। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं अकबर ने अपने धार्मिक विचारों (जिनको बाद के काल में अबुलफजल द्वारा प्रभावित किए जाने की संभावना है) का भी अंततः यही निष्कर्ष निकाला होगा। उसके धार्मिक विचारों के निरूपण में सूफी मत व सर्वेश्वरवाद का गहरा प्रभाव था। सूफी सर्वेश्वरवाद से संबंधित दो क्लासिकी ग्रंथ, जलालुद्दीन रूमी का मस्नवी तथा हाफ़िज का दीवान, अकबर की मनपसंद पुस्तकों में से थे। सूफी मत के प्रति अकबर की आस्था का पता इस बात से चलता है कि उसने चिश्ती को प्रश्रय दिया था। 1562–1579 के मध्य के काल में उसने अजमेर के ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह की अनेकों बार जियारत की थी। उसकी शेख सलीम चिश्ती के प्रति गहरी आस्था थी, जिसके नाम पर उसने अपने पुत्र (भावी जहाँगीर) का नाम सलीम रखा था। उसने बाद में फतेहपुर सीकरी में एक दरगाह का भी निर्माण करवाया था।

अकबर के सूफी धर्म के प्रति झुकाव ने ही उसे विश्व के प्रति एक विशद् व उदार दृष्टिकोण अपनाने को प्रेरित किया। अकबर का यह विचार 1575 के बाद से इबादतखाने में होनेवाले वाद–विवाद के कारण और भी परिपक्व होता गया। वाद–विवाद के दौरान एक ओर कट्टरपंथी सुन्नी उलेमा की धर्मांधता सामने आई व उनमें विविध विषयों के बारे में गहरा मतभेद होने के कारण विभ्रम की स्थिति भी स्पष्ट हुई। दूसरी ओर इन वाद–विवादों ने उसका यह विश्वास पक्का कर दिया कि विद्वान पुरुष सभी धर्मों में पाए जाते हैं तथा यह भी कि सत्य केवल इस्लाम धर्म की थाती नहीं है। इसी सहिष्णु दृष्टिकोण का एक प्रतिरूप अकबर की आध्यात्मिक एवं भौतिक अर्थों में अपने श्रेष्ठ व्यक्तित्व के प्रति जागरूकता भी थी। इसके लिए बहुत–से तथ्य उत्तरदायी थे। जैसा कि बदायूँनी की पूर्वोक्त पंक्तियों से ज्ञात होता है कि भारत में एक सशक्त मुगल साम्राज्य की स्थापना में अकबर की आश्चर्यजनक सफलता के पश्चात् अकबर की धार्मिक एवं आध्यात्मिक विषयों में रुचि बढ़ी तथा धीरे–धीरे वह स्वयं को दैवी शक्ति के ग्राही के रूप में देखने लगा। इस प्रकार का दृष्टिकोण शिकार–अभियान के दौरान होनेवाले हाल (सूफियों की आनंद–अतिरेक की अवस्था) से और भी पुष्ट हुआ होगा। अबुलफज़ल के साहिबे–ज़माना (युग–पुरुष) की परिकल्पना में अकबर के व्यक्तिगत विचारों तथा अबुलफज़ल के ज्ञान का समावेश हुआ है। यह विभिन्न धर्मों के मध्य शांति व सद्भावना स्थापित करने के लिए था। सभी परिवर्तनों के मूल में वास्तविकता व अटल सत्य एक ही है तथा प्रकाश उस अपरिवर्तनीय वास्तविकता की शुद्धतम व आकारहीन अभिव्यक्ति है। इसीलिए अकबर ने प्रकाश के स्रोत सूर्य को इतना महत्त्व दिया। अकबर के विचारों पर प्राचीन ईरानी परंपरा के नौरोज उत्सव का भी प्रभाव पड़ा था, जिसमें सूर्य और रोशनी की उपासना शामिल थी।

अकबर का विश्वास था कि ईश्वर और पार्थिव जीवों के मध्य गहरा संबंध है व यह कि शासक के रूप में उसका ईश्वर से प्रत्यक्ष संबंध है अर्थात् इस संबंध की स्थापना में धर्मरूपी माध्यम की आवश्यकता नहीं है। अबुलफज़ल द्वारा सप्रभुता की दैवी प्रकाश से तुलना किए जाने के विषय में पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। अकबर का विश्वास था कि बादशाह के दर्शन करना ईश्वर की उपासना करने के तुल्य है, जबकि बादशाह के लिए न्याय करना तथा सांसारिक विषयों पर संचालन ही वास्तविक उपासना है।

इस प्रकार 'तौहीदे–इलाही' सर्वेश्वरवाद पर आधारित विचारपद्धति थी जिसका विकास [illegible] रूप से हुआ था अर्थात [illegible] इस्लाम तथा हिंदू धर्म – दोनों के ही प्रभाव से मुक्त थी। इसमें प्रकाश को एकल वास्तविकता का शुद्धतम प्रकट [illegible] था। इस विचारपद्धति में आध्यात्मिक नेतृत्व अकबर के हाथों में सन्निहित था व उसका अपने शिष्य दीक्षित करने का अधिकार [illegible] शिष्यों की दीक्षा के लिए इतवार का दिन नियत किया गया था, क्योंकि उस दिन, अबुल फजल के शब्दों में, 'सूर्य अपने प्रभाव [illegible] में होता था।' नया शिष्य अपनी पगडी अपने हाथों में लेकर बादशाह के सम्मुख जाता था तथा अपना शीश उसके चरणों में धर देता था। बादशाह अपने हाथों से पगड़ी उठाकर उसके सिर पर रख देता था तथा दीक्षा के प्रतीक चिह्न नवागंतुक को प्रदान किए जाते थे। प्रतीक चिह्नों में तागा तथा ईश्वर के नाम तथा अकबर के सूत्र–वाक्य (अल्लाहो अकबर) और अगूठी हो सकती थी। जहाँगीर के अनुसार दीक्षा के समय शिष्य को उपदेश के तौर पर कुछ शब्द कहे जाते थे जैसे कि उसे समुदायगत झगड़ों में अपने को भ्रांत कर लेना या किसी बात को आँखें मूँदकर स्वीकार नहीं करना चाहिए, बल्कि सभी धर्मों के संबंध में धार्मिक सहिष्णुता के पथ का अनुसरण करना चाहिए। उसे अपने हाथों से किसी जीवित प्राणी का वध नहीं करना चाहिए तथा किसी की खाल नहीं उधेड़ना चाहिए। हाँ, युद्ध व शिकार में इसका अपवाद हो सकता था.....(उसे) सभी प्रकाशदायी तत्त्वों (सूर्य व चंद्रमा आदि) का [illegible] प्रत्येक की क्षमता के अनुरूप ईश्वर के प्रकाश की अभिव्यक्ति है, आदर करना चाहिए तथा हर समय व हर ऋतु में ईश्वर की शक्ति को पहचानना चाहिए। वस्तुतः 'तौहीदे–इलाही को अबुलफजल द्वारा अकबर के विचारों के अनुरूप निरूपित किए जानेवाले सिद्धांतों के एक अंश के रूप में ही देखा जाना चाहिए। इस संप्रदाय में नवदीक्षित शिष्य को भक्ति के चार चरणों (चहारगाना–ए–इख्लास) को पूरा करने के लिए अपनी तत्परता दिखानी होती थी। ये चार चरण जमीन, संपत्ति, सम्मान तथा धर्म थे, जिन्हें उसे बादशाह के लिए उत्सर्ग करने के लिए तैयार होना पड़ता था। यद्यपि शाही कर्मचारियों में से अधिकांश अपने जीवन, संपत्ति तथा सम्मान का बादशाह के लिए उत्सर्ग करने को तैयार रहते थे, किंतु ऐसे कुछ ही लोग थे जो बादशाह के लिए अपने परंपरागत धर्म (अर्थात् इस्लाम या हिंदू धर्म) का उत्सर्ग करने तथा अकबर का आध्यात्मिक नेतृत्व स्वीकार करने के लिए तैयार हों। अकबर को इस बात का आभास हो गया तथा उसने अपने मत में अधिकाधिक लोगों को शामिल किए जाने के लिए विवश नहीं किया। इसलिए 'तौहीदे–इलाही' की सदस्यता केवल उन लोगों के लिए सीमित कर दी गई जो बादशाह के विश्वस्त थे। अततः अकबर की व्यक्तिगत धार्मिक विचारपद्धति (अर्थात् तौहीदे–इलाही) मुगल साम्राज्य के उदार सिद्धांतों में अर्थात सार्वलौकिक सहिष्णुता (सुलह–ए–कुल) में समाविष्ट हो गई जिसका निरूपण अबुलफजल ने किया था। दूसरे शब्दों में अकबर की जनता में से हर एक, भले ही वह अकबर को अपना आध्यात्मिक गुरु मानता हो या न मानता हो, अन्य जातियों व संप्रदायों के प्रति शांति व सामंजस्य के सिद्धांत का मानने के लिए बाध्य था।

उपर्युक्त वर्णन से यह उजागर होता है कि अकबर ने तौहीदे–इलाही, जिसको आम भाषा में दीन–ए–इलाही कहा जाता है की शुरुआत अपने साम्राज्य के सुदृढ़ीकरण के लिए की थी।

अध्याय-3

मुगल सम्राटों की दक्षिण नीति

तुगलक वंश के अंतिम काल में बहमनी राज्य की स्थापना हुई। कुछ समय के पश्चात् यह राज्य पाँच राज्यों में विभाजित हो गया था– 1. अहमदनगर, 2. बीजापुर 3. गोलकुंडा 4. बरार व 5. बीदर। बीदर व बरार को शेष तीन राज्यों ने जीत लिया था और यों दक्षिण में ये केवल तीन राज्य शेष रह गये थे। इन तीनों राज्यों का अपने पड़ोसी हिन्दू राज्य विजयनगर से सदैव संघर्ष होता रहता था। अकबर के समय में इन तीनों राज्यों ने संगठित होकर विजयनगर की शक्ति को नष्ट कर दिया। इसके बाद ये राज्य परस्पर लड़ने लगे। अमीरों की दलबंदी, सुल्तानों की अयोग्यता व विलासिता के कारण स्थिति दिन–प्रतिदिन बिगड़ती चली गई। मुगल सम्राटों में सर्वप्रथम अकबर ने उत्तरी भारत को विजय करने के पश्चात् दक्षिणी भारत को विजय करने की नीति अपनाई। अहमदनगर पर 1490 ई. में निजामशाही वंश का राज्य था। मुगलों के साथ उनका प्रथम संपर्क बाबर के समय में हुआ। वहाँ के शासक बुरहान निजामशाह प्रथम ने बाबर और बाद में हुमायूँ से बहादुरशाह के विरुद्ध सहायता माँगी। परंतु बाबर व हुमायूँ उत्तरी भारत में ही मुगल साम्राज्य की रक्षा व विस्तार में लगे हुए थे। अतः उन्होंने इस ओर तनिक ध्यान नहीं दिया। हुमायूँ का पुत्र अकबर अपने शासन के प्रारंभिक वर्षों से ही दक्षिण के राज्यों को अपने अधीन करने के मनसूबे बाँधने लगा। अतः अकबर उत्तरी भारत को अपने अधिकार में कर लेने के पश्चात् दक्षिण भारत को भी जीत लेना चाहता था। जहाँ तक उसकी दक्षिण नीति का प्रश्न है, उसकी साम्राज्य–विस्तार की लालसा, भारत को एक राजनीतिक इकाई में परिवर्तित करने का स्वप्न, अपनी सेना को व्यस्त रखने की आवश्यकता, दक्षिण की पतनोन्मुखी अवस्था और अरब सागर पर व्यापारिक एकाधिकार जमाने का यूरोपीय व्यापारियों का प्रयास – इन सबने अकबर को दक्षिण की ओर अग्रसर होने को प्रेरित किया था। इन सबमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि अकबर चाहता था कि हिन्दुस्तान में उसकी सार्वभौमिकता सब स्वीकार करें। इसलिए अकबर ने सबसे पहले 1591 ई. में दक्षिण के चार राज्यों – अहमदनगर, गोलकुण्डा, बीजापुर तथा खानदेश के पास इस आशय से दूत भेजे कि वे अकबर की सार्वभौमिकता को स्वीकार कर लें। खानदेश के राजा अलीखाँ ने, जिसका राज्य अकबर के राज्य की सीमा से लगता था, मुगल सम्राट् की अधीनता स्वीकार कर ली और वार्षिक कर देना स्वीकार कर लिया। किन्तु शेष तीनों राज्यों के शासकों ने अकबर के प्रस्ताव को विनम्रतापूर्वक ठुकरा दिया। अतः अकबर ने अब्दुर्रहीम खानखाना और अपने द्वितीय पुत्र मुराद को 1593 ई. में अहमदनगर को विजय करने हेतु रवाना किया।

अकबर की दक्षिण नीति : उद्देश्य

1. अकबर एक महत्त्वाकांक्षी शासक था। अतः उत्तरी भारत पर अधिकार जमा लेने के बाद वह दक्षिणी भारत पर अपना आधिपत्य जमाना चाहता था।
2. अकबर, मालवा, गुजरात को जीत चुका था। दक्षिण के खानदेश और अहमदनगर की सीमाएँ इन राज्यों से लगी हुई थी। अतः अकबर की चाहत थी कि मुगल साम्राज्य को छूनेवाले इन राज्यों को विजय कर लिया जाए।
3. अकबर साम्राज्यवादी नीति का पोषक था। अतः दक्षिण पर उसका ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक ही था।
4. दक्षिण के तीनों बहमनी राज्य व खानदेश परस्पर संघर्षरत रहने व आंतरिक कलह के कारण कमजोर हो गए थे अतः उन्हें जीतना कठिन नहीं था।
5. दक्षिण के राज्यों में काफी धन था, विशेषतया गोलकुंडा में पर्याप्त समृद्धि थी। अतः मुगल राजकोष समृद्ध हो जाएगा।
6. वह पुर्तगाली प्रदेशों को नष्ट करना चाहता था। स्मिथ का कहना है कि 'स्थल सेना के आधार पर वह पुर्तगाली शक्ति को समाप्त कर देना चाहता था ताकि उसकी सेनाएँ पुर्तगाली क्षेत्रों तक पहुँच जाए। इस हेतु बीजापुर, गोलकुंडा को जीतना आवश्यक था।
7. दक्षिण भारत व व्यापार के मार्गों के लिए महत्त्वपूर्ण बना हुआ था जिसकी कमी भी साम्राज्य के लिए कष्टदायक हो सकती थी। इसलिए दक्षिण को जीतना आवश्यक था।
8. अकबर असीरगढ़ के शक्तिशाली किले को जीतना चाहता था।

9. मेवाड के अतिरिक्त अकबर को राजपूतों का पूर्ण सहयोग प्राप्त था। अतः वह उनकी सहायता से दक्षिण को विजित करना चाहता था।

10. अकबर अपनी विशाल सेना को व्यस्त रखने के उद्देश्य से भी दक्षिण पर आक्रमण करना चाहता था।

11. डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव की मान्यता है कि गोआ के पुर्तगालियों के बढ़ते हुए व्यापार व शक्ति का भी अकबर निवारण करना चाहता था।

खानदेश-विजय

खानदेश के साथ मुगलों का पहला सम्पर्क 1561 ई. में मालवा–विजय के समय हुआ था। तब मीरन मुबारकशाह द्वितीय वहां का शासक था। खानदेश ने मालवा के बाजबहादुर को शरण दी और उसका पीछा करने आए पीर मुहम्मद को खदेड दिया था। दूसरा सम्पर्क 1564 ई. में तब हुआ जबकि अकबर मालवा के विद्रोही सूबेदार अब्दुल्लाखाँ उजबक का दमन करते हुए माण्डू तक पहुंचा और खानदेश के सुल्तान मीरन मुबारकशाह की लड़की से विवाह कर लिया। 1572–73 ई. में गुजरात को जीत लेने के पश्चात मुगल साम्राज्य की सीमाएँ खानदेश और अहमदनगर से मिलने लग गई थी। तब अकबर ने खानदेश के साथ मैत्रीपूर्ण सबध स्थापित किए और खानदेश ने अकबर को वार्षिक कर देना भी स्वीकार कर लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि खानदेश के शासक अलीखाँ ने शुरू में तो अकबर की अधीनता स्वीकार करली परंतु बाद में वह मुकर गया। तब 1576 ई. में अकबर ने शिहाबुद्दीन के नेतृत्व में एक सेना भेजी और 1577 ई. में खानदेश ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली थी। अंत में 1579 ई. में सोनपत के युद्ध में अकबर के विरुद्ध लड़ते हुए अलीखाँ मारा गया।

अलीखाँ के बाद उसका पुत्र मीरन बहादुर खानदेश का सुल्तान बना। उसने अकबर को अपना सम्राट् नहीं माना। इस पर अकबर ने मीरन को समझाने के लिए तीन बार विशेष दूत भी भेजे किन्तु मीरन माना नहीं। तब 1599 ई. में अकबर ने खानदेश पर आक्रमण कर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। मीरन बहादुर ने असीरगढ़ के किले में शरण ली। 1600 ई. उत्तरार्द्ध मे अकबर व मीरन बहादुर के मध्य कुछ सेनापतियों की मध्यस्थता से एक समझौता हो गया और मीरन अकबर के दरबार में उपस्थित हो गया। तब मीरन को असीरगढ़ का दुर्ग मुगलों को सौंपने के लिए बाध्य किया गया और यों 17 जनवरी, 1601 ई. को अकबर का असीरगढ के दुर्ग पर अधिकार हो गया। इस प्रकार खानदेश का मुगल साम्राज्य में विलय कर दिया गया और मीरन को बंदी बनाकर ग्वालियर भेज दिया गया।

अहमदनगर विजय

अहमदनगर राज्य की स्थापना 1490 ई. में हुई। अहमदनगर के तत्कालीन सुल्तान निजामशाही को बरार के अमीरों ने अब गद्दी से पदच्युत करने का प्रयास किया तो अमीरों ने अकबर से सहायतार्थ अभ्यर्थना की। मालवा के सूबेदार ने उनकी मदद की परंतु पहले तो उसे हारना पड़ा और बाद में वर्षा आ जाने से अभियान रद्द करना पड़ा। 1589 ई. मे दूसरा अभियान भी असफल रहा। अकबर बुरहानुद्दीन को गद्दी पर बिठाना चाहता था। बुरहानुद्दीन ने खानदेश के शासक की सहायता से आक्रमण किया और सफलता अर्जित की। उसने मुगल साम्राज्य की अधीनता स्वीकार करते हुए स्वतंत्रता की घोषणा कर दी।

1591 ई. में अकबर ने खानदेश, अहमदनगर, बीजापुर तथा गोलकुंडा में भी दूत भेजे, जो 1593 ई. तक पुनः लौट आए। तब बीजापुर व गोलकुंडा ने कई उपहार भेजे तथा अधीनता को बड़ी नम्रता से ठुकरा दिया। अहमदनगर के बुरहानुल मुल्क ने इस तरफ कोई ध्यान नहीं दिया, जिससे अकबर का अप्रसन्न हो क्रुद्ध होना स्वाभाविक ही था। अतः अकबर ने 1593 ई. में अब्दुर्रहीम खानखाना को अहमदनगर विजय के लिए भेजा। बुरहानुलमुल्क अत्याचारी शासक था। राज्य के अमीरों व पुर्तगालियों के साथ उसके सबध अच्छे नहीं थे। उसके देहांत के बाद इब्राहीम सुल्तान बना, किन्तु वह भी बीजापुर–युद्ध में काम आ गया। अहमदनगर के इस गृह–संघर्ष–संघर्ष को देख अकबर ने मुराद व खानखाना को ससैन्य अहमदनगर पर अधिकार करने भेजा। तब चाँदबीबी इब्राहीम के पुत्र बहादुर को सुल्तान बना कर स्वयं संरक्षिका बन गई। तभी इखलासखाँ नामक एक अमीर ने एक अन्य बालक को बहादुर के रूप में प्रस्तुत कर दिया। इसी भाँति अभंगखाँ अमीर ने बहादुरशाह प्रथम के पुत्र अली का समर्थन कर अहमदनगर की गद्दी के कई दावेदार हो गए। दिसम्बर, 1595 ई. के मध्य मुगल अहमदनगर के निकट पहुँच गए। चाँदबीबी को किला चारों ओर से घेर लिया गया। मुराद और मुगल सैनिकों और अधिकारियों ने किले का विजय करने का प्रयास किया। उधर चाँदबीबी के नेतृत्व में बूढ़े से लेकर बालक तक तोपों, गोलियों, बमों और अग्नि को बौछार मुगलों पर

किले को बचाने में लगे रहे। मुगल अधिकारियों के आपसी मतभेद, रसद की कमी और बीजापुर व गोलकुण्डा की सेना के आगे बढने की खबर से मुगलों को संधि के लिए बाध्य होना पडा। उधर किले में रसद की कमी, मियाँ मंझू से शंकित होकर तथा मुगलों की वीरता देखकर चाँदबीबी भी संधि के लिए तैयार हो गई। अतः 20 मार्च, 1569 ई. को मुगल अधिकारियों को बहुमूल्य नजरें देने, सोने–चाँदी बाँटने और बरार का प्रदेश देने का वचन देने पर अन्ततः समझौता हो गया तथा मुगल बादशाह की अधीनता में, इब्राहीम निजामशाह के पुत्र बहादुरशाह को, जो उस समय एक बालक ही था, अहमदनगर का सुल्तान मान लिया गया।

बरार मुगलों को देने से कई सामंत असतुष्ट हो गए। बीजापुर और गोलकुंडा भी यह नहीं चाहते थे। इसलिए सभी ने मुगल विरोधी संयुक्त अभियान किया। चाँदबीबी ने अपने–आपको शासन से अलग कर लिया और अन्य सरदारों ने संधि को ठुकराकर बरार को मुगलों से छीनने का प्रयत्न किया। बीजापुर, गोलकुंडा और अहमदनगर की सम्मिलित सेना मुगलों से लड़ने आगे बढ़ी। शाहरूख मिर्जा और खानखाना के नेतृत्व में मुगल सेना ने 5 फरवरी, 1597 ई. को सूपा में उनका मुकाबला किया। मुगलों को बड़ी–भारी हानि उठानी पड़ी। मुगलों की भारी जन–हानि में सबसे अधिक उल्लेखनीय खानदेश के राजा अलीखाँ का मुगलों के पक्ष में युद्ध करते हुए हुए मारा जाना था। परन्तु अन्ततः मुगल सेना की विजय हुई। मुराद और खानखाना की व्यक्तिगत शत्रुता को देखते हुए अकबर ने 1597 ई. में अबुलफजल को दक्षिण के लिए रवाना किया और खानखाना को वापस बुला लिया तथा शहजादे मुराद की जगह शहजादा दानियाल को नियुक्त किया। परन्तु अब खानदेश का नया सुल्तान मीरन बहादुरखाँ दक्षिण में मुगल शक्ति की सहायता करने के लिए तैयार नहीं था।

ऐसी स्थिति में अकबर स्वयं दक्षिण के लिए रवाना हुआ। उसने शहजादा दानियाल को अहमदनगर विजय करने भेजा तथा स्वयं खानदेश के विरुद्ध बढ़ा दानियाल ने अहमदनगर के किले का घेरा डाल दिया। चाँदबीबी को यह आशा नहीं थी कि अहमदनगर के सैनिक मुगल आक्रमण का डटकर मुकाबला कर सकेंगे, विशेष रूप से जब अकबर स्वयं बहुत निकट था। अतः वह अबुलफजल से सम्पर्क कर बीर के किले के बदले अहमदनगर का किला मुगलों को देने के लिए तैयार हो गई। परंतु उसके अधिकारी शांति के विरुद्ध थे और लड़ाई चाहते थे। अपनी परेशानी में चाँदबीबी ने चीताखाँ से परामर्श किया। परन्तु चीताखाँ बाजारों में दौड़ता हुआ चिल्लाने लगा कि सुल्ताना मुगलों से मिली हुई है। दक्षिणी लोग बिगड़ गए ओर चीताखाँ के नेतृत्व में महल में घुसकर चाँदबीबी की हत्या कर दी।

मुगल चुनौती स्वीकार करने के लिए तैयार थे। अतः सुरंगों से दीवार को उड़ाकर 18 अगस्त, 1600 ई. को मुगलों ने अहमदनगर के किले पर अधिकार कर लिया। बहादुर निजामशाह को कैद कर लिया गया और उसे ग्वालियर के किले में भेज दिया गया। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के मतानुसार, 'अकबर की दक्षिण नीति में हमें वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा या विजय–लालसा का प्रदर्शन नहीं, बल्कि उसमें हमें एक महान सम्राट् के प्रबुद्ध विकास की झलक देखने को मिलती है।' अब अकबर के लिए दक्षिण–विजय का मार्ग साफ हो गया था। परंतु बीजापुर और गोलकुंडा मुगलों की अधीनता में नहीं आए थे। सलीम के विद्रोह के कारण अकबर अहमदनगर के शेष हिस्सों को भी नहीं जीत सका था।

असीरगढ़ की विजय (1601 ई.)

असीरगढ़ का किला खानदेश में स्थित था। दक्षिण भारत के मार्ग में पड़ने के कारण इसे दक्षिण का फाटक कहते थे। खानदेश के नए शासक मीरन बहादुरखाँ ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा के साथ ही इस किले को अपनी रक्षा हेतु सुदृढ़ करना प्रारंभ कर दिया। अतः 1599 ई. के आरंभ में अकबर ने खानदेश पर आक्रमण कर वहाँ की राजधानी बुरहानपुर पर अधिकार कर लिया और उसके उपरान्त असीरगढ़ के दुर्भेद्य दुर्ग का, जो गोला–बारूद और युद्ध–सामग्री से पूर्ण सम्पन्न था, घेरा डाल दिया। यह घेरा लम्बे समय तक चलता रहा। किन्तु मुगलों की युद्ध–कुशलता और किले में फैली महामारी से भयभीत होकर 21 दिसम्बर, 1600 ई. को खानदेश के शासक बहादुरखाँ ने अकबर के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। परंतु किले के नायक याकूतखाँ और अन्य दुर्गरक्षकों ने कुछ दिनों तक मुगलों का सामना किया, परंतु अकबर द्वारा पद व धन का लालच दिए जाने पर 6 जनवरी, 1601 ई. को उन्होंने भी किले को समर्पित कर दिया। पूरे खानदेश को मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया एव बहादुरखाँ सपरिवार ग्वालियर के किले में भेज दिया गया।

जहाँगीर की दक्षिण नीति

अकबर के सम्पूर्ण दक्षिण भारत को जीतने का स्वप्न पूरा न होने पर उसके पुत्र जहाँगीर ने इस कार्य को करना चाहा। अतः जहाँगीर को दक्षिण में आगे बढ़ने की नीति अपने पिता से विरासत में मिली। लेकिन जहाँगीर दक्षिण में कोई विशेष सफलता प्राप्त न कर सका, क्योंकि एक तो उस समय दक्षिण की तीनों रियासतें (अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुंडा) एक थीं और दूसरा मलिक अम्बर जो कि अहमदनगर का एक योग्य संगठनकर्ता व सेनापति था, का विरोध था। मलिक अम्बर बहुत फुर्तीला, संगठनशील और सैनिक योग्यताप्राप्त सरदार था। जैसा कि डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है, 'लड़ाई, सैन्य–संचालन, निर्णय–शक्ति और प्रशासनिक योग्यता में उसका कोई सानी नहीं था।' जहाँगीर के बादशाह बनने और खुसरो के विद्रोह के समय कुछ वर्ष दक्षिण भारत को शान्त के प्राप्त हुए। मलिक अम्बर ने इस समय का अत्यंत बुद्धिमत्ता से उपयोग विभिन्न सुधारों तथा अहमदनगर राज्य की शक्ति को दृढ़ करने के लिए किया। उसने राजा टोडरमल की प्रणाली से प्रेरणा लेकर कृषियोग्य भूमि की नाप–जोख के आधार पर नगद मालगुजारी वसूल करनी प्रारंभ की, जिससे यथेष्ट धन खजाने में पहुँचने लगा। इधर उसने अहमदनगर के सीमित साधनों को ध्यान में रखते हुए छापामार रण–कला को अपनाया, क्योंकि खुले रूप से मुगलों से लड़ना अहमदनगर जैसे राज्य के लिए असंभव था। मराठे छापामार युद्ध में सिद्धहस्त थे। अतः मराठा घुड़सवारों की संख्या बढ़ा दी गई और छापामार रणकला के लिए उन्हें खूब प्रशिक्षित किया। इस प्रकार आंतरिक सुधार करने तथा मराठों को गुरिल्ला युद्धकला में दक्ष करने के बाद मलिक अम्बर मुगल अधिकार में गए अहमदनगर के इलाकों को वापिस जीतने में लग गया। उसने बीजापुर से भी सैनिक सहायता प्राप्त कर ली। मुगल अधिकारियों की आपसी ईर्ष्या, फूट और उदासीनता की वजह से मलिक अम्बर सफलता–पर–सफलता प्राप्त करता गया और शीघ्र ही खोए हुए अहमदनगर के इलाकों पर अधिकार कर लिया। इस भाँति जहाँगीर ने अपने राज्यकाल के आरंभ में ही दक्षिण का प्रायः वह समस्त भाग, जो उसके पिता ने जीतकर साम्राज्य में मिलाया था, खो दिया।

1608 ई. में जहाँगीर ने अब्दुर्रहीम खानखाना को 13,000 अनुभवी अश्वारोही सेना का नेतृत्व प्रदान कर अहमदनगर भेजा। खानखाना को चूँकि दक्षिण का पूरा अनुभव प्राप्त था, अतः उसने कहा कि वह दो वर्षों में ही अम्बर को नतमस्तक कर देगा। परंतु अम्बर ने छापामार युद्ध–प्रणाली से मुगलों को असफल कर दिया। तब खानेजहाँ ने जहाँगीर को पत्र लिखा कि ये सारी विपत्तियाँ खानखाना के कुप्रबंध के कारण हुई हैं इसलिए या तो उसके नेतृत्व की पुष्टि की जाए या उसे दरबार में बुलाकर, इस सेवा के लिए मुझे नियुक्त किया जाए। इस दौरान यदि मैं यह काम न कर सकूँ तो मैं दरबार में पुनः अपना मुँह नहीं दिखाऊँगा।

खानेजहाँ की नियुक्ति हो गई, लेकिन इससे पहले कि वे सेना की कमान सँभालें, खानखाना को एक बहुत बुरी हार का मुँह देखना पड़ा। अहमदनगर पर अचानक आक्रमण में वह बुरी तरह विफल हुआ। छापामार रणशैली के सामने उसने घुटने टेक दिए और मलिक अम्बर से संधि करके बुरहानपुर लौट आया। 1610 ई. में मलिक अम्बर ने अहमदनगर के किले पर अधिकार कर लिया। अतः खानखाना के स्थान पर 1611 ई. में खानेजहाँ लोदी, खानेजमाँ, मानसिंह, अब्दुल्लाखाँ आदि को एक साथ अहमदनगर पर आक्रमण करने का आदेश दिया गया। परंतु इस परिवर्तन का भी कोई लाभ मुगलों को नहीं मिला। मुगल अधिकारियों की आपसी फूट व अम्बर की छापामार नीति ने मुगलों की सफलता के समक्ष प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया। खानेजहाँ व मानसिंह बरार के खानदेश के मार्ग से प्रमुख सेना लेकर चले। अब्दुल्लाखाँ ने नासिक के मार्ग से कूच किया। अब्दुल्लाखाँ ने समस्त प्रदेश स्वयं ही जीतना चाहा था। अतः वह सेना के साथ अकेला ही दौलताबाद तक चला गया। उसे दुःखी होना पड़ा। छापामारों ने उसकी रसद को रोक दिया और अंत में काफी नुकसान उठाकर उसे गुजरात लौटना पड़ा। अब दक्षिण का नेतृत्व पुनः खानखाना को सौंपा गया। 1612 ई. में परेवज व खानखाना को पुनः दक्षिण भेजा गया। तब साधारण सफलता के पश्चात् मुगलों का उत्साह टूट गया। खानखाना ने अम्बर के कुछ सैनिकों को अपनी तरफ कर लिया। 1615 ई. में मुगलों ने रोशनगाँव के पास एक युद्ध में अहमदनगर, बीजापुर व गोलकुंडा की संयुक्त सेनाओं को परास्त करने में सफलता अर्जित की। खुर्रम को दक्षिण भेजा गया।

खानेजहाँ ने अपने साथियों के साथ अहमदनगर पर आक्रमण करने की जो योजना बनाई थी, वह असफल रही क्योंकि [illegible] ने अन्य सरदारों से बिना सम्पर्क रखे गुजरात की तरफ से अहमदनगर पर जो आक्रमण किया, उसमें वह मलिक अम्बर [illegible] हुआ और उसे हार कर गुजरात भागना पड़ा। अतः जहाँगीर को 1612 ई. में खानखाना को पुनः दक्षिण का गवर्नर बनाना [illegible] खानखाना ने मलिक अम्बर को हराने के लिए पूरी तैयारी की और रोशनगाँव की लड़ाई में अहमदनगर बीजापुर और गोलकुंडा की [illegible] सम्मिलित सेना को बुरी हार देने में भी सफल हुआ। परन्तु इसके बाद वह कोई प्रगति नहीं कर सका, क्योंकि खानखाना और [illegible] परस्पर एक–दूसरे के साथ नहीं निभ सके। अतः मलिक अम्बर को मौका मिल गया [illegible] यथाशक्ति दूर तक [illegible]

उजाड़ता रहा। इस पर जहाँगीर ने 1616 ई. में शहजादा परवेज को इलाहाबाद बदल दिया और उसके स्थान पर शहजादा खुर्रम को, जिसने हल ही में मेवाड़ को विजय किया था, दक्षिण भेजा। उसके साथ साम्राज्य के चोटी के सेनापति तथा 50,000 से अधिक सैनिक भेजे। जहांगीर स्वयं भी शत्रु पर दबाव बनाये रखने के लिए अजमेर से आगे बढ़कर 7 मार्च, 1617 ई. को माण्डू पहुच गया।

खुर्रम के दक्षिण अभियान

मेवाड–विजेता खुर्रम के दक्षिण में पहुँचने और माण्डू में सम्राट् जहाँगीर की उपस्थिति से मलिक अम्बर घबरा गया और मुगलों को बिना लड़े ही विजय प्राप्त हो गई। मलिक अम्बर ने संधि करते हुए बालाघाट का प्रदेश, जो कभी उसने मुगलों से छीना था, वापस मुगलों को दे दिया। इसके अतिरिक्त अहमदनगर व दूसरे दुर्गों की चाबियाँ शहजादे को सौंप दी गयीं और सम्राट् के लिए 15 लाख रुपये की भेंट बीजापुर के सुल्तान की ओर से दी गई। शहजादे ने खानखाना तथा शाहनवाजखाँ को दक्षिण के शासन का भार सौंपकर उत्तर के लिए प्रस्थान किया। खुर्रम के लौटने पर सम्राट् तथा राजपरिवार के लोगों ने खूब खुशियाँ मनाई। जहाँगीर द्वारा उसका बहुत सम्मान किया गया। उसे शाहजहाँ की उपाधि तथा 30,000 जात और 20,000 सवार का मनसब दिया गया, जो अभूतपूर्व था। परंतु यदि निरपेक्ष भाव से देखा जाए जो इतनी कोशिशों के बाद केवल 1605 ई. के समय की स्थिति को प्राप्त किया जा सका था' जैसा कि डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है कि 'मुगल शक्ति दक्षिण में वहीं पर थी, जहाँ पर कि अकबर ने दक्षिण को छोड़ते समय छोड़ी थी।' यों संधि हो जाने के उपरांत भी मुगल सीमा में कोई विस्तार नहीं हो सका। काफी मात्रा में हुई जन–धन हानि का भी कोई औचित्य न रहा। मलिक अम्बर ने भी संधि को ठुकरा दिया। 1620 ई. में अहमदनगर व गोलकुंडा पर अधिकार करके अहमदनगर के दुर्ग को घेर लिया गया। अम्बर ने अपनी छापामार युद्धपद्धति से मुगलों से शीघ्र ही अहमदनगर व बरार का बहुत बड़ा भाग छीन लिया। मुगलों ने भागकर बुरहानपुर में शरण ली। डॉ. त्रिपाठी के अनुसार खानखाना ने जान–बूझकर अम्बर को मुगल इलाका उजाड़ने को प्रोत्साहित किया ताकि सम्राट् खुर्रम को दक्षिण की तरफ भेजने के लिए विवश हो जाए। निःसंदेह अम्बर की बड़ी विजय हुई। विवश होकर जहाँगीर ने खुर्रम (शाहजहाँ) को दक्षिण भेजा और विजय के पश्चात् उस मुल्क से दस करोड़ रुपया संग्रह करने का आदेश भी दिया। शहजादा खुर्रम पूर्ण तैयारी के साथ दक्षिण आया। उसने सेना को तीन भागों में विभक्त किया और प्रत्येक में 6 हजार घुड़सवार रखे गए, जिनका नेतृत्व अब्दुल्ला व अबुलहसन को दिया गया। खुर्रम द्वारा की जा रही तबाही से मलिक अम्बर घबरा गया और उसने संधि की प्रार्थना की। तब संधि के अनुरूप अम्बर ने मुगलों के जीते हुए हिस्से पुनः दे दिए और अहमदनगर से अपनी सेना हटा ली। साथ ही 14 लाख रुपये वार्षिक आय का भू–भाग भी मुगलों को दिया। अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुंडा की रियासतों ने क्रमशः 12, 18 और 20 लाख रु. भेंट किए। खुर्रम शीघ्र ही दक्षिणी आक्रमणों से निजात पाना चाहता था, अतः उसने शर्तें कठोर नहीं रखी।

जहाँगीर की बढ़ती हुई बीमारी व नूरजहाँ द्वारा शहरयार को दिए जानेवाले बढावे से शाहजहाँ ने चिंतित होकर 1623 ई. में विद्रोह कर दिया। इससे मलिक अम्बर की फिर बन आई। उसने विद्रोही शाहजहाँ को अपनी ओर मिला लिया और सम्राट् के सेनापतियों की दाल न गलने दी। 1626 ई. में मलिक अम्बर की मृत्यु के बाद अहमदनगर के सेनापति हमीदखाँ ने मुगलों से पुनः युद्ध प्रारंभ कर दिया और तलवार तथा सुवर्ण की मार से शाही सेनापतियों को परास्त करके अहमदनगर दुर्ग को छोड़कर बालाघाट का प्रदेश फिर अधिकृत कर लिया।

डॉ. गुप्ता एवं डॉ. पेमाराम ने जहाँगीर की दक्षिण नीति का लेखा–जोखा करते हुए लिखा है कि बीच की घटनाओं को छोड़कर यदि हम 1605 ई. और 1627 ई. के समय की स्थिति की तुलना करें तो यह कहना गलत नहीं होगा कि जहाँगीर की दक्षिण–नीति पूर्णतः असफल रही। वह अकबर द्वारा विजित प्रदेशों को भी अपने अधीन न रख सका। उलटा छापामार पद्धति से प्रशिक्षित मराठा सैनिक इतने प्रबल हो गए कि मुगल सेनापतियों को बार–बार सब–कुछ खोकर बुरहानपुर में शरण लेनी पड़ी थी। जहाँगीर की यदि थोड़ी–बहुत उपलब्धि थी तो मौखिक सम्मान एवं कुछ लाख रुपये भेंट, जिसे देकर दक्षिण के राज्य अपनी पराजय–जनित कठिनाई से मुक्ति पा जाते थे। जहाँगीर के समय में मुगल दक्षिण भारत में कोई सफलता प्राप्त नहीं कर सके। इन युद्धों ने मराठों को नवीन छापामार युद्ध प्रणाली द्वारा अपने प्रदेश की रक्षा के लिए प्रेरित किया और जहाँगीर के पश्चात् दो अन्य मुगल सम्राटों के समय में भी वे निरंतर अपनी युद्धप्रणाली को जारी रखे रहे। यह सब मुगल साम्राज्य एवं सम्राट् की प्रतिष्ठा के लिए हितकारी नहीं हुआ। दरबार की गुटबाजी, अमीरों की फूट और घूसखोरी उत्तराधिकारी की समस्या, जहाँगीर की अस्वस्थता तथा खुर्रम व महाबतखाँ के विद्रोह आदि के कारण जहाँगीर अपनी दक्षिण–नीति में असफल रहा, जिसमें मलिक अंबर का व्यक्तित्व तथा उसकी अनुपम कूटनीतिज्ञता, प्रशासकीय तथा सैनिक क्षमता, दक्षिण की रियासतों का संयुक्त मोर्चा व नवीन छापामार रणनीति आदि का भी योगदान था।

शाहजहाँ की दक्षिण-नीति

उत्तर भारत को पूर्णरूप से जीत लेने के बाद मुगल सम्राटों ने दक्षिण को जीतने के प्रयत्न करने शुरू कर दिए थे। अकबर व जहाँगीर ने दक्षिण को जीतने के प्रयत्न किए थे। अब शाहजहाँ ने भी इस कार्य को आगे बढ़ाने का निश्चय किया क्योंकि [illegible] अब उसके पास कोई काम नहीं था। फिर दक्षिण भारत विद्रोहियों के लिए शरणस्थल बन गया था, जहाँ अभी खानेजहाँ [illegible] शरण ली थी। अतः बादशाह के लिए यह जरूरी था कि वह दक्षिण की तीनों रियासतों को अपने अधीन करे।

सरदेसाई के अनुसार, 'शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने का वर्ष दक्षिण भारत के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण वर्ष था। इस वर्ष से होने वाली राजनीतिक घटनाओं ने दक्षिण के राजनीतिक संकट की आधारशिला रखी।' इतिहासकार मजूमदार, रायचौधरी व दत्ता के अनुसार 'अकबर केवल खानदेश को जीत सका था और बरार के एक भाग को अपने राज्य में मिला सका था। 1627 ई. में शिवाजी का जन्म हुआ, जिसने कि दक्षिण भारत के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा। दक्षिण के तीन महत्त्वपूर्ण राज्य – अहमदनगर, बीजापुर व गोलकुंडा की स्थिति दिन–प्रतिदिन खराब होती जा रही थी। ये राज्य मुगलों के विरुद्ध एक हो जाते थे किन्तु संकट टलने पर पुनः अलग–अलग हो जाते थे।' डॉ. बी. पी. सक्सेना के अनुसार, 'इनके गुट बनने–बिगड़ने में देर नहीं लगती थी।' साम्राज्यवादी भावना के पोषक शाहजहाँ ने दक्षिण में मुगल साम्राज्य का विस्तार करने में अत्यधिक रुचि प्रदर्शित की। तब दक्षिण में पारस्परिक फूट ने राजनीतिक परिस्थितियाँ भी शाहजहाँ के अनुकूल कर दी थी। उत्तरी भारत के साम्राज्य- विद्रोही प्रायः दक्षिण में जाकर शरण लेते थे। अतः शाहजहाँ इसे भला कैसे सहन कर सकता था। दक्षिण के शासक शिया मुसलमान थे जबकि शाहजहाँ एक कट्टर सुन्नी मुसलमान था। ऐसी स्थिति में शिया राज्यों का उन्मूलन करना वह अपना धार्मिक कर्तव्य मानता था। इतना ही नहीं, शाहजहाँ अपने पूर्वजों के पदचिह्नों पर चलते हुए दक्षिण–विजय के दिवास्वप्न को पूरा करना चाहता था।

शाहजहाँ जानता था कि मलिक अम्बर ने मराठा सरदारों का सहयोग प्राप्त कर इन पहाड़ी इलाकों में मुगलों को परेशान करने के लिए सफलतापूर्वक गुरिल्ला पद्धति का प्रयोग किया था। अतः उसने एक विशाल सेना वहाँ भेजी ताकि वह एकसाथ कई स्थानों पर युद्ध कर सके।

उसने अहमदनगर के अमीरों को धन और पद का लोभ देकर अपनी ओर मिलाने की कोशिश की। मराठा सरदारों को भी इसी प्रकार का प्रलोभन दिया गया।

बीजापुर और गोलकुंडा युद्ध के समय अहमदनगर की मदद करते थे। अतः शाहजहाँ ने उनसे समझौते किए कि वे अहमदनगर की मदद न करें। उनकी सीमाओं पर बड़ी संख्या में सेना भी तैनात कर दी गई।

अहमदनगर

जहाँगीर के शासन के अन्तिम दिनों में साम्राज्य में फैली अव्यवस्था का लाभ उठाकर अहमदनगर के सुल्तान निजामशाह मुर्तजा द्वितीय ने मुगलों से अपने खोए हुए अधिकाँश प्रदेश छीन लिए थे। दक्षिण के मुगल सूबेदार खानेजहाँ लोदी ने इन घटनाओं के प्रति न केवल प्रारंभ में उपेक्षा दिखायी, बल्कि बाद में स्वयं ने विद्रोह कर दिया और अहमदनगर में जाकर शरण ली, जहाँ उसका अच्छा स्वागत हुआ। बादशाह शाहजहाँ के लिए अब अहमदनगर को जीतना अनिवार्य हो गया। अतः उसने एक बड़ी सेना के साथ आजमखाँ को दक्षिण भेजा। उसने धरुर के दुर्ग पर अधिकार करके परेन्डा के दुर्ग का घेरा डाल दिया, परन्तु दक्षिण की विशेष कठिनाइयों के कारण वह युद्ध में अधिक प्रगति न कर सका। दक्षिण में उस समय भयंकर अकाल पड़ गया था। खाद्य सामग्री उपलब्ध होने में बड़ी कठिनाई थी, घोड़ों के लिए घास तक उपलब्ध नहीं थी। फिर भी शाहजहाँ स्वयं दक्षिण में गया तथा बालाघाट के पूर्व में स्थित कैथोर के किले पर अधिकार करने के अलावा बरार, नासिक तथा संगमनेर को नष्ट कर दिया। अहमदनगर के शासक ने स्थिति की गम्भीरता को देखकर मुकर्रबखाँ को हटाकर मलिक अम्बर के पुत्र फतहखाँ को, जिसे उसने जेल में बंद कर रखा था, छोड़कर [illegible] वजीर बनाया और मुगलों से संधि की बातचीत चलाने के लिए कहा ताकि मुगलों से समझौता हो जाए। फतहखाँ अपने सुल्तान के प्रति विद्रोही रुख अपनाते हुए मुगल बादशाह से मिल गया और सुल्तान को बंदी बना लिया। बाद में मुगल बादशाह ने [illegible] उसका वध कर दिया और उसके दस वर्षीय पुत्र हुसैन को सुल्तान बना दिया। इसे प्रमाणित करने के लिए बादशाह ने [illegible] कि मृतक सुल्तान के अलंकार और बहुमूल्य वस्तुएँ तथा अपने ज्येष्ठ पुत्र को जमानत के [illegible] शाही दरबार में भेज दें। [illegible] करने के बाद फतहखाँ ने तीस हाथी, नौ घोड़ों और आठ लाख के अलंकार [illegible] बादशाह को पेश [illegible] शाहजहाँ के नाम का खुतबा पढ़वाया और सिक्के ढलवाए। इन प्रदर्शनों से बादशाह [illegible] हो गया और वह 163[illegible] ई. में [illegible]

लौट आया, क्योंकि इस समय उसकी बेगम मुमताजमहल की मृत्यु हो गयी थी और दूसरा उस समय दक्षिण में भयंकर अकाल पड़ गया।

परंतु अभी अहमदनगर की विजय पूर्ण नहीं हुई थी। शाहजी भोंसले, जिसने 1629 ई. में मुगल सेवा को स्वीकार कर लिया था, उसकी पूना की जागीर लेकर फतहखाँ को देने से वह नाराज हो गया और मुगल सेवा को छोड़कर बीजापुर दरबार में चला गया। उसने बीजापुर से सहायता लेकर फतहखाँ से दौलताबाद छीन लेने की योजना बनायी। इससे फतहखाँ डर गया और उसने मुगलों से मदद माँगी। मुगल सूबेदार महाबतखाँ ने एक बड़ी सेना अपने पुत्र के नेतृत्व में उसकी सहायता के लिए भेजी, परन्तु इसी बीच फतहखाँ ने बीजापुर के सेनापति रंदौलाखाँ से समझौता कर लिया और मुगलों का विरोध करने के लिए तैयार हो गया, जो उसकी सहायतार्थ गए थे। अब महाबतखाँ ने पूरी शक्ति के साथ दौलताबाद पर आक्रमण किया। फतहखाँ, शाहजी भोंसले और बीजापुर की सेनाओं की जी-तोड़ कोशिशों के बावजूद भी मुगल सफल होते गए। तब फतहखाँ भयभीत हो गया और विवश होकर उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अबुर्रसूल को बंधक के रूप में भेजकर महाबतखाँ से प्रार्थना की कि उसे अपना परिवार लेकर दौलताबाद खाली करने की आज्ञा दी जए। फतहखाँ ने महाबतखाँ के पास दुर्ग की चाबियाँ भेज दीं। इस प्रकार दौलताबाद दुर्ग पर मुगलों का अधिकार हो गया। अहमदनगर के शिशु सुल्तान व फतहखाँ को शाही दरबार में भेज दिया गया, जहाँ सुल्तान को ग्वालियर के किले में कैद कर लिया गया तथा फतहखाँ को शाही नौकरी दे दी गई। इस प्रकार अहमदनगर राज्य के विलय का दूसरा चरण पूरा हुआ।

इसके बाद कोई समस्या रहनी नहीं चाहिए थी लेकिन इस समय शाहजी भोंसले ने स्वतंत्रता का झण्डा उठाया। यह पहला मौका थ जब मुगलों का मराठों के साथ सीधा नजदीकी सम्पर्क हुआ। शाहजी भोंसले भी मलिक अम्बर की भाँति चतुर और वीर था। इसने निजामशाही वंश के एक लड़के को ढूँढ कर निजाम–उल–मुल्क की उपाधि दे दी और उसके नाम पर बालाघाट के प्रदेश पर अधिकार कर लिया और शाही सेना का विरोध जारी रखा। इस अवधि में बीजापुर ने शाहजी भोंसले की पूर्ण रूप से मदद की और वह मुगल इलाकों पर छापे मारता रहा। दक्षिण में स्थायी शांति स्थापित करने हेतु स्वयं शाहजहाँ दक्षिण आया। उसने शाहजी के विरुद्ध तीन ओर से सेनाएँ भेजी और खानेजहाँ को बीजापुर नष्ट करने का आदेश दिया। बीजापुर ने अन्त में अपने को बरबाद होता देखकर मुगलों से समझौता कर लिया और शाहजी भोंसले को जीतने में सहयोग देने का वचन दिया। अब शाहजी अकेला रह गया और दो वर्ष तक मुगलों का विरोध करने के बाद उसने अपने–आप को तथा निजाम–उल–मुल्क को बीजापुरी सेनानायक रंदौलाखाँ के सुपुर्द कर दिया। निजाम को मुगलों के सुपुर्द कर दिया गया। उसे भी ग्वालियर के किले में कैद कर लिया गया। शाहजी भोंसले ने बीजापुर की नौकरी स्वीकार कर ली। इस प्रकार 1636 ई. में अहमदनगर के निजामशाही राजवंश का अंत हुआ और अहमदनगर का राज्य मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया। सर यदुनाथ सरकार के शब्दों में, '40 वर्षों के संघर्ष के बाद दक्षिण में शांति हुई। सम्राट् की प्रतिष्ठा निर्विवाद स्थापित हो गई। उसकी सीमाएँ निश्चित कर दी गई और उसकी सत्ता दक्षिणी प्रांतों में नियमपूर्वक स्थापित हो गई।'

गोलकुंडा

यह शिया राज्य सब राज्यों में कमजोर था किन्तु सर्वाधिक धनवान था क्योंकि यहाँ पर हीरे की खानें थीं। अकबर के समय में औपचारिक ढंग से राजपूतों क आदान–प्रदान हुआ। मलिक अम्बर को गोलकुंडा से आर्थिक सहयोग मिला था। जब शाहजहाँ ने विद्रोह किया तो गोलकुंडा के शासक ने उसे मदद दी। तब सुल्तान की मृत्यु होने पर (1626 ई. में) गोलकुंडा में 11 वर्ष का बालक अब्दुल्ला कुतुबशाह सुल्तान बना। शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने पर 1631 ई. में गोलकुंडा ने एक दूत भेजा जिसका शाहजहाँ ने स्वागत किया। शाहजहाँ ने उनसे यह आश्वासन ले लिया कि वे बीजापुर व अहमदनगर की मदद नहीं करेंगे। इस वचन का पालन किया गया, परंतु 1636 ई. में गोलकुंडा ने बीजापुर को नष्ट होते हुए देखकर उसकी मदद की। इस पर शाहजहाँ ने नाराज होकर गोलकुंडा को चेतावनी (अल्टीमेटम) दी, जिस पर गोलकुंडा ने बिना लड़े ही एक संधि स्वीकार करली, जिसकी शर्तें निम्नांकित थीं –

1. शाहजहाँ के नाम का खुतबा पढ़ा जाए।
2. युद्ध हर्जाना दिया जाए।
3. वफादारी की शपथ खाई जाए।
4. चारों खलीफाओं का नाम मस्जिद में नमाज में पढ़ा जाए तथा सिक्कों पर उत्कीर्ण किया जाए।
5. 20 लाख स्वर्णमुद्रा प्रतिवर्ष कर के रूप में दी जाए।
6. यदि गोलकुंडा पर बीजापुर आक्रमण करेगा तो मुगल उसकी सहायता करेंगे।

नवम्बर 1652 ई. में शाहजादा औरंगजेब को दूसरी बार दक्षिण का सूबेदार बना कर भेजा गया। वह गोलकुंडा को [illegible] करना चाहता था। 1636 ई. की संधि को पालना भी गोलकुंडा ने नहीं की थी। तब गोलकुंडा के सुल्तान और मीरजुमला के [illegible] बन रही थी। सुल्तान ने उसके पुत्र को बंदी बनाने का प्रयत्न किया। उस पर मीरजुमला ने मुगलों की सेवा में आने [illegible] सुल्तान ने उसे परिवारसहित बंदी बना लिया तथा उसकी संपत्ति जब्त कर ली। औरंगजेब ने 1656 ई. में शाहजहां की [illegible] कर गोलकुंडा पर आक्रमण कर दिया। सुल्तान ने मीरजुमला व उसके परिवारजनों को छोड़ दिया और संधि–प्रस्ताव प्रस्तुत किया। औरंगजेब ने शेष कर की अदायगी, सुल्तान की पुत्री के साथ अपने पुत्र (मुहम्मद) का विवाह कर, एक करोड़ रुपया युद्ध हर्जाना देने की बात कही। दारा की सलाह पर शाहजहाँ ने औरंगजेब को संधि करके घेरा उठाने का आदेश दिया। अतः [illegible] पड़ी थी। यों मीरजुमला औरंगजेब के साथ हो गया और संधि के अनुरूप सुल्तान ने अपनी पुत्री का विवाह औरंगजेब [illegible] कर दिया। 15 लाख रुपये युद्ध–हर्जाने के रूप में दिए गए और मीरजुमला की संपत्ति उसे पुनः लौटा दी गई।

बीजापुर

बीजापुर ने भी मुगलों के विरुद्ध अहमदनगर को सहयोग दिया था। तब बीजापुर का शासक मोहम्मद आदिलशाह था। उसके समय में राजमाता का प्रभाव बढ़ गया और बीजापुर के अमीरों में दलबंदी बढ़ गई। रणदुल्लाखाँ के नेतृत्व में एक दल मुगलों का समर्थन करता था। 1631 ई. में आसफखाँ ने बीजापुर पर आक्रमण किया किन्तु वर्षा करीब आ जाने से उसे लौटना पड़ा। तब उसकी जगह नियुक्त महताबखाँ ने बीजापुर के अधीन परेंडा के दुर्ग को जीतने का असफल प्रयास किया। 1636 ई. में स्वयं शाहजहाँ दक्षिण आया तब रणदुल्लाखाँ ने बीजापुर के वजीर खवासखाँ की हत्या कर मुस्तफाखाँ को वजीर बनाया। 1636 ई. में बीजापुर ने मुगलों का सामना न करते हुए शाहजहाँ से संधि कर ली और यों तब 1636 ई. से 1656 ई. तक दोनों के बीच ठीक संबंध रहे। 1656 ई. में आदिलशाह का देहांत हो जाने पर उसका 18 वर्षीय पुत्र सुल्तान बना। शाहजहाँ ने 'कर' पूरा अदा न करने के आरोप में 1656 ई. में बीजापुर पर आक्रमण कर दिया। कल्याणी व बीदर विजय कर लेने के पश्चात् औरंगजेब ने बीजापुर को घेर लिया और बीजापुर से आए संधि–प्रस्ताव को भी स्वीकार नहीं किया। औरंगजेब को सफलता मिलने ही वाली थी कि शाहजहां ने दारा की सलाह पर औरंगजेब को घेरा उठाने का आदेश भेजा। अतः 1657 ई. में दोनों ही पक्षों के बीच संधि हो गई। कल्याणी और बीदर मुगलों को दे दिए गए। हालांकि औरंगजेब बीजापुर को पूर्णतया नष्ट कर देना चाहता था किन्तु शाहजहां की बीमारी के समाचार सुनकर औरंगजेब उत्तर की ओर रवाना हो गया। डॉ. बी. पी. सक्सेना के अनुसार, 'दक्षिण के प्रति शाहजहां ने जो रुख अपनाया, विशेषकर अपने शासनकाल के अंतिम भाग में, उसका मुख्य उद्देश्य था धन की प्राप्ति ताकि जो क्षति पश्चिमोत्तर अभियानों में हुई थी उसकी पूर्ति हो जाए।'

डॉ. गुप्ता एवं डॉ. पेमाराम ने शाहजहाँ की दक्षिण–नीति के बारे में लिखा है कि शाहजहाँ ने अपने 30 वर्ष के राज्यकाल में दक्षिण में अपने प्रभाव एवं राज्य की सीमा को निश्चित रूप से आगे बढ़ाया। इसी समय अहमदनगर राज्य का अंत हुआ और बीजापुर और गोलकुंडा को न केवल अपनी स्वतंत्रता खोनी पड़ी वरन् अपने राज्य का कुछ भाग भी सम्राट् के हवाले करना पड़ा। यदि सम्राट ने अपने पुत्र औरंगजेब के कार्य में बाधा न डाली होती तो बीजापुर एवं गोलकुंडा राज्य का अंत होना भी संभव हो जाता। शाहजहां स्वयं दक्षिण की राजनीति की गम्भीरता से परिचित था और उसने यह ठीक समझा था कि इन राज्यों को समाप्त कर देने से दक्षिण की राजनीति में अधिक पेचीदगी हो जाएगी। अतः उसने अपने शासन के अन्तिम भाग में इन दक्षिण की रियासतों से धन की प्राप्ति तथा वहां से फारस के शाह के प्रभाव को समाप्त करने हेतु प्रयास किए। इस मामले में उसे यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई। फिर दाराशिकोह को औरंगजेब की बढ़ती हुई शक्ति और सम्मान से खतरा हो सकता था, इस कारण इन राज्यों का अस्तित्व बनाए रखा गया। शाहजहाँ की बीमारी और उत्तराधिकार–युद्ध की संभावना भी इन राज्यों के अस्तित्व में सहायक सिद्ध हुई। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शाहजहाँ को अपनी दक्षिण नीति में यथेष्ट सफलता मिली और जिन उद्देश्यों को लेकर वह चला, वे भी [illegible]

औरंगजेब की दक्षिण-नीति

प्रो. एस. आर. शर्मा के शब्दों में, 'जब औरंगजेब ने अपने भागते हुए पुत्र अकबर का पीछा करने के लिए प्रयाण किया [illegible] में उसने अपने अवसान की ओर कूच किया। अंततोगत्वा दक्षिण ही उसका कब्रिस्तान बन गया और 1707 ई. में जब [illegible] गया, तो पत्थर के नीचे उसका मृतक शरीर ही नहीं, अपितु अनेक बातें दफना दी गई। औरंगजेब एक महत्त्वाकांक्षी साम्राज्यवादी सम्राट् था। वह सम्पूर्ण भारत पर अपना झण्डा फहराना चाहता था। अपने शासनकाल के प्रथम पच्चीस वर्ष उसने [illegible] में क

अपने अधीन करने में व्यतीत किए तत्पश्चात् औरंगजेब का ध्यान दक्षिण भारत की ओर आकर्षित हुआ। उन दिनों दक्षिण में बीजापुर, गोलकुंडा तथा मराठे अधिक शक्तिशाली थे। अतः उसकी नीति के दो प्रधान लक्ष्य थे – 1. बीजापुर, गोलकुंडा को पराजित करके साम्राज्य में मिलाना, तथा 2. मराठों की बढ़ती हुई शक्ति को नष्ट करना।

औरंगजेब ने दक्षिण का सूबेदार रहते हुए गोलकुंडा व बीजापुर को नतमस्तक कर दिया था, परंतु 1657 ई. में शाहजहाँ के हस्तक्षेप कर देने से प्राप्त विजय उसके हाथ से निकल गई थी। औरंगजेब इसे कभी भूल नहीं सका था और उत्तर से अवकाश मिलते ही उसने दक्षिण के कार्य को पूरा करना चाहा।

उन दिनों गोलकुंडा व बीजापुर की आंतरिक दशा भी शोचनीय थी। अतः औरंगजेब का काम और भी सरल हो गया। चूँकि यहाँ के शासक शिया मतावलंबी थे, जिन्हें कट्टर औरंगजेब किसी भी स्थिति में मिटा देना चाहता था।

तब महाराष्ट्र की शक्ति भी दिनोंदिन बढ़ती जा रही थी। अतः बीजापुर–गोलकुंडा का अस्तित्व मिटाकर औरंगजेब मराठों की शक्ति का दमन सरलता से कर सकता था। औरंगजेब का विद्रोही पुत्र अकबर दक्षिण में शंभाजी की शरण में चला गया था। साथ ही दक्षिण के सुल्तानों ने काफी समय से खिराज भी नहीं दिया था। अतः औरंगजेब इन्हें सबक सिखाना चाहता था। इसके अलावा दक्षिण के धनी राज्यों से औरंगजेब अपेक्षित धन की प्राप्ति कर सकता था। अतः उसने दक्षिण भारत के राज्यों का अंत करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

बीजापुर की विजय

औरंगजेब द्वारा उत्तराधिकार के युद्धोपरान्त शाइस्ताखाँ और महाराजा जसवन्तसिंह को दक्षिण की समस्या सुलझाने के लिए भेजा गया। उन्हें निर्देश दिए गए थे कि वे पहले शिवाजी का दमन करें। शाइस्ताखाँ ने प्रारंभ में शिवाजी के खिलाफ काफी सफलता प्राप्त की, परन्तु शिवाजी द्वारा शाइस्ताखाँ पर पूना के किले में 15 अप्रैल, 1663 ई. को रात्रि में आक्रमण करने व सूरत की लूट ने स्थिति को एकदम बदल दिया। अतः औरंगजेब ने शाइस्ताखाँ के स्थान पर शहजादे मुअज्जम को दक्षिण भेजा, परन्तु वह भी कुछ सफलता प्राप्त न कर सका। तब 1664 ई. में औरंगजेब ने मुअज्जम व जसवन्तसिंह को वापस बुलाकर आमेर के शासक मिर्जा राजा जयसिंह को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया और उसे शिवाजी का दमन करने एवं बीजापुर पर आधिपत्य जमाने के लिए कहा। सर्वप्रथम उसने शिवाजी से आत्मसमर्पण करवाया एवं उसके साथ पुरन्दर की सन्धि करने के पश्चात् जयसिंह बीजापुर की ओर बढ़ा। जैसे ही सुल्तान आदिलशाह को आक्रमण की सूचना मिली, उसने गोलकुंडा के शासक से संधि कर ली तथा मराठों से संधि कर उनसे भी सहायता मांगी। उसने बीजापुर की परिधि के 6 मील के समस्त प्रदेश को उजाड़ दिया ताकि मुगलों को रसद आदि न मिल सके। जयसिंह को वापिस लौटने के आदेश दिए गए। 1667 ई. में शहजादा मुअज्जम को दक्षिण में नियुक्त किया गया।

1672 ई. में सुल्तान आदिलशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र सिकंदर गद्दी पर बैठा। अल्पायु के कारण बीजापुर के सरदारों में गृहयुद्ध होने लगे और इसका लाभ उठाकर मुगल सूबेदार बहादुरखाँ ने 1676 ई. में बीजापुर पर आक्रमण किया। उसके असफल होने पर दिलेरखाँ को दक्षिण का सूबेदार बनाया गया। उसने कूटनीति से काम लिया और बीजापुर ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली तथा अपनी बहन का विवाह शहजादा आज़म के साथ करना स्वीकार किया। परन्तु कुछ ही समय के पश्चात् बीजापुर व मराठों के बीच मित्रता के प्रश्न को लेकर विवाद खड़ा हो गया और दिलेरखाँ ने बीजापुर पर आक्रमण कर दिया। उसे कोई विशेष सफलता अर्जित नहीं हुई। फिर शहजादा आज़म को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया गया। शहजादा ने बीजापुर के दुर्ग को घेर लिया। यह घेरा करीब 15 महीनों तक चलता रहा। जुलाई 1686 ई. में औरंगजेब स्वयं घेरे की देखभाल करने के लिए बीजापुर पहुँचा। रविवार, सितम्बर 22, 1686 ई. को आदिलशाह ने आत्मसमर्पण कर दिया। दिन में 1 बजे आदिलशाहियों का अंतिम बादशाह सिकंदरशाह रसूलपुर में औरंगजेब के समक्ष उपस्थित हुआ। जब वह बीजापुर के बाजार में होकर जा रहा था तो दोनों ओर उसकी प्रजा खड़ी हुई फूट–फूट कर रो रही थी। सिकंदर को खान की उपाधि तथा 1 लाख वार्षिक वेतन पर उमराव बना दिया तथा दौलताबाद के दुर्ग में भेज दिया गया। बीजापुर को मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया।

गोलकुंडा की विजय

यदुनाथ सरकार के मतानुसार, यद्यपि गोलकुंडा की कुतुबशाही रियासत की आन्तरिक स्थिति बीजापुर की अपेक्षा अधिक अच्छी नहीं थी तथापि संकटों के समय कई बार उसने बीजापुर को सहायता दी थी। आदिलशाहों को नष्ट करते समय औरंगजेब ने यही उचित समझा था कि कुतुब-उल-मुल्क के साथ अच्छा बरताव होता रहे, परन्तु ज्यों ही बीजापुर से निपटा, उसने दक्षिण की दूसरी शिया रियासत की ओर अपना ध्यान केंद्रित कर दिया। औरंगजेब की दृष्टि में कुतुबशाहों का सबसे बड़ा अपराध हिन्दुओं से मेल रखना

था। अबुलहसन गोलकुंडा का शासक था। औरंगजेब उससे इसलिए नहीं चिढ़ता था कि वह शेया था, बल्कि कई हिन्दुओं को अपने राज्य में नौकर रख रखा था। अपना समय भोग–विलास में व्यतीत करता था और 1665 से 1679 ई. तक उसने संकट समय में के विरुद्ध बीजापुर को सहयोग दिया था। 1677 ई. में शिवाजी जब हैदराबाद जा रहे थे तब उसने उनका भव्य स्वागत किया था तथा अपने राज्य की सुरक्षा के लिए उन्हें एक लाख हूण देने का वादा भी किया था। इतना ही नहीं मादन्ना और अकन्ना नामक ब्राह्मण भाइयों को अबुलहसन ने अपना मंत्री बनाया था। इन्हीं कारणों से औरंगजेब तिलमिला उठा और लिखा है कि इस दुष्ट के दुराचरण का वर्णन करना लेखनी की शक्ति से परे है। अतः औरंगजेब ने 1685 ई. में शहजादा शाहआलम को गोलकुंडा पर आक्रमण करने के लिए भेजा। मुगलों ने हैदराबाद पर अधिकार कर लिया और इसे बुरी तरह से लूटा। अबुलहसन से संधि की बात चली और यह निश्चित हुआ कि वह मुगलों को वार्षिक कर के अतिरिक्त एक करोड़ बीस लाख रुपये देगा, मुगलों द्वारा जीत हुए प्रदेश पर मुगल आधिपत्य को स्वीकार करेगा तथा अपने हिन्दू मंत्रियों को उनके पद से हटाकर बदी बना लेगा। औरंगजेब को जब इस प्रस्तावित संधि की जानकारी मिला तो उसने इसे मानने से मना कर दिया। बीजापुर के पतन के पश्चात् उसने स्वयं 1687 ई. में गोलकुंडा के किले को घेर लिया तथा शाहआलम से अत्यधिक असन्तुष्ट हो उसने उसे परिवारसहित बदी बना लिया। सुरंग खोदने और आक्रमण असफल रहे। औरंगजेब ने कूटनीति से काम लिया और अब्दुल्ला पानी ने किले के फाटक खोल दिए। खफीखाँ के अनुसार अब्दुर्रज्जाक ने इस सूचना को सुना और बिना जीण के घोड़े पर उछलकर चढ़ गया। एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में ढाल लेकर अपने 10–12 साथियों के साथ नगर के मुख्य द्वार की ओर तूफान की तरह दौड़ा। औरंगजेब उसकी वीरता से काफी प्रभावित हुआ और कहा कि, 'यदि अबुलहसन के साथ अब्दुर्रज्जाक जैसा एक व्यक्ति और होता तो वह आसानी से किले पर अधिकार नहीं कर सकता था।' अबुलहसन को 50 हजार वार्षिक पेंशन दी गई। गोलकुंडा को मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया।

मराठों के साथ संघर्ष

बीजापुर एवं गोलकुंडा पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् औरंगजेब का ध्यान मराठों की ओर आकर्षित हुआ। शाहजी इस समय आदिलशाह का जागीरदार था और पूना जिला उसकी जागीर में था। उसने तोरण जीत लिया, तथा राजगढ़ नामक दुर्ग का निर्माण करवाया, फिर बीजापुर राज्य के अन्य स्थान जीते, इस कारण शाहजी को नज़र कैद होना पड़ा और बाद में मुक्त भी हो गए। 1665 ई. तक शिवाजी शांत रहे, किन्तु अगले ही वर्ष जावली पर अधिकार करते ही उनकी शक्ति बहुत बढ़ गई। शिवाजी ने मुगल साम्राज्य पर भी छापा मारना तथा उसे लूटना शुरू कर दिया। क्रुद्ध औरंगजेब ने शिवाजी को गिरफ्तार करने के लिए अपने मामा शाइस्ताखाँ को दक्षिण की ओर भेजा। शाइस्ताखाँ ने निर्दयतापूर्वक युद्ध जारी रखा। खाफीखाँ के अनुसार पूना और शिवपुर – दोनों स्थानों को शाही सेना ने जीत लिया। इसके बाद चाकन का महत्त्वपूर्ण किला जीता गया। 5 अप्रैल, 1663 ई. को शिवाजी ने पूना में शाइस्ताखाँ के डेरों पर छापा मारा। सरकार लिखते हैं कि 'इस अवसर पर शिवाजी ने मुगलों पर गजब की चोट की। मुगल सरदार उनकी शक्ति से त्रस्त हो गया। बीजापुर में भी अफजलखाँ पर उन्होंने एकाएक हमला करके दक्षिण के सूबेदार को उसकी डेरा के बीचों–बीच, उसके शयनागार में, जहाँ वह अंगरक्षकों और दासियों से घिरा हुआ था, घायल कर डाला।'

अब औरंगजेब के क्रोध का ठिकाना न रहा। उसने दूसरी सेना राजा जसवंतसिंह के नेतृत्व में शिवाजी के विरुद्ध भेजी परंतु इस सेना को विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी। 1665 ई. में शिवाजी ने सूरत को लूटा। औरंगजेब ने राजा जयसिंह एवं दिलेरखाँ को शिवाजी के विरुद्ध भेजा। इन सेनानायकों ने मराठों के अनेक किले छिन लिए। अतः मजबूर होकर पुरंदर की संधि करनी पड़ी और जयसिंह के आश्वासन पर शिवाजी मुगल दरबार में उपस्थित हुए, जहाँ अपमान के पश्चात् उन्हें नजरबंद कर दिया गया। परन्तु शीघ्र ही शिवाजी चतुराई से वहाँ से निकल गए। दक्षिण के कई स्थानों पर अपना अधिकार जमा लिया तथा पुनः लूट-मार आरंभ कर दी। विवश हो औरंगजेब ने 1666 ई. में संधि कर ली और उन्हें स्वतंत्र राजा मान लिया। कुछ समय के लिए तो शांति रही किन्तु औरंगजेब के दुष्प्रयत्नों के फलस्वरूप भंग हो गई। 3 अक्टूबर, 1670 ई. को शिवाजी ने सूरत को दूसरी बार लूटा। सर यदुनाथ सरकार के अनुसार, 'इस लूट से सूरत का व्यापार चौपट हो गया। अब लोगों को पश्चिमी हिन्दुस्तान के इस सबसे बड़े बंदरगाह में माल भेजने से डर लगने लगा।' शाही किलों पर अधिकार कर लिया गया। अब संपूर्ण महाराष्ट्र उनके अधीन था। 1680 ई. में शिवाजी का देहांत हो गया।

शिवाजी के बाद उनका पुत्र शंभाजी गद्दी पर बैठा। वह पिता की भांति वीर होते हुए भी विलासी था। खाफीखाँ लिखता है कि शिवाजी मर गया तो उसका भाग्यहीन लड़का बाप से भी बढ़कर निकलना चाहता था। औरंगजेब का विद्रोही पुत्र अकबर भी उसकी शरण में आ गया था और औरंगजेब के विरुद्ध एक संघ तैयार हो रहा था। अतः इस संघ को भंग करने तथा दक्षिण को अलग करने के लिए वह 1682 ई. में ससैन्य दक्षिण की ओर चल पड़ा और फिर अपने जीवन के शेष 25 वर्ष अहमदनगर में व्यतीत करने पड़े। उसके पुत्र आजम और मुअज्जम ने शंभाजी के राज्य पर आक्रमण कर दिया परंतु उन्हें असफलता मिली। शहजादा अकबर भी परेशान होकर ईरान भाग गया। जब औरंगजेब को बीजापुर तथा गोलकुंडा से फुरसत मिली तो उसने

पर फिर आक्रमण कर दिया और उनके अनेक किलों पर अधिकार कर लिया। औरंगजेब ने अनेक प्रकार से शंभाजी को यातनाएँ दी और उनका अपमान किया गया तथा शरीर के टुकड़े–टुकड़े कर दिए गए।

शंभाजी की दुखद मृत्यु के पश्चात मराठों ने शिवाजी के दूसरे पुत्र राजाराम को अपना छत्रपति बनाया और उसके नेतृत्व में युद्ध जारी रखा। औरंगजेब ने एक सेना राजाराम को कैद करने तथा रायगढ़ पर अधिकार करने के लिए भेजी। जिसने रायगढ़ पर अधिकार करके शंभाजी के कुटुंब के साथ–साथ उसके छोटे पुत्र शाहू को भी पकड़ लिया। परन्तु राजाराम तरकीब से निकल भागा और कर्नाटक में जिंजी के किले में शरण ली। औरंगजेब की कठिनाइयाँ दिन–प्रतिदिन बढ़ने लगी। अब उसे प्रत्येक मराठा सरदार से युद्ध करना पड़ा।

1690 ई. के बाद मराठा फिर विजयी होने लगे। मराठा बराबर मुगल शक्ति का सामना करते रहे। और उन्होंने मुगलों के सम्मान को बहुत अधिक धक्का पहुँचाया। मुगलों को केवल एक ही सफलता प्राप्त हो सकी। राजाराम सतारा भाग गया। वहाँ मुगलों का सामना करने के लिए एक नवीन सेना का संगठन किया गया। परंतु दुर्भाग्यवश 1700 ई. में राजाराम का देहांत हो गया और उसके मंत्री ने औरंगजेब से संधि कर ली। सतारा मुगलों के हाथों में सौंप दिया गया। 1704 ई. तक मुगलों ने तोरण, पाली, खेलना, कोंडाना और रायगढ़ को भी जीतकर अपने राज्य में मिला लिया।

खाफीखाँ लिखता है कि, 'राजाराम की पत्नी ताराबाई ने अपने तीन वर्षीय पुत्र शिवाजी द्वितीय को उसके पिता की गद्दी पर बिठाकर शसन–सूत्र अपने हाथ में ले लिया।' शाही इलाकों पर धावा करने के लिए उसने खूब तैयारी की। दक्षिण के छः सूबों को लूटने के लिए उसने सेनाएँ भेजी। इससे बादशाह को बड़ी निराशा हुई। 1703 ई. में मराठों ने बरार में प्रवेश किया तथा 1706 ई. में गुजरात पर आक्रमण किया और बड़ौदा को चारों ओर से घेर लिया। अहमदनगर में भी अब मराठे सरदार खूब लूट–मार करने लगे। इस प्रकार जब मुगल शक्ति दिन–प्रतिदिन क्षीण हो रही थी, ये मराठे स्वतंत्र थे और औरंगजेब की मृत्यु से सात वर्ष बाद पेशवाओं के नेतृत्व में मराठों का और भी उत्कर्ष हुआ और इस बार उनकी एक दृढ़ नींव स्थापित हुई। अतः औरंगजेब अपना पूरा जोर लगाने पर भी मराठा शक्ति को कुचल न पाया।

यों औरंगजेब की दक्षिण–नीति उसके लिए प्राणघातक सिद्ध हुई। बीजापुर व गोलकुंडा की विजय और शंभाजी की मृत्यु के पश्चात् ऐसा लगने लगा कि औरंगजेब ने दक्षिण में अपना उद्देश्य प्राप्त कर लिया है, परंतु वास्तव में देखा जाए तो वह सब–कुछ खो बैठा। सरकारी कोष खाली हो गया था। स्मिथ ने ठीक ही लिखा कि, 'दक्षिण औरंगजेब की प्रतिष्ठा और उसके शरीर के लिए कब्र बन गया।' डॉ. गुप्ता एवं डॉ. पेमाराम ने लिखा है कि 'इस प्रकार मराठों के विरुद्ध औरंगजेब पूर्णतः असफल रहा। यह उसकी दक्षिण–नीति की असफलता थी।' औरंगजेब ने बाद में यह महसूस किया कि बीजापुर और गोलकुंडा को जीतना ठीक नहीं था, क्योंकि दक्षिण में बीजापुर, गोलकुंडा और मराठों के बीच शक्तिसंतुलन था। और बीजापुर और गोलकुंडा मराठों पर अंकुश लगाए हुए थे। यह संतुलन बीजापुर और गोलकुंडा के पतन से बिगड़ गया। मराठे अब हवा की तरह दक्षिण में चारों ओर फैल गए और बादशाह उन पर नियंत्रण न रख सका। औरंगजेब ने मराठों को कुचलने में अपना सब–कुछ लुटा दिया, फिर भी वह मराठों के आतंक से मुक्त न हो सका। बाद में मराठों के हौसले इतने बुलंद हो गए कि उन्होंने एक शक्ति के रूप में संगठित होकर सम्राट् और उसके साम्राज्य – दोनों को ही क्षत–विक्षत कर दिया। दक्षिण के दीर्घकालीन युद्धों के कारण शाही सरदार थक गए थे और भयभीत होकर उनमें से अनेक सरदारों ने मराठों के साथ गुप्त समझौते कर लिए थे और लूट के माल का आपस में बँटवारा करते थे। सम्राट् के 27 वर्ष के दक्षिण–युद्ध में डॉ. यदुनाथ सरदार के अनुसार लगभग एक लाख व्यक्ति प्रतिवर्ष मारे गए और लगभग तीन लाख घोड़े, ऊंट, खच्चर आदि नष्ट हुए। साम्राज्य की आर्थिक दशा बिलकुल खराब हो गई और शाही सरदारों का नैतिक पतन हो गया। बादशाह के लंबे समय तक उत्तर भारत से अनुपस्थित रहने से उत्तर भारत में भी अव्यवस्था फैल गई और केन्द्रीय सत्ता का ह्रास हो गया। दक्षिण भारत में तो ऐसी अराजकता फैली कि उसमें जनता को घोर कष्ट हुआ तथा बादशाह का दक्षिण भारत पर स्थायी अधिकार स्थापित करने का सपना चकनाचूर हो गया। मराठों के हौसले इतने बुलंद हो गए कि बादशाह को दक्षिण मिलना तो दूर रहा, बाद में उत्तर भारत का राज्य भी धीरे–धीरे उसके उत्तराधिकारियों के हाथों से निकल गया। औरंगजेब की दक्षिण–नीति स्वयं के लिए भी हानिकारक सिद्ध हुई, क्योंकि बादशाह ने जो प्रतिष्ठा उत्तर भारत में प्राप्त की थी, वह मराठों के सामने धूल में मिल गई। दक्षिण मुगल साम्राज्य के लिए नासूर सिद्ध हुआ। इसलिए इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार का ठीक ही कहना है कि, 'मुगल शासन का वास्तव में नाश हो चुका था, परंतु सम्राट की उपस्थिति के कारण भ्रमात्मक ढंग से प्रशासन की गाड़ी खिंच रही थी।'

अध्याय-4

मुगलों की उत्तर-पश्चिमी एवं मध्य एशिया की नीति

भारत की भौगोलिक स्थिति बाहरी आक्रमणों के खतरे की दृष्टि से पूर्णतः सुरक्षित नहीं थी। सौभाग्य से अधिकांश दिशाएं - उत्तर-पूर्व, दक्षिण एवं दक्षिण–पश्चिम, इसके लिए एक प्राकृतिक सुरक्षा कवच प्रदान करनेवाली थी। उत्तर में स्थित हिमालय की ऊँची चोटियाँ, उत्तर–पूर्व के घने जंगल, दक्षिण–पश्चिम एवं दक्षिण के लहलहाते समुद्र इस देश की प्राकृतिक सीमा सुरक्षा कवच थे लेकिन उत्तर–पश्चिम की दिशा भारत के लिए कम कृपालु थी। प्रकृति ने यहाँ के पहाड़ों का कद छोटा करने के साथ–साथ कई छोटे मार्ग छोड़ दिए थे जिनको दर्रे कहा जाता है। इस असुरक्षित दिशा में खैबर, गोमाल, बोलन, कुर्रम एवं तोची जैसे पहाड़ी मार्ग(दर्रे) थे जो किसी भी महत्वाकांक्षी आक्रमणकारी के लिए सुगम मार्ग थे। भारतीय इतिहास के हर काल के शासकों के लिए इन मार्गों की मजबूत सुरक्षा व्यवस्था करना उनकी नीति का एक महत्वपूर्ण अंग होता था।

इन मार्गों की सुरक्षा नीति के लिए शासकों के पास दो उपाय थे : प्रथम, इन पहाड़ी मार्गों के आस–पास के क्षेत्रों में सामरिक महत्त्व के सुदृढ़ किलों का निर्माण करवाकर पर्याप्त मात्रा में सैन्य बल रख कर बाहरी आक्रमणकारियों को भारत में प्रवेश करने से रोकना एवं द्वितीय, इन दर्रों एवं पहाड़ों के दूसरी ओर के महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों पर भारत का आधिपत्य स्थापित करना। भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित सुलेमान एवं किरथार के पहाड़ों के पार काबुल एवं कन्धार के क्षेत्र थे। काबुल पर भारत का कब्जा भारत की आन्तरिक सुरक्षा के लिए आवश्यक था। इसी प्रकार काबुल की सुरक्षा के लिए उत्तर में बदख्शाँ और बल्ख से ऑक्सस नदी तक एवं दक्षिण में बह रही हेलमंद नदी तक का क्षेत्र भारत के अधीन हो।

उत्तर–पश्चिम की ओर से मंगोल आक्रमणों ने दिल्ली सल्तनत को हिला कर रख दिया था। दिल्ली के सुल्तानों में इल्तुतमिश, बल्बन अलाउद्दीन खिलजी एवं मुहम्मद तुगलक की नींद हराम कर दी थी लेकिन सीमा की सुरक्षा के लिए सीमा पर किले बनवाने के अतिरिक्त ये कुछ भी नहीं कर पाए। इन आक्रमणों ने तो एक बार से अधिक तो इनके आस्तेत्व को ही खतरे में डाल दिया था।

भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना से उत्तर–पश्चिमी सीमा पार क्षेत्रों से सम्बन्धित मुगल नीति में एक नया आयाम जुड गया। बाबर द्वारा अफगानिस्तान से आकर भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने के पश्चात् एक बात उसने हमेशा याद रखी कि ये क्षेत्र फिर से उसके साम्राज्य के लिए भविष्य में भी खतरा बन सकते हैं। इसलिए बाबर चाहता था कि उसके नव–स्थापित साम्राज्य की सुरक्षा के लिए अफगानिस्तान पर उसका आधिपत्य आवश्यक है। उसकी यह इच्छा तो उसने पूरी कर ली। प्रोफेसर सतीश चन्द्र लिखते हैं कि भारत में स्थित साम्राज्य में अफगानिस्तान का विलय एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रगति थी। इसी प्रकार प्रोफेसर राम प्रसाद त्रिपाठी लिखते हैं कि "जब बाबर ने भारत के साथ अफगानिस्तान को जोड़ दिया और आगरा को अपनी बादशाहत की राजधानी बनाया तो पश्चिमोत्तर सीमान्त की सुरक्षा सम्बन्धित नीति को नवीन रूप मिला।"

प्रोफेसर सतीशचन्द्र ने अपने एक कथन के द्वारा एक तथ्य की ओर भी संकेत किया है। वे लिखते हैं कि यद्यपि अफगानिस्तान का अति प्राचीन समय से भारत का अभिन्न अंग माना जाता रहा है एवं यहाँ तक कि मध्यकालीन समय में इसे कभी–कभी लघु भारत कह कर पुकारा जाता रहा है। राजनीतिक दृष्टि से कुषाण साम्राज्य के पतन के पश्चात् यह भारत का अंग नहीं रहा था। इसके पश्चात् महमूद गजनी द्वारा हिन्दू शाही साम्राज्य के पतन के पश्चात् तो भारत से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। लेकिन एक बात निश्चित है कि भारत पर आक्रमण करने के लिए अफगानिस्तान हमेशा आधार रहा था। अफगानिस्तान एवं भारत में प्रवेश के दो द्वारों – काबुल एवं कन्धार, पर नियंत्रण के द्वारा बाबर एवं उसके उत्तराधिकारियों ने अगले दो सौ वर्षों तक भारत को 'विदेशी' आक्रमणों से सुरक्षा प्रदान कर दी थी। प्रो0 त्रिपाठी भी इस मत से सहमत हैं।

इस प्रान्त के नियंत्रण के द्वारा बाबर एवं उसके उत्तराधिकारियों ने मध्य एशिया की राजनीति में भारत को एक खिलाड़ी बना दिया। तूरान, ईरान, ऑटोमन टर्की एवं अन्य स्थानों के शक्तिशाली शासकों ने भारत के साथ नजदीकी सम्बन्ध बनाए रखे कई बार पर इससे सहायता भी प्राप्त की। प्रो0 सतीश चन्द्र लिखते हैं कि बाबर एवं बाद के शासकों ने मध्य एवं पश्चिमी एशिया की राजनीतिक प्रगति पर सम्बन्धों के द्वारा सदैव नजर रखी। वे लिखते हैं कि बाबर के आगमन के साथ ही भारत की विदेश नीति एवं राजनीतिक दृष्टिकोण में एक नए दौर की शुरुआत होती है। बाबर ने न केवल हिन्दूकुश पर्वत के पार बदख्शाँ एवं बल्ख के

ऑक्सस नदी तक मुगल प्रभाव को कायम रखने की पुरजोर कोशिश की। 1528 ई0 में उजबेक शासक उबैदुल्लाह के जाम में शाह तहमस्प के हाथों पराजित होने पर बाबर ने हुमायूँ को ईरान की सहायता से समरकन्द जीतने के लिए आदेश दिया। लेकिन सहायता न मिलने के कारण यह अभियान त्यागना पड़ा। प्रो0 रामप्रसाद त्रिपाठी के अनुसार मध्य एशिया की पुनर्विजय में विफलता का दोषी हुमायूँ को माना गया।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर उत्तर–पश्चिमी सीमा से सम्बन्धित मुगल शासकों की नीति के केन्द्रीय तत्व निम्न थे : प्रथम, काबुल एवं कन्धार पर नियंत्रण; द्वितीय, हिन्दूकुश पर्वत के पार बल्ख एवं बदख्शाँ पर आधिपत्य रखना जो काबुल एवं कन्धार की सुरक्षा के लिए आवश्यक था एवं उजबेकों पर भी नियंत्रण रखने के लिए आवश्यक था; तृतीय, कन्धार से ईरान को दूर रखना एवं चतुर्थ, उत्तर–पश्चिमी सीमा पर निवास करनेवाले कबीलों – यूसुफजई, खटक एवं अफरीदी पर नियंत्रण रखना आवश्यक था क्योंकि ये काबुल एवं भारत के बीच संचार मार्ग को प्रभावित करते रहते थे।

इन राजनीतिक महत्व के अतिरिक्त काबुल एवं कन्धार का भारत के लिए आर्थिक महत्त्व था। प्रो0 त्रिपाठी ने अपने एक कथन द्वारा महत्वपूर्ण संकेत दिया है। अफगानिस्तान के भारत में विलय से इसकी सीमाएँ तो अधिक सुरक्षित हो गईं लेकिन "भारतीय व्यापार एवं संस्कृति" पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। इसी बिन्दु को प्रो0 सतीश चन्द्र ने प्रभावी ढंग से रेखांकित किया है। काबुल एवं कन्धार पर नियंत्रण से भारत के विदेशी व्यापार को काफी बल मिला। बाबर ने स्वयं अपनी आत्मकथा बाबरनामा में लिखा है कि "हिन्दुस्तान एवं खुरासान के मध्य सड़क मार्ग पर दो व्यापारिक बाजार हैं।" काशगर से काबुल को कारवाँ आते थे जो चीन, ट्रॉस–ऑक्सियाना एवं तुर्किस्तान आदि का व्यापारिक बाजार था। इसी प्रकार ईरान एवं पश्चिमी एशिया अथवा खुरासान के लिए कन्धार व्यापार का केन्द्र था। इस प्रकार प्रो. सतीशचन्द्र की राय में काबुल एवं कन्धार के भारत में विलय से एशियन व्यापार में भारत की भागीदारी बढ़ गई। एस0के0 श्रीवास्तव के अनुसार इन दो महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्गों पर काफी देशों के व्यापारियों का मिलन होता था। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक था कि व्यापारियों की जान और माल सुरक्षित रहे और ऐसा तभी हो सकता था जब सीमा सुरक्षित हो। श्रीवास्तव ने आर्थिक हितों को मुगलों की सीमा सुरक्षा नीति से जोड़ा है।

उत्तर–पश्चिमी एवं मध्य एशिया की नीति में एकरूपता दृष्टिगोचर नहीं होती। बाबर से लेकर औरंगजेब तक के लम्बे समय में काफी उतार–चढ़ाव आए। सब शासकों के नजरिए में अन्तर थे। इन क्षेत्रों के प्रति नीति के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे :–

प्रथम, बाबर की नीति में राजनीति की तुलना में भावनात्मक पक्ष अधिक प्रबल था। उसके मन में अपने पैतृक राज्य के छिन जाने की टीस थी। हालाँकि वह एक नए साम्राज्य की स्थापना कर चुका था एवं इसके लिए वह स्वयं को गौरवान्वित भी समझ रहा था लेकिन वतन की मिट्टी की सौंधी खुशबू, बचपन एवं जवानी की बिताई यादें एवं इन सबके ऊपर अपने पूर्वजों से विरासत में मिली राजगद्दी उसकी खुशियों को कम करनेवाले थे। इसलिए बाबर की टीस का एकमात्र उपचार अपने पैतृक राज्य को पुनः प्राप्त करना ही था। इसी सन्दर्भ में प्रोफेसर राम प्रसाद त्रिपाठी का कथन सत्यता के अधिक समीप प्रतीत होता है, "बाबर यथाशक्ति अपना पैतृक राज्य जीतने के पक्ष में रहा। वह अपने स्वप्निल समरकन्द पर पुनः अधिकार करने के अवसर की चिन्ता में रहा और उजबेकों के भाग्य का उतार–चढ़ाव देखता रहा।" इस आधार पर कहा जा सकता है कि बाबर का उद्देश्य भावनात्मक अधिक था लेकिन भविष्य में इसी मार्ग से होनेवाले आक्रमणों से उत्तर–पश्चिमी सीमा की सुरक्षा भी उसके लिए उतना ही महत्वपूर्ण था।

द्वितीय, बाद के मुगल शासकों की नीति इन क्षेत्रों में मुगल साम्राज्य की सीमा के फैलाव से जुड़ी थी। उन्होंने भावनात्मक पक्ष का बिल्कुल त्याग कर दिया था। बाबर के स्वयं के पुत्र हुमायूँ की मध्य एशिया की राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं थी। उसकी इस भावना से बाबर स्वयं भी परिचित था। इस तथ्य की ओर प्रो0 त्रिपाठी ने अपने ग्रन्थ में संकेत किया है।

तृतीय, मुगल शासक अपने साम्राज्य की प्रतिष्ठा के प्रति विशेषतः सजग थे। वे सदैव समकालीन साम्राज्यों की तुलना में अपने को सर्वोच्च सिद्ध करने के प्रयास में लगे रहते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति में सीमा विस्तार एक महत्वपूर्ण पक्ष था।

चतुर्थ, मुगल शासकों के लिए अपने साम्राज्य की रक्षा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थी। इसलिए इन क्षेत्रों पर मुगल आधिपत्य उनकी रणनीति का अंग था।

पंचम, साम्राज्य विस्तार के लिए लड़ाकू सैनिकों की आवश्यकता होती थी। मुगल बादशाह उत्तर–पश्चिमी क्षेत्रों एवं मध्य एशिया के देशों से सैनिक भर्ती करते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु भी इन क्षेत्रों पर आधिपत्य की नीति अपनाई गई।

अन्त में, आधुनिक इतिहासकारों की शब्दावली में मुगल बादशाह एक "वैज्ञानिक सीमा" का निर्धारण करना चाहते थे जिससे उनका भारतीय साम्राज्य सुरक्षित रहे।

हुमायूँ के समय में उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों एवं मध्य एशिया की स्थिति

काबुल एवं कन्धार के अतिरिक्त बाबर मध्य एशिया के क्षेत्रों में प्रवेश नहीं कर पाया। हुमायूं ने अपने पिता के [illegible] देशों की ओर कोई रुचि नहीं दिखाई। अपने राज्यारोहण से लेकर अपना भारतीय साम्राज्य खोने तक हुमायूँ ने इन [illegible] क्षेत्रों एवं मध्य एशिया के देशों की राजनीति में न तो कोई रुचि ली और न ही भारत की राजनैतिक परिस्थितियों ने इस ओर [illegible] दिया। इन क्षेत्रों में रुचि भारतीय साम्राज्य गँवा चुकने के पश्चात् जुलाई, 1544 ई0 में ईरान के शाह तहमास्प [illegible] मुलाकात के पश्चात् उत्पन्न होती है।

काबुल विजय :- ईरान के शाह की सहायता से हुमायूँ ने 1545 ई0 में काबुल एवं कन्धार विजय की योजना बनाई [illegible] उसने कन्धार पर आक्रमण किया जहाँ कामरान के प्रतिनिधि के रूप में अस्करी शासन कर रहा था। अस्करी ने पाँच महीने तक मुकाबला किया एवं अन्त में 3 सितम्बर, 1545 ई0 के दिन उसने आत्मसमर्पण कर दिया।

कन्धार विजय :- कन्धार के पश्चात् हुमायूँ ने काबुल आक्रमण की योजना बनाई। इस पर उसके षड़यत्रकारी भाई कामरान का आधिपत्य था। हुमायूँ ने एक छोटे से सैन्य दल के साथ अभियान आरम्भ किया। इसी बीच कई महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों ने कामरान का साथ छोड़कर हुमायूँ की सहायता की। हिन्दाल मिर्जा भी उससे आकर मिल गया। इससे कामरान की नैतिक शक्ति कमजोर हो गई एवं वह भयभीत होकर एक गढ़ी में छिप गया। स्वयं को असुरक्षित समझ वह वहाँ से गजनी भाग गया, जहाँ के सैनिक अधिकारियों ने वहाँ से भी भगा दिया। इस प्रकार नवम्बर, 1545 ई. में काबुल में प्रवेश किया।

बदख्शाँ विजय :- कन्धार एवं काबुल विजय के पश्चात् हुमायूँ ने बदख्शाँ विजय की योजना बनाई। उसने 1546 ई में काबुल से कूच किया। वहाँ का शासक सुलेमान मिर्जा था जिसने न केवल स्वयं को स्वतंत्र शासक घोषित कर रखा था बल्कि काबुल के कुछ क्षेत्रों पर भी कब्जा करने का प्रयास किया। हुमायूँ के सैनिक अपने पूरे साहस एवं शक्ति से बढ़ रहे थे। बदख्शाँ के युद्ध में उन्होंने अपनी पूरी शक्ति के साथ सुलेमान मिर्जा को बुरी तरह परास्त किया एवं वह खूस्त की ओर भाग गया। इसके पश्चात हुमायूँ ने बदख्शाँ एवं कुन्दुज हिंदाल को सुपुर्द कर दिया।

यह बात प्रो. त्रिपाठी की बिल्कुल सही है कि कठोर अनुभवों ने हुमायूँ को समझदार बना दिया था एवं उसकी प्रकृति में आवश्यक परिवर्तन हो गया था। थोड़े समय पश्चात् मुगल बादशाह ने राजनीतिक आवश्यकता को पहिचानते हुए सुलेमान मिर्जा को उसका राज्य वापिस लौटा दिया। इसके पश्चात् मिर्जा स्वामिभक्त मित्र रहा।

बल्ख पर आधिपत्य करने का असफल प्रयास

बदख्शाँ पर आधिपत्य स्थापित करने के पश्चात् हुमायूँ ने बल्ख विजय की योजना बनाई। उसने अपने सैन्य दल के साथ काबुल से प्रयाण किया। काबुल से उसकी अनुपस्थिति का लाभ उठा कर कामरान ने इस पर अपना कब्जा कर लिया। इस सूचना के मिलने पर हुमायूँ को बल्ख अभियान त्यागना पड़ा एवं वापिस लौटकर काबुल पर पुनः अपना राज्य स्थापित किया

इस पराजय के बाद भी कामरान अपनी हरकतों से बाज नहीं आ रहा था। उसने बल्ख के उजबेक पीर मोहम्मद के साथ साठ-गाठ करके बदख्शां के क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया। इसके बाद उसने उजबेकों की सहायता से कुंदुज में हिंदाल को हराने का प्रयास किया लेकिन वहाँ सफलता नहीं मिली।

बाद में हुमायूँ ने बल्ख पर एक बार पुनः कब्जा करने का प्रयास किया लेकिन सफलता नहीं मिली। 1549 ई0 में पीर मोहम्मद एवं अब्दुल अजीज की संयुक्त सेना को पराजित करने में सफलता मिली। बल्ख पर फिर कामरान की हरकतें आड़े आई। इस बार मुगलों की विपत्ति का लाभ उठाते हुए उजबेकों ने उन पर आक्रमण कर दिया। हुमायूँ एक बार फिर मुश्किल में फंस गया लेकिन अन्त में वह सुरक्षित रूप से काबुल पहुँच गया। इसके पश्चात् हुमायूँ ने फिर से इस ओर कोई प्रयास नहीं किया। इसके स्थान पर उसने भारत विजय की योजना पर ध्यान देना आरम्भ कर दिया।

अकबर की उत्तर-पश्चिमी एवं मध्य एशिया की नीतिः

अकबर ने 1554 ई0 में जब मुगल सत्ता सम्भाली तब वह नाबालिग होने के कारण भारत की राजनीतिक परिस्थितियों से अधिक नहीं जानता था। प्रथम चार वर्ष तक बैरमखाँ ने शासन की बागडोर सम्भाल रखी थी। इस दौरान उसने [illegible] की विरोधी शक्तियों को शान्त किया एवं मुगल साम्राज्य का विस्तार किया। इस दौरान ही उत्तर पश्चिमी सीमा [illegible] उत्पन्न हो गई लेकिन अकबर के प्रशासन के लिए इसकी तुलना में भीतरी समस्याएँ अधिक महत्त्वपूर्ण थीं।

ईरान एवं मध्य एशिया के शासकों ने इस काल में अपनी स्थिति मजबूत कर ली थी। ईरान ने 1558 ई0 में कन्धार पर अपना कब्जा कर लिया था। इसी दौरान अकबर का सौतेला भाई हकीम मिर्जा भी काबुल में कठिनाईयाँ खड़ी कर रहा था। बैरमखाँ के पतन के पश्चात् से ही वहाँ के उजबेक अकबर के विरुद्ध षडयंत्र कर रहे थे जिसका नेतृत्व स्वयं हकीम मिर्जा कर रहा था। अकबर से असन्तुष्ट कुछ अमीरों का भी उसको समर्थन था। वे अकबर के स्थान पर हकीम को मुगल सिंहासन पर बैठाने का स्वप्न देख रहे थे। इन्हीं तत्त्वों की सीख पर उसने 1566--67 ई0 में पंजाब पर आक्रमण करके लूटपाट करना प्रारम्भ कर दिया परन्तु अकबर के आने की सूचना पाकर काबुल की ओर भाग गया। इसके पश्चात् चौदह साल की चुप्पी के बाद 1581 ई0 में पुनः पंजाब पर आक्रमण कर दिया। इस बार फिर उसे मुँह की खानी पड़ी। इस समय जब उसने आक्रमण किया तब बंगाल एवं बिहार में भी विद्रोह हो रहे थे। यहाँ के विद्रोहियों ने हकीम मिर्जा के नाम का खुतबा भी पढ़ दिया था।

हकीम मिर्जा के इस बार के आक्रमण को यूँ ही छोड़ नहीं दिया बल्कि उसने राजा मानसिंह के नेतृत्व में एक विशाल सेना भेजी। इस सेना ने काबुल पहुँचकर वहाँ मुगल सत्ता स्थापित कर ली एवं अकबर ने काबुल अपनी बहिन बख्तउन्निसा को दे दिया। वहाँ के सभी विद्रोहियों का दमन कर दिया गया एवं उनके नेता मंसूर की हत्या करवा दी गई। हकीम मिर्जा स्वयं डर कर भाग गया। लेकिन कुछ समय पश्चात् वह फिर लौट आया और काबुल में सही तरीके से शासन करता रहा। 1585 ई0 में उसकी मृत्यु के पश्चात् ही अकबर को उस मुसीबत से राहत मिली। इसके बाद काबुल को सीधे मुगल प्रशासन के अधीन कर लिया गया एवं राजा मानसिंह को वहाँ का गवर्नर बना दिया।

उजबेकों के प्रति नीति

तैमूरियों को परजित करके अब्दुल्ला उजबेक ने 1584 ई0 में बदख्शाँ पर कब्जा कर लिया। इसके पश्चात् उजबेकों ने बल्ख पर कब्जा करके काबुल के क्षेत्रों में लूटपाट शुरू कर दी। इससे घबरा कर हकीम मिर्जा एवं बदख्शाँ के शासक सुलेमान मिर्जा ने अकबर से सहायता की अपील की। अकबर के कुछ करने से पूर्व ही हकीम मिर्जा इस संसार को छोड़ गया।

इस संकट के समय अब अकबर इस समस्या को टाल नहीं सकता था। 1585 ई0 में मानसिंह को काबुल का गवर्नर नियुक्त करने के साथ ही उसने उत्तर–पश्चिम एवं मध्य एशिया की तरफ ध्यान देना आवश्यक समझा। काबुल पर मुगल आधिपत्य के साथ ही मुगल साम्राज्य की सीमाएँ अब्दुल्ला उजबेक की सीमाओं से लग गई। अकबर के लिए अब मध्य एशिया में सैनिक अभियान करना आसान हो गया।

काबुल पर जब मानसिंह ने कब्जा कर लिया तब अकबर स्वयं सिन्धु नदी तक बढ़ आया था एवं अटक के पास ही अपना डेरा डाला था। इससे घबराकर अब्दुल्ला उजबेक ने अकबर के पास अपने दूत भेजे एवं शान्ति की इच्छा प्रकट की। आक्रमण से अधिक अब्दुल्ला को अकबर एवं ईरान के मध्य किसी प्रकार के समझौते का भय था। इसके अलावा वह खुरासान पर भी अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहता था जो अकबर की सहायता के बिना सम्भव नहीं था।

इस सम्बन्ध में अब्दुल्ला खाँ दोहरी नीति अपना रहा था। एक तरफ तो अकबर से समझौता कर रहा था दूसरी तरफ अफगान कबीलों को मुगलों के विरुद्ध भड़का रहा था ताकि अकबर ट्रॉंस–ऑक्सियाना पर आक्रमण न कर सके। दूसरी तरफ यूसुफजाइयों को भी अब्दुल्ला खाँ भड़का रहा था एवं उन्हें आर्थिक मदद कर रहा था। इनको दबाने के लिए अकबर ने कई सैनिक अभियान भेजे जिनमें उसका सर्वाधिक नजदीकी बीरबल मारा गया था। इसके पश्चात् राजा टोडरमल एवं राजा मानसिंह को यूसुफजाइयों के विद्रोह को दबाने हेतु भेजा। उन दोनों ने कत्लेआम करके उनको बुरी तरह से कुचल दिया।

लेकिन इसी समय जलाल खाँ के नेतृत्व में रोशनियों ने विद्रोह कर दिया। उनका भी वही हश्र हुआ। जलाल खाँ की हरकतें 1600 ई0 तक जारी रहीं।

कश्मीर विजय :-1586 ई0 में अकबर ने कश्मीर विजय करने का निर्णय किया। वहाँ के शासक याकूब खाँ ने आत्मसमर्पण तो कर दिया था लेकिन व्यक्तिगतरूप से स्वयं आकर स्वामिभक्ति प्रदर्शित नहीं कर रहा था। इस प्रदेश पर पहले राजा भगवतदास के नेतृत्व में आक्रमण किया गया लेकिन बाद में कासिम खाँ ने यहाँ मुगल सत्ता कायम की एवं काश्मीर को मुगल साम्राज्य का अग बना लिया।

इसी क्रम में 1591 ई0 में सिन्ध के निचले एवं ऊपरी, दोनों भागों पर मुगलों ने कब्जा कर लिया। निचले सिन्ध पर विजय ने कन्धार से मुल्तान के मध्य एवं सिन्ध से समुद्र तक के व्यापारिक मार्ग को खोल दिया।

इसके पश्चात् मुगल सेनापति मीर मासूम ने पन्नी अफगानों को 1595 ई0 में परास्त कर सीनी का किला एवं मकरान सहित बलूचिस्तान को मुगल साम्राज्य का अंग बना दिया।

इसी क्रम में कन्धार पर भी मुगल आधिपत्य हो गया। वहाँ के ईरानी गवर्नर मुजफ्फर हुसैन मिर्जा ने किला मुगलों को सौंप दिया। प्रो0 सतीशचन्द्र के अनुसार इन विजयों ने मुगलों को वैज्ञानिक एवं अधिक सुरक्षित सीमा प्रदान की।

जहाँगीर की नीति

जहाँगीर सौभाग्यशाली था कि उसे विरासत में एक विशाल साम्राज्य मिला था जिसमें काबुल एवं कन्धार सम्मिलित थे। इसके अतिरिक्त अकबर ने सीबी एवं मकरान सहित सारे बलूचिस्तान को भी मुगल साम्राज्य में मिला लिया था। सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि उस समय की उजबेकों एवं रोशनियों का दमन था। जहाँगीर के लिए यह सब बातें राजनीतिक राहत पहुँचानेवाली थी।

लेकिन अकबर की मृत्यु के समय से ईरान ने समस्या खड़ी करना शुरू कर दिया था। ईरान के शाह की नजर कन्धार पर थी। अकबर की मौत के बाद कन्धार पर एक साल तक घेरा डाले रखा लेकिन मुगलों के सैन्य दल के आ जाने से ईरानियों को अपना इरादा त्यागना पड़ा। लेकिन इससे ईरान के शाह अब्बास का कन्धार पर कब्जा करने का इरादा साफ तौर से उजागर हो गया। अभी अपनी दाल गलती न देख वह जहाँगीर से मित्रता कायम रखने के लिए उत्सुक था। इसलिए वह बहुमूल्य भेंट एवं दूत भेजता रहा। जवाब में जहाँगीर ने भी एक चगताई मुगल अमीर खान आलम को शाह के दरबार में दूत बना कर भेजा। दूतों का यह सिलसिला चलता रहा। इस बीच शाह ने कई पत्र भी लिखे।

दोनों शासकों ने इन प्रयासों के द्वारा मित्रता प्रदर्शित की जिसका प्रभाव वाणिज्य एवं व्यापार के विकास पर भी पड़ा। इसके कारण से बड़ी संख्या में हिन्दुस्तान के व्यापारी ईरान की राजधानी में जाकर व्यापार करने लगे। प्रो0 सतीश चन्द्र के अनुसार शाह द्वारा मित्रता के प्रयासों को बहाना बताना न्यायसंगत नहीं है।

1620 ई0 में ईरान के शाह के प्रतिनिधि ने प्रथम बार जहाँगीर के सम्मुख कन्धार का प्रश्न रखा जिसकी ओर मुगल बादशाह ने ध्यान ही नहीं दिया। इस प्रकार बाद में भी राजदूत इस प्रश्न को उठाते रहे। जहाँगीर को उम्मीद भी नहीं थी कि ईरान कभी भी कन्धार पर आक्रमण कर सकता है। उसकी इस उम्मीद को 1621 ई0 को ईरान ने झटका दे दिया। इस वर्ष कन्धार पर घेरा डाल दिया गया एवं 1622 ई0 में इस पर आधिपत्य कर लिया गया। हालाँकि ईरान के शाह ने इस पर सफाई देनी चाही जिसे ऊपरी मन से जहाँगीर ने मान भी लिया। मुगल बादशाह बाद में इस पर पुनः आधिपत्य भी करना चाहता था लेकिन खुर्रम के विद्रोह के कारण इसे त्यागना पड़ा।

मध्य एशिया की नीति

अकबर के समय अब्दुल्ला खाँ उजबेक ने मध्य एशिया में काफी उत्पात मचा रखा था एवं मुगलों के लिए अफगानिस्तान में कई कठिनाइयाँ खड़ी की थीं। 1598 ई0 में अब्दुल्ला खाँ की मौत से मध्य एशिया की राजनीति में दूरगामी परिवर्तन हो गए। आन्तरिक कलह एवं झगड़ों में साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। इसलिए मुगलों को अब उनसे कोई खतरा नहीं रहा। लम्बे संघर्ष के पश्चात इमाम कुली बल्ख एवं बुखारा के शासक के रूप में उभरा। लेकिन उसने छोटे भाई नजर मोहम्मद को बल्ख दे दिया।

इस दौर में जहाँगीर आन्तरिक मामलात में व्यस्त होने के कारण से मध्य एशिया की ओर ध्यान नहीं दे पाया। इसलिए उजबेक एवं मुगलों के मध्य 1621 ई0 तक कोई सम्बन्ध नहीं रहा। राजनीतिक आवश्यकता ने इमाम कुली को जहाँगीर की याद दिलाई। उसे अपने पड़ोसी ईरान से भय था इसलिए 1621 ई0 में ही उसने जहाँगीर से सम्बन्ध स्थापित किए। ऐसी ही आवश्यकता मुगल बादशाह की थी। उसे भी ईरान से कन्धार को कब्जा लेने का खतरा था। इन परिस्थितियों के वशीभूत होकर दोनों ने राजदूतों के आदान–प्रदान का सिलसिला प्रारम्भ किया।

नजर मोहम्मद ने अपने भाई की नीति के विरुद्ध जहाँगीर के विरुद्ध शत्रुता की नीति अपनाई। उसके सैनिक कनाक्षर ने बल्ख पर आक्रमण किया लेकिन शक्तिशाली मुगल सेना के हाथों पराजय का मुँह देखना पड़ा। इसके पश्चात उसने [illegible] में अफगानिस्तान के उत्तर–पश्चिम के हजारा एवं अफगानों को भड़काने का प्रयास किया। इन प्रयासों के असफल होने के पश्चात् होश आया एवं मुगलों की सैन्य शक्ति का पता चला।

इन परिस्थितियों में नजर मोहम्मद एवं उसके भाई ईमाम कुली ने जहाँगीर से दोस्ती कायम करने की नीति अपनाई। [illegible] हाथ से कन्धार निकल जाने के कारण से अनुकूल परिस्थिति का लाभ उठाते हुए नजर मोहम्मद ने ईरानियों के विरुद्ध [illegible]

को सहायता का प्रस्ताव भेजा। लेकिन जहाँगीर ने इस प्रस्ताव को गम्भीरता से नहीं लिया। इसी बीच जहाँगीर की मृत्यु से योजना अधूरी ही रह गई।

उत्तर–पश्चिम में जहाँगीर को रोशनिया कबीलाई लोगों की शत्रुता का सामना करना पड़ा। जलाल रोशनिया के पश्चात् अहदाद रोशनिया ने मुगलों के खिलाफ जंग जारी रखी। कई मुगल सैनिक अभियान भेजे गए लेकिन कोई विशेष सफलता नहीं मिली लेकिन रोशनिया नेता की 1626 ई० में मृत्यु के साथ यह लड़ाई खत्म हुई।

नजर मोहम्मद ने 1628 ई० में काबुल पर तीसरी बार आक्रमण करके यह साबित कर दिया कि वह एक अविश्वसनीय व्यक्ति है। उसने ऐसे समय आक्रमण किया जब जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार के झगड़ों से मुगल साम्राज्य में अस्थिरता थी। इस आक्रमण से यह बात भी सिद्ध हो गई कि जहाँगीर के साथ दोस्ती का हाथ बढ़ाना मात्र एक धोखा था। इस बात से जहाँगीर परिचित था इसीलिए उसने उस समय उसके प्रस्ताव को गम्भीरता से नहीं लिया था।

शाहजहाँ की नीति

उत्तराधिकार में विजय के पश्चात् मुगल साम्राज्य की बागडोर शाहजहाँ ने सम्भाली। जैसे ही उसे नजर मोहम्मद के आक्रमण की सूचना मिली उसने तत्काल लश्कर खाँ को काबुल अभियान पर रवाना कर दिया। इसके पश्चात् एक विशाल सेना को महावत खाँ के नेतृत्व में भेजा। मुगल सेनाओं के पहुँचने की खबर से भयभीत होकर वह काबुल से भाग गया। मुगलों ने बामियान पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

अब शाहजहाँ ने दोहरी नीति अपनाई। एक तरफ नजर मोहम्मद के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण व्यवहार जारी रखा तो दूसरी तरफ उसने इमाम कुली की तरफ दोस्ती का हाथ बढ़ाकर उसको अलग–थलग करने का प्रयास किया। मुगल बादशाह ने 1628 ई० में दो राजदूत इमाम कुली के पास भेजे एवं मित्रता को मजबूत एवं स्थाई बनाने पर जोर दिया।

मुगल बादशाह की इस नीति से नजर मोहम्मद के होश उड़ गए। यही नहीं इमाम कुली से मित्रता कायम होने के तुरन्त पश्चात् ही शाहजहाँ ने उसके विरुद्ध एक सेना भेजी। इस सेना को सहायता प्रदान करने के लिए बादशाह स्वयं 1629 ई० में काबुल पहुँच गया। मुगल बादशाह द्वारा उसके मसले को ली गई गम्भीरता से नजर मोहम्मद भयभीत हो गया। उसने शाहजहाँ के पास एक राजदूत भेजा एवं पिछली गलतियों के लिए माफी माँगी। 1633 ई० में भेजे गए राजदूत के माध्यम से उसने शाहजहाँ के राज्यारोहण की बधाई दी। दोनों बादशाहों के मध्य राजदूतों का आदान प्रदान अगले छह सालों तक जारी रहा। इन मित्रतापूर्ण सम्बन्धों को बनाए रखने में नजर मोहम्मद का हित यह था कि वह ईरान के विरुद्ध मुगल सहायता चाहता था। शाहजहाँ का हित कन्धार में था इसलिए वह ईरान एवं बल्ख में मित्रता नहीं होने देना चाहता था। मुगल बादशाह को उजबेकों पर भरोसा नहीं था इसलिए वह ईरान से अपनी मित्रता तोड़ना नहीं चाहता था। प्रो० सतीश चन्द्र के अनुसार अन्त में कन्धार के मामले में मुगल बादशाह को सफलता मिली। उसने मुर्शिद कुली खाँ का विश्वास प्राप्त करके कन्धार प्राप्त किया।

एक सफलता का दूसरी अनुसरण करती है। ठीक इसी प्रकार कन्धार पर सफलता से शाहजहाँ का मन प्रसन्न हो गया। इसी से प्रोत्साहित होकर उसने मध्य एशिया में अपने पाँव फैलाने की योजना बनाई। समय ने भी उसकी योजना के अनुसार करवट ली। वहाँ की परिस्थितियों में तेजी से बदलाव आया। 1639 ई० में इमाम कुली के अन्धा होने की खबर आई। नजर मोहम्मद के लिए यह एक अच्छी खबर थी। उसने सारे उजबेक राज्य पर अधिकार करने के एक अच्छे अवसर के रूप में इसे देखा। परिस्थिति का लाभ उठाते हुए उसने तत्काल इमाम कुली पर आक्रमण कर दिया। इमाम का पराजित होना जरूरी था और हुआ भी वैसा ही। पराजय के पश्चात् उसने भागकर ईरान में शरण ली और वहीं से वह मक्का चला गया। इस प्रकार पूरे उजबेक साम्राज्य पर नजर मोहम्मद का एकछत्र राज हो गया।

इसके बाद की बदली परिस्थितियों का प्रो० सतीशचन्द्र ने वर्णन किया है। वे लिखते हैं कि "उसने विस्तारवादी नीति अपनाई एवं ख्वारिज्म को जीतने का प्रयास किया। वह जब ख्वारिज्म अभियान में व्यस्त था उस समय ताशकंद में एक विद्रोह भड़क उठा। उसके पुत्र अब्दुल अजीज को विद्रोहियों का मुकाबला करने के लिए भेजा गया लेकिन वह उनके साथ मिल गया एवं बुखारा का स्वयं को शासक घोषित कर दिया। इस खबर से नजर मोहम्मद को सदमा लगना स्वाभाविक था। बदली स्थिति को भाँपकर वह बल्ख लौट आया लेकिन उसके पुत्र अब्दुल अजीज ने वहाँ भी उसे खतरे में डाल दिया।

1645 ई0 में इस मुसीबत के समय नजर मोहम्मद ने शाहजहाँ से मदद की अपील की। मुगल बादशाह ने इसे स्वीकार कर लिया। शाहजहाँ ने पूरी तैयारी के साथ जून 1646 ई0 में शहजादे मुराद को एक विशाल सेना के साथ भेजा। उसने सबसे पहले कुन्दुज पर विजय प्राप्त की एवं उसके पश्चात् जुलाई के प्रारम्भ में वह बल्ख में प्रवेश कर गया। जबकि शाहजहाँ ने मुराद को नजर मोहम्मद की सलाह से अभियान करने को कहा था। मुराद ने उसके विपरीत बल्ख पर मुगल आधिपत्य स्थापित कर लिया जिससे घबराकर नजर मोहम्मद वहाँ से भाग गया।

बल्ख में मुराद को स्थानीय लोगों के गुस्से का सामना करना पड़ा। इसके अतिरिक्त उसे यहाँ का मौसम भी रास नहीं आ रहा था। इसलिए थोड़े समय पश्चात् ही बादशाह से अनुनय–विनय करके वापिस भारत लौट आया। उसके बाद सादुल्ला खाँ को वहाँ के हालात पर नियंत्रण करने के लिए भेजा गया लेकिन सफलता उसके हाथ भी नहीं लगी। अन्त में औरंगजेब को भेजा गया। उसने अपनी सैनिक प्रतिभा एवं रणनीति से उजबेक सेनाओं को बुरी तरह परास्त करके मई 1647 ई0 में बल्ख पर मुगलों का आधिपत्य स्थापित कर लिया।

राजनीतिक रूप से शाहजहाँ के लिए यह एक बड़ी सफलता थी लेकिन स्थानीय जनसमुदाय के प्रतिरोध एवं घुमक्कड़ उजबेकों का मुकाबला कर पाना मुगलों के लिए अत्यन्त कठिन था। इस परिस्थिति में शाहजहाँ ने अपनी पुरानी नीति पर लौटने का निर्णय कर लिया। इसके अनुसार मुगल बादशाह बल्ख में एक मित्र शासक चाहता था जो मुगलों के लिए मुश्किले खड़ा न करे। दूसरी तरफ बुखारा से अब्दुल अजीज एवं ईरान से नजर मोहम्मद की ओर से मित्रता के सन्देश आ रहे थे। वे मुगल बादशाह से अपना राज्य लौटाने की अपील कर रहे थे। प्रो0 सतीशचन्द्र के अनुसार काफी सोच विचार के बाद शाहजहाँ ने नजर मोहम्मद की बात मानने का निर्णय ले लिया। लेकिन इससे पूर्व उसको औरंगजेब से माफी माँगने के लिए कहा गया जिसके लिए वह तैयार नहीं हुआ। अन्त में सर्दियों के आने के भय से मुगल सेना ने 3 अक्टूबर, 1647 ई0 को बल्ख छोड़ दिया।

इस क्षेत्र में भारतीय सेना की यह प्रथम विजय थी इसलिए शाहजहाँ के लिए यह सर्वाधिक खुशी की बात थी। इस अभियान में सफलता तो अवश्य मिली लेकिन किसी भी क्षेत्र पर वास्तव में मुगल साम्राज्य का कब्जा नहीं हुआ।

बल्ख विजय को बिना किसी भी समझौते के छोड़ना घातक साबित हुआ। इससे काबुल एवं गजनी क्षेत्र में उजबेकों की शत्रुता बढ़ गई। इसी से प्रोत्साहित होकर 1649 ई0 में ईरान ने कन्धार पर कब्जा कर लिया। इससे भी मुगल साम्राज्य की प्रतिष्ठा को धक्का लगा। शाहजहाँ ने कन्धार को प्राप्त करने के लिए औरंगजेब एवं एक दाराशिकोह के नेतृत्व में दो सैनिक अभियान भेजे लेकिन किसी में भी सफलता हाथ नहीं लगी।

दूसरी तरफ रोशनियों ने भी मुगलों को परेशान करना शुरू कर दिया। अन्त में शाहजहाँ ने सैनिक अभियानों की जगह कूटनीति का सहारा लेकर रोशनियों के नेता अब्दुल कादिर एवं खुशाल खाँ खटर को मुगल साम्राज्य का सेवक बना लिया। इस प्रकार इस अशान्ति को समाप्त किया गया।

औरंगजेब की मध्य एशिया एवं ईरान नीति

शाहजहाँ के जीवनकाल में ही उत्तराधिकार के संघर्ष में औरंगजेब की सफलता से उसे जुलाई 1658 ई0 में मुगल राजगद्दी मिली। उसके राज्यारोहण तक 1650 ई0 में नजर मोहम्मद की मौत के कारण मध्य एशिया में काफी परिवर्तन हो गया था। बुखारा अब्दुल अजीज एवं बल्ख सुभान अली के अधिकार में थे। औरंगजेब ने शहजादे के रूप में मध्य एशिया पर किए गए आक्रमण से स्वयं सीख लिया था कि इन क्षेत्रों पर आधिपत्य करने का प्रयास निरर्थक है। इसमें धन एवं सैन्य हानि के कुछ हाथ लगनेवाला नहीं है। इसलिए उसने इन देशों के साथ राजदूतों के आदान–प्रदान तक ही सम्बन्धों को सीमित रखने का निर्णय लिया।

उसकी इस नीति का फल 1661 ई0 से ही सामने आने लगा जब बुखारा के शासक ने मुगल दरबार में राजदूत भेजा। इसके उत्तर में औरंगजेब ने भी मुस्तफा खाँ को बुखारा के दरबार में भेजा। इसी प्रकार का मार्ग बल्ख के शासक ने भी अपनाया। इन कूटनीतिक सम्बन्धों के कारण मध्य एशिया एवं मुगल साम्राज्य के मध्य मधुर राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित हो गए। इन सम्बन्धों को बनाए रखने में औरंगजेब का एक उद्देश्य था। वह चाहता था कि बुखारा का शासक ईरान के विरुद्ध मुगल साम्राज्य की मदद करे क्योंकि वहाँ का शाह भारत के दक्षिणी राज्यों की मदद के द्वारा भारत की राजनीति में दखल दे रहा था। दूसरा उद्देश्य मुगल बादशाह का कन्धार पर आधिपत्य का भी था। प्रो0 सतीशचन्द्र की राय इस मामले में भिन्न है। वे लिखते हैं कि औरंगजेब ने अपने राज्यारोहण के समय ही कन्धार विजय का विचार त्याग दिया था। कुल मिलाकर औरंगजेब के समय मध्य एशिया के साथ सम्बन्ध सामान्य रहे उसमें किसी प्रकार की कटुता नहीं आई।

उत्तर-पश्चिम नीतिः

औरंगजेब के समय उत्तर–पश्चिम क्षेत्रों की स्थिति असामान्य रही। इन क्षेत्रों में रहनेवाले यूसुफजई, अफ्रीदी, खटक, दंदजी एवं तिराही आदि कबीलों ने व्यापक तौर पर विद्रोह करके मुगल बादशाह के लिए असंख्य कठिनाईयाँ पैदा कर दीं। कई सैनिक अभियान भेजे गए लेकिन फिर भी सफलता हाथ नहीं लगी। इन परिस्थितियों में मुगल बादशाह ने दोहरी नीति अपनाई : प्रथम, प्रलोभन देकर मुगल सेवा की तरफ आकर्षित करना एवं द्वितीय, सैनिक शक्ति के प्रदर्शन के द्वारा। सैनिक शक्ति का प्रयोग उसी हालत में किया जब बात प्रलोभनों से बनती नहीं दिखाई देती थी।

इन कबीलों द्वारा किए जा रहे विद्रोहों में यूसुफजई कबीले का विद्रोह मुख्य था। इसका नेता भागू था जिसने 1667 ई0 में विद्रोह का बिगुल बजा दिया। भागू ने मुगल क्षेत्रों पर आक्रमण करके अनेक मुगल चौकियों पर कब्जा कर लिया। इसको दबाने के लिए तीन विशाल सेनाएँ भेजी। काफी प्रयास के बाद उनका बुरी तरह दमन कर दिया गया।

यूसुफजईयों की समस्या से निपटने के साथ ही 1672 ई0 एक दूसरे अफ्रीदी कबीले ने अकमल खाँ के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। इनका क्षेत्र जलालाबाद था। उसके विरुद्ध भेजा गया अभियान भी असफल रहा। इसी दौरान एक अन्य खटक कबीले ने विद्रोह करके स्थिति को और अधिक विकट बना दिया। इनको दबाने हेतु तीन महाबली सेनानायक महाबत खाँ, शुजात खाँ एवं जसवन्त सिंह भेजे गए लेकिन किसी को भी सफलता हाथ नहीं लगी।

इन असफलताओं ने औरंगजेब स्वयं को मैदान में उतार दिया। 1674 ई0 में वह हसन अब्दल नामक स्थान पर पहुँच गया। जहाँ पहली बार उसने दोहरी नीति के हथियार को काम में लिया। उसने कई कबीलों को प्रलोभन देकर, जागीरें एवं मुगल सेना में भर्ती करके अपनी ओर मिला लिया जो नहीं माने उन्हें मुगल बादशाह के क्रोध का शिकार होना पड़ा। घोराई एवं सिरानी कबीलों का दमन कर दिया गया। कुछ कबीले हार गए लेकिन पूर्णतः दबाया नहीं जा सका। काबुल के सूबेदार अमीर खाँ ने कबीलों को आपस में लड़ाकर भी मुगल साम्राज्य का हित किया।

इन विद्रोहों को दबाने में समय एवं धन दोनों बर्बाद हुए जिसका प्रभाव मुगल राजनीति पर अत्यन्त गहरा पड़ा। लम्बे समय तक उत्तर भारत से औरंगजेब की अनुपस्थिति ने दूसरी शक्तियों को सिर उठाने का अवसर प्रदान किया।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बाबर के पश्चात् उत्तर–पश्चिम एवं मध्य एशिया की मुगल शासकों की नीति में काफी परिवर्तन हुए। कभी यह नीति रक्षात्मक रही तो कभी आक्रामक। औरंगजेब एक ऐसा मुगल शासक था जिसने मध्य एशिया में आक्रामक नीति का त्याग करके एवं कूटनीति की राजनीति अपनाई थी। इससे पूर्व अकबर से शाहजहाँ तक सभी बादशाह मध्य एशिया में आक्रामक नीति का पालन करते रहे। उत्तर–पश्चिम के क्षेत्रों के बारे में भी इसी से मिलती–जुलती नीति रही लेकिन उजबेकों को दबाने में बहुत बड़ी सफलता मिली।

इकाई-II

अध्याय-5

अकबर एवं जहाँगीर के अधीन शाही सत्ताधिकार

साम्राज्य स्थापना में प्रशिक्षित सैनिक बल, युद्ध कौशल में प्रवीणता, एडवांस युद्ध टेकनोलोजी एवं कुशल नेतृत्व का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, लेकिन इस नवस्थापित साम्राज्य के प्रशासन को सुव्यवस्थित तरीके से चलाना एक चुनौतीपूर्ण कार्य होता है। इसके लिए सुविचारित नीति एवं योजना की आवश्यकता होती है। इस प्रकार की साम्राज्य या शाही नीति का केन्द्रीय बिन्दु होता है शाही अधिकार या प्रभुत्व की स्थापना करना। जब तक शाही प्राधिकार का प्रभुत्व सिद्धान्त एव व्यवहार में स्पष्टतः झलकता नहीं है तब तक साम्राज्य का कोई भी अंग सक्रिय नहीं होता। ऐसी स्थिति में साम्राज्य कमजोर हो जाता है एवं शीघ्र ही खण्डित होकर बिखर जाता है। इसलिए उसे लम्बा जीवन प्रदान करने के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है शाही प्राधिकार/सत्ताधिकार के गठन की सुविचारित एवं व्यवस्थित नीति।

1526 ई0 का वर्ष भारत के इतिहास में एक विशेष महत्त्व रखता है जब यहाँ एक नवीन राजवश की सत्ता स्थापित हुई। इस नवीन राजवंश ने लगभग अगली तीन सदियों तक न केवल भारत पर शासन किया बल्कि यहाँ के जीवन के हर पक्ष को गहराई से प्रभावित किया। इससे भी बड़ी विशेषता यह कि यह राजवंश एवं इसके द्वारा स्थापित सत्ता भारत के चप्पे–चप्पे में घुलमिल गई इस देश ने इसे आत्मसात कर लिया। ऐसे राजवंश का संस्थापक मध्य एशिया से आया बाबर था। उसका जीवनकाल अत्यन्त छोटा था। 1530 ई0 में उसने इस संसार से विदा ले ली। उसकी सबसे बड़ी कमजोरी यह रही कि समय की कमी के कारण वह प्रशासन को गठित नहीं कर पाया लेकिन उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि वह अपने साथ प्रभुसत्ता का तुर्क–मंगोल सिद्धान्त लेकर आया। उसने पादशाह की पदवी धारण की जो अन्तिम मुगल शासक तक के नाम की शोभा बढ़ाती रही। इस पदवी के द्वारा उसने शाही पद को गौरवपूर्ण एवं गरिमामय बना दिया।

1530 ई0 बाबर की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ या बड़ा पुत्र राजसिंहासन पर बैठा जिससे दो बातें निश्चित हो गई प्रथम आनुवंशिकता अर्थात् गद्दी पर पैतृक अधिकार एवं द्वितीय, ज्येष्ठाधिकार अर्थात् पिता की मृत्यु पश्चात् राजगद्दी पर बड़े या ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार। लेकिन एक कमजोरी प्रारम्भ में ही उभरी जिसका सामना हुमायूँ को करना पड़ा एवं जो उसको मृत्यु तक बनी रही वह थी उसके भाइयों की साम्राज्य में हिस्सेदारी। बाबर ने अपनी मृत्यु से पूर्व हुमायूँ को साम्राज्य के विभाजन की सलाह दी थी जो उसके लिए मुसीबत बनी रही। इसका सीधा प्रभाव उसकी स्थिति पर पड़ा। जब इसके स्वय के भाइयों ने उसके अधिकार या प्रभुत्व को मान्यता नहीं दी तो इसका प्रभाव साम्राज्य के दूसरे वर्ग पर भी पड़ना स्वाभाविक था। अमीर की स्वामिभक्ति भी विभाजित थी। सब अपनी सुविधानुसार अलग–अलग भाइयों का समर्थन करते थे। उनकी साम्राज्य या बादशाह के लिए कोई भक्ति नहीं थी। उनके दिमाग में शाही प्राधिकार के लिए कोई भय नहीं था।

हुमायूँ के बादशाहत के लिए जो विचार थे वह शाही सत्ता के लिए लाभदायक थे। उसकी मान्यता थी कि बादशाह खुदा का परछाई होता है। उसने शाही प्रभुसत्ता को ईश्वरीय या दैवी अधिकार माना एवं वह साम्राज्य को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति मानता था। वह यह भी मानता था कि इस सम्पत्ति को उसे किसी को भी देने का अधिकार था। इस विचार से निश्चित ही शाही सत्ता पर बादशाह के अधिकार का संकेत मिलता है क्योंकि इसके कारण से एक निर्भर एवं आश्रित वर्ग का पता चलता है। इस वर्ग का सारा अस्तित्व बादशाह की इच्छा पर निर्भर होता था जो शाही प्राधिकरण या प्रभुत्व के गठन में सहायक था।

हुमायूँ के शासनकाल की सबसे बड़ी कमजोरी यही रही कि वह अधिकांशतः सैनिक अभियाना में ही व्यस्त रहा एव अन्त में शरशाह के हाथों पराजित होकर ईरान में निर्वासित जीवन गुजारा। इसके बाद अपने खोए हुए साम्राज्य को पुनः प्राप्त किया लेकिन दुर्भाग्य से लम्बे समय तक जीवित नहीं रह सका। इस कारण वह साम्राज्य को सुगठित नहीं कर पाया। इसलिए उसका शाही सत्ता पर पूर्ण अंकुश नहीं हो पाया और न वह अपना सत्ताधिकार ही प्रभावी तरीके से स्थापित कर पाया। हालाँकि मुगल सत्ता की पुनः स्थापना के पश्चात् उसने अपने भाइयों के प्रति सख्त रवैया अपनाकर बादशाह की शक्ति का प्रदर्शन करके शाही भय दिखाया।

अमीरों पर भी अंकुश लगाया लेकिन इससे कोई लाभ नहीं हुआ। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हुमायूँ समय की कमी के कारण शाही प्राधिकार क गठन नहीं कर पाया।

अकबर के समय शाही सत्ताधिकार/प्राधिकरण का गठन

मुगल साम्राज्य में शाही सत्ताधिकार की स्थापना का श्रेय अकबर को जाता है। राज्यारोहण के समय उसकी अवयस्कता ने बादशाह के पद की गरिमा को बढ़ाने की जगह घटा दिया था। बैरमखाँ के संरक्षण के दौर में अतालिक ने बादशाह की स्थिति को कम करके आँका। उसके दौर में वही सर्वशक्तिमान व्यक्ति था एवं साम्राज्य की सारी शक्तियाँ उसके हाथों में केन्द्रित थीं। वह सत्ता के इतने अधिक नशे में था कि वह अपने सामने किसी को कुछ समझता ही नहीं था। यहाँ तक कि बादशाह अकबर की भी अवहेलना कर देता था जो युवा बादशाह के लिए असहनीय था। अन्त में 1560 ई0 में अतालिक का जुआ उतार फेंका एवं बैरमखाँ को हज के लिए मक्का भेज दिया, जहाँ रास्ते में भारत में ही उसकी मौत हो गई। इस प्रकार एक ही झटके में बैरमखाँ जैसे प्रभावशाली व्यक्ति को दूध में से मक्खी को तरह निकाल कर फेंक देने का वांछित प्रभाव हुआ। अपने इस कार्य के द्वारा उसने शाही सत्ताधिकार को बलपूर्वक स्थापित कर दिया। इसके माध्यम से उसने अन्य लोगों को यह संकेत दे दिया कि शाही शक्ति के सम्मुख किसी की भी कोई औकात नहीं है एवं वह अधिकार सिर्फ बादशाह के हाथों में केन्द्रित है।

सम्प्रभुता के बारे में उसके सिद्धान्त अत्यन्त स्पष्ट थे। वह इस पर किसी का कोई नियन्त्रण नहीं मानता था। वह उसे निरंकुश मानता था। उसकी स्पष्ट मान्यता थी कि बादशाह के पास असीमित चमत्कारी शक्तियाँ होती हैं जिसको चुनौती नहीं दी जा सकती। बादशाह की स्थिति के बारे में उसकी धारणा थी कि वह केन्द्रीकृत राज्य की धुरी होता है जिसके बिना साम्राज्य का संचालन नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त शाही सत्ता पर उसका एकाधिकार है जिसमें कोई भी भागीदारी का दावा नहीं कर सकता। प्रशासन का सम्पूर्ण तन्त्र एवं उसके सारे विभागों पर उसका पूर्ण अधिकार है। वही उनका सर्वेसर्वा है। अकबर की यही विचारधारा शाही सत्ताधिकार या प्राधिकार के गठन के लिए सैद्धान्तिक आधार रही।

साम्राज्य में शाही सत्ताधिकार के गठन के लिए आवश्यक था कि एक सरकारी मशीनरी खड़ी की जाए जो बादशाह के नाम पर बड़े से बड़े स्थान से लेकर छोटी से छोटी जगह पर उसकी सत्ता स्थापित कर सके। उसके आदेशों की पालना करवा सके। अकबर ने साम्राज्य को सुगठित करने के लिए एक केन्द्रीयकृत ढाँचा खड़ा किया। प्रशासन को संचालित करने के लिए अधिकारी नियुक्त किए जो शाही सत्ताधिकार को स्थिरता प्रदान करने के लिए बादशाह के आदेशों को लागू करते थे। मनसबदारी एवं जागीरदारी व्यवस्थाओं को जन्म दिया एवं उन्हें विकसित किया। जहाँगीर ने उनमें आवश्यक सुधार करके उन्हें जारी रखा।

अमीर वर्ग का गठन :

मुगलकाल में एक ऐसे शासक वर्ग की आवश्यकता थी जो शासन चलाने में बादशाह की सहायता कर सके। इसलिए मुगल बादशाह ने सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र से विभिन्न समूहों एवं वर्गों के लोगों में से चुनकर उन्हें राज्य सेवा में भरती किया। मुगलकाल में इस वर्ग के लिए सामान्यतः उमरा शब्द का प्रयोग होता था जो अमीर का बहुवचन था। इस वर्ग में सामान्यतः एक हजार या उससे अधिक मनसब धारण करनेवाले सभी बड़े अधिकारी सम्मिलित होते थे। सामान्यतः एक हजार जात का मनसब साधारण मनसबदार एवं अमीर वर्ग के मध्य अन्तर निश्चित करनेवाली रेखा था। वैसे कभी–कभी अपवाद के तौर पर इससे कम मनसब धारण करनेवाले को भी अमीर वर्ग में सम्मिलित कर लिया जाता था। सामान्यतः वे बादशाह के अधीन अधिकारी होते थे जिनकी दरबार के अन्य अधिकारियों के मध्य एक अच्छी स्थिति होती थी।

सैद्धान्तिक रूप में मुगल अमीर वर्ग सम्राट की ही रचना थी। केवल उसको ही मनसब प्रदान करने, उसमें उन्नति करने या अवनति करने या उसको जब्त करने का एकाधिकार प्राप्त था। परन्तु यह धारणा कि मुगल अमीर वर्ग में कोई व्यक्ति योग्यता के किसी निर्धारित मापदण्ड की पूर्ति करके और सम्राट को सन्तुष्ट करके सम्मिलित हो सकता था, भ्रामक है। मनसबदार केवल जनसेवक ही न थे वरन् साम्राज्य के सम्पन्नतम एवं कुलीन वर्ग के सदस्य होते थे तथा इस विशिष्ट वर्ग में साधारण व्यक्ति, चाहे वह कितना भी योग्य क्यों न हो, सामान्य रूप से प्रवेश पाने का अधिकारी न था।

इस अमीर वर्ग में खानाजाद, तूरानी, ईरानी, अफगान, शेखजादे (भारतीय मुसलमान) तथा राजपूत इत्यादि सम्मिलित थे। राजपूतों को मनसब प्रदान करके शासक वर्ग में सम्मिलित करना अकबर की खोज थी। उसने राजपूत जमींदारों एवं स्थानीय राजाओं को

बड़े–बड़े मनसब देकर मुगल सेवा में भर्ती कर लिया। इसके बदले उनके पैतृक अधिकार वाले क्षेत्र/वतन के अतिरिक्त उनको साधारण जागीरें भी प्रदान की। सर्वोच्च मनसब के अतिरिक्त उनको महत्त्वपूर्ण सूबों का सूबेदार नियुक्ति किया। इन नियुक्तियों के द्वारा बादशाह ने उनके क्षेत्रों को भी अप्रत्यक्ष रूप से मुगल साम्राज्य का अंग बना लिया।

अकबर ने अमीर वर्ग का गठन किया था लेकिन साथ ही उन्हें यह जतला दिया कि उनकी स्थिति एक अधीनस्थ सेवक की है। उन पर अंकुश लगाने के लिए यह परमावश्यक था। उसके समय में शाही निरंकुशता उच्च शिखर पर थी। इसके लिए अमीरों की शक्तियों में कटौती करना आवश्यक था ताकि वे शाही तख्त के प्रति आज्ञाकारी रहें। इसके अतिरिक्त वे शाही सत्ताधिकार को लागू करने के भरोसेमन्द साधन साबित हो सकें।

जहाँगीर के शासनकाल में कुछ अमीर वर्गों ने अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व प्राप्त कर लिया। कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि नूरजहाँ ने अपने पिता एतमादउद्दौला और भाई आसफ खाँ के साथ खुर्रम (शाहजहाँ) की मिलीभगत से एक ऐसा गुट बना लिया था जिसके पंजे में जहाँगीर इतना अधिक फँस गया था कि सारे मामलों का निपटारा खुद नूरजहाँ ही करने लगी थी। इससे राज–दरबार दो भागों में बँट गया। ये थे नूरजहाँ का गुट और विरोधी गुट। प्रो0 सतीशचन्द्र ने इस मत का खण्डन किया है। उन्होंने जहाँगीर की आत्म–कथा तुजुए–ए–जहाँगीरी का हवाला दिया है जिसमें बताया गया है कि जहाँगीर 1622 ई0 तक अर्थात् उसके शारीरिक दृष्टि से टूट जाने तक, सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय खुद ही लिया करता था। प्रो0 सतीशचन्द्र के अनुसार जहाँगीर एक गुट विशेष या नूरजहाँ पर आश्रित नहीं था। यह बात इस तथ्य से साबित होती है कि जो अमीर उस गुट के पक्ष में नहीं थे, उन्हें बराबर सामान्य रूप से ही उच्च स्थितियाँ और पदोन्नतियाँ प्राप्त होती रहीं। जो भी हो, यह तो सच है कि जहाँगीर के शासनकाल में प्रतिद्वंदी अमीर दलों के झगड़े प्रकाश में आए।

कभी–कभी मुगल सम्राट की परम सत्ता को किसी महत्त्वाकांक्षी शाहजादे से चुनौती भी मिली जो कुछ प्रभावशाली अमीरों से मिलकर विद्रोह के स्तर पर उतर आया। खुसरो और खुर्रम दोनों ने ही जहाँगीर के विरुद्ध विद्रोह किया। जहाँगीर इनके विद्रोह का दबाने में सफल हुआ। शाहजहाँ की बगावत में उसके ससुर आसफ खाँ और कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण दरबारी अमीरों ने साथ दिया। आसफ खाँ, जिसे जहाँगीर ने अपने दरबार में "वकील" मुकर्रर किया था, जहाँगीर की मौत के बाद मुगल तख्त पर शाहजहाँ की गद्दीनशीनी के लिए मैदान साफ करनेवालों में खासतौर पर जिम्मेदार था।

मुगल बादशाहों के अमीरों की मनसबदारों या जागीरदारों के रूप में नियुक्ति के समय उनको अनुशासित करने के लिए कई नियम बना दिए थे जिनको सेवा नियम कह कर सम्बोधित किया जा सकता है। बादशाह ने सभी नियुक्ति पानेवालों को यह स्पष्ट कर दिया था कि वे राज्य के अधीनस्थ सेवक हैं एवं बादशाह के प्रति उनकी स्वामिभक्ति पहली शर्त है। इसके अतिरिक्त नियमित सेवा करना उनका कर्तव्य है।, उनकी कार्य–दक्षता, कुशलता एवं योग्यता ही उनकी पदोन्नति की शर्त है। बादशाह ने इनकी दक्षता एवं ईमानदारी की जाँच के लिए कई नियम बना रखे थे जिनकी पालना करना उनके लिए आवश्यक था। उनके द्वारा रखे जानेवाले घोड़ों एवं सैनिकों की नियमित जाँच होती थी। उन्हें अपने घोड़ों को नियमित रूप से दगवाने हेतु सरकारी विभाग में प्रस्तुत करना होता था। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा रखे जानेवाले सैनिकों को भी हाजिर करना होता था जिनके चेहरे का पूरा वर्णन रखा जाता था। इसके अतिरिक्त जैसा कि प्रो0 अतहर अली लिखते हैं कि बादशाह के व्यक्तिगत नियन्त्रण में लगभग एक समानान्तर प्रशासन की व्यवस्था थी जिसके माध्यम से वह जागीरदारों की सत्ता पर सीधे ही नियन्त्रण रखता था। परगना स्तर पर इस व्यवस्था के अन्तर्गत वे राजस्व अधिकारी होते थे जिन्हें कानूनगो और चौधरी कहते थे। इनके साथ–साथ एक फौजदार होता था जो कानून और व्यवस्था को लागू करता था। एक "काजी" भी होता था जो न्यायिक मामले देखता था। बादशाह की नाफरमानी करना उसकी सन्तुष्टि के अनुसार कर्तव्य–निर्वाह न करना या अपेक्षित संख्या में फौज का रख–रखाव न करना अपराध माना जाता था। इसके लिए अक्सर कड़ी से कड़ी सजा दी जाती थी। जिन अन्य मामलों में अमीरों को नुकसान उठाना पड़ सकता था, वे हैं उनको दिए गए अधिकारों का उल्लंघन करना, शत्रु से किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करना, विद्रोहियों या कायरतापूर्ण कार्य करने वालों के प्रति सहानुभूति जताना। अत्याचारियों और कुप्रबन्धकों को भी कड़ी सजा भुगतनी पड़ती थी।

अमीर वर्ग पर नियन्त्रण और सन्तुलन रखनेवाले इन उपायों को अकबर और जहाँगीर के शासनकाल में कड़ाई से लागू किया जाता रहा। शाहजहाँ के काल में भी ये एक तर्क संगत सीमा तक लागू होते रहे। ऐसा लगता है कि औरंगजेब ने भी मनसबदारी प्रथा से सम्बन्धित नियमों में या कि अमीरों के वेतनमान सम्बन्धी कानूनों में किसी तरह के उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किए। इसलिए यह मानने का कोई औचित्य नहीं जान पड़ता कि दकन की ओर प्रयाण से पहले अमीर वर्ग पर नियन्त्रण रखनेवाली औरंगजेब की सत्ता में किसी प्रकार की कमी आई।

इस प्रकार अकबर एवं जहाँगीर के काल तक अमीर वर्ग शाही सत्ताधिकार की स्थापना का एक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावी माध्यम रहा

जागीरदारी व्यवस्था:

अकबर ने काफी सोच विचार के पश्चात् अमीर वर्ग का गठन किया था जो एक प्रकार का साझा वर्ग था जिसमें सभी धर्मों, जातियों, नस्लों, क्षेत्रों एवं विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। अमीर सामान्यतः दो प्रकार के होते थे एक नकदी एवं दूसरे वे जिनको उनकी तनख्वाह के बदले कोई राजस्व क्षेत्र जागीर में मिलता था। नकदी से तात्पर्य है अमीरों को मुगल राज–कोष से नकद में उनकी तनख्वाह का भुगतान। दूसरे प्रकार के अमीर जागीरदार होते थे जिनको उनकी तनख्वाह का भुगतान नकद में नहीं किया जाता था बल्कि उनकी तनख्वाह के बदले कोई राजस्व–क्षेत्र उनको जागीर में दे दिया जाता था। इन जागीर क्षेत्रों के राजस्व उनकी तनख्वाहों के बराबर होते थे जहाँ से वे लगान वसूल करते थे। वास्तव में जागीरदारों को कोई क्षेत्र जागीर में नहीं दिया जाता था बल्कि उस क्षेत्र का राजस्व उसकी जागीर में दिया जाता था। उनका उन क्षेत्रों पर कोई अधिकार नहीं होता था बल्कि उसके राजस्व पर आधिपत्य होता था। मुगल साम्राज्य के सभी क्षेत्रों की अनुमानित आय निर्धारित कर ली जाती थी जिसको 'जमा' कहा जाता था। इससे होनेवाली आय को हासिल कहा जाता था।

जागीरदारी प्रथा एक महत्वपूर्ण संस्था थी जिसकी स्थापना अकबर ने की थी एवं जहाँगीर ने इसे जारी रखा। धीरे–धीरे यह संस्था मुगल प्रशासन की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग बन गई। इस व्यवस्था को लागू करने का उद्देश्य शाही सेवा में निपुण एवं दक्ष व्यक्तियों की नियुक्ति करना था। इसके साथ ही साथ यह उद्देश्य भी था कि इससे भू–राजस्व प्रशासन का भार भी शाही कन्धों पर कम हो जाएगा।

जागीरदार को किसी क्षेत्र से राजस्व वसूल करने का अधिकार दिया जाता था ताकि वह अपना निजी खर्च एवं बादशाह की सेवा के लिए रखी जानेवाली सैनिक टुकड़ी के सैनिकों का खर्च चला सके। इनका मुख्य कर्तव्य निर्धारित मात्रा में राज्य की सेवा के लिए एक सैन्य–बल रखना होता था। वह अपने क्षेत्र से राजस्व वसूल करता था एवं अपने वेतन के बदले स्वयं रख लेता था।

जागीरदार पूर्णतः बादशाह के अधीन एवं उसकी कृपा के पात्र थे। वे राज्य में शक्ति का केन्द्र होते थे इसलिए उन पर शाही नियन्त्रण अत्यावश्यक था। बादशाह ने उन पर अंकुश बनाए रखने एवं उन्हें अनुशासित रखने हेतु कई नियम बना रखे थे। कई स्तरों पर उन पर शाही कर्मचारियों के माध्यम से निगरानी रखी जाती थी। जागीरों पर नियन्त्रण के लिए पृथक् रूप से एक दीवान नियुक्त किया जाता था। वित्त विभाग जागीरों की आय का आकलन करता था एवं जागीरदारों को राजस्व निर्धारण एवं संग्रह में सरकारी नियमों का पालन करन होता था। इनकी जागीरों पर नियन्त्रण रखने के लिए 'सवानिह निगार' नामक अधिकारी नियुक्त किए जाते थे जो इनकी गतिविधियों के बारे में सम्बन्धित अधिकारी को अपनी रिपोर्ट भेजते थे जो अन्त में बादशाह तक जाती थी। इसके अतिरिक्त फौजदार, अहल–ए–खिदमत एवं काजी आदि शाही सेवक होते थे जो जागीरदारों की गतिविधियों की पूरी निगरानी रखते थे। इस प्रकार जागीरों में भी एक समानान्तर प्रशासनिक अधिकारियों का समूह होता था जो जागीरदारों पर अंकुश रखता था।

सम्पत्ति जब्ती के कानून के द्वारा जागीरदारों पर शिकंजा और मजबूत कर दिया गया था। किसी भी जागीरदार की मृत्यु के पश्चात् उसकी सारी सम्पत्ति जब्त करके राज–कोष में जमा करवा दी जाती थी। उसके बाद सारी सरकारी कटौतियाँ काटकर शेष राशि उसके उत्तराधिकारियों को दे दी जाती थी। प्रो0 सतीशचन्द्र इस प्रश्न को अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि बादशाहों ने अमीरों की सम्पत्ति पर दावा नहीं किया। जब कभी अमीर मर जाता था तो उसकी सम्पत्ति और जायदाद की बड़े ध्यान से सूची बनाई जाती थी क्योंकि आमतौर पर उस अमीर की केन्द्र के प्रति पर्याप्त देनदारी बाकी निकलती थी। इस तरह, मरनेवाले अमीर के वंशजों को उसकी सम्पत्ति सौंपी जाने से पहले उसके बाकियात या ऋणों का समायोजन किया जा सकता था। दूसरे, बादशाह को यह अधिकार था कि वह मरनेवाले अमीर की सम्पत्ति का उसके वारिस बेटों में बँटवारा अपनी मनमर्जी से करे। इस मामले में इस्लामी कानून लागू नहीं होता था। हाँ, यह बात सही है कि इस प्रक्रिया के फलस्वरूप कभी–कभी मृत अमीर के वारिसों में सम्पत्ति के बँटवारे को लेकर बहुत देरी हो जाती थी जिससे कि उन्हें परेशानियों का सामना भी करना पड़ सकता था। इसलिए औरंगजेब ने एक कानून यह बनाया कि देनदारी बाकी न होने की हालत में मरने वाले अमीर की सम्पत्ति कुर्क न की जाए। जो भी हो, कम से कम उसकी सम्पत्ति का कुछ हिस्सा तो उसके आश्रितों को तत्काल मुहैया करवा ही दिया जाए। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि जागीर पर पुश्तैनी हक को अमान्य ठहराकर और मृत अमीर की व्यक्तिगत सम्पत्ति पर सम्पत्ति–जब्ती के कानून को कठोरता से लागू कर मुगल बादशाह अमीर वर्ग पर अपना नियन्त्रण कारगर ढंग से स्थापित कर सके।

जागीरदारों पर एक शाही नियन्त्रण उनका नियमित स्थानान्तरण था। किसी भी जागीरदार के पास तीन या चार साल से अधिक एक स्थान की जागीर नहीं रहती थी। इसका कारण यह था कि कहीं वह स्थानीय स्तर पर कोई गठबन्धन स्थापित न कर सके इन बातों से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि जागीरदार बादशाह के अधीन एक अधीनस्थ सरकारी सेवक था एवं [illegible] पर पूर्णतः निर्भर करता था। इससे शाही सत्ताधिकार या अधिकार स्पष्टतः झलकता है।

मनसबदारी व्यवस्थाः

मनसबदारी व्यवस्था का जन्मदाता मुगल सम्राट अकबर था। मुगल बादशाह ने एक ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था आरम्भ की [illegible] सम्पूर्ण साम्राज्य के प्रशासन को सुचारू रूप से संचालित करने में सक्षम थी। उसने जो यह व्यवस्था चालू की वह मुगल साम्राज्य की सैनिक एवं सिविल सेवाओं की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए थी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यह इन सेवाओं की आधार बनी। अकबर के उत्तराधिकारियों ने राजनीतिक एवं आर्थिक कारणों से उपजी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए इसमें कुछ परिवर्तन किए। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जो प्रशासनिक व्यवस्था अकबर ने आरम्भ की वह कुछ संशोधनों के साथ अपनी मूल विशेषताओं के साथ मुगल साम्राज्य के अन्त तक चलती रही।

मुगल साम्राज्य के निरन्तर होते हुए विस्तार को देखकर अकबर को एक व्यवस्थित प्रशासन की आवश्यकता महसूस हुई। उसने यह अनुभव कर लिया था कि बिना इस प्रकार की व्यवस्था के इतने विशाल साम्राज्य का संचालन एक दुष्कर कार्य होगा। वह उन गलतियों को नहीं दोहराना चाहता था जो मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर एवं उसके स्वयं के पिता हुमायूँ ने की।

अकबर से पूर्व प्रशासनिक शिथिलता का स्वरूप सैनिक संगठन में भी साफतौर पर देखने को मिल रहा था। साम्राज्य की सैनिक आवश्यकता के लिए बादशाह को अमीरों पर निर्भर रहना पड़ता था। इस समय के सैन्य संगठन की सबसे बड़ी कमजोरी थी अमीरों को मिलने वाले वेतन एवं उनके द्वारा वेतन के अनुसार रखे जानेवाले सैनिकों की संख्या में किसी प्रकार का तालमेल का न होना। इसका मुख्य कारण था कि वेतन निर्धारण के नियम का अभाव। यह सब बादशाह की व्यक्तिगत इच्छा पर निर्भर था। यह साम्राज्य के लिए खतरनाक था क्योंकि इससे अमीरों के शक्तिशाली होने का खतरा सदा मंडराता रहता था। इसलिए इस स्थिति को अकबर ने अच्छी तरह से भाँप लिया था एवं इसे शीघ्र से शीघ्र समाप्त करने में जुट गया।

अकबर इस अव्यवस्थित व्यवस्था के स्थान पर नियमों पर आधारित व्यवस्था लागू करना चाहता था। वह चाहता था कि [illegible] प्रशासनिक अधिकारी, अमीर एवं उमरा, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो उसे अपनी स्थिति का अच्छी तरह से ज्ञान होना चाहिए। उसे यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि वह कानून एवं नियम के अधीन है एवं प्रशासन में उसकी स्थिति एक अधीनस्थ सेवक की है। उसे अपने कर्तव्यों एवं दायित्वों का पूरा बोध होना चाहिए। मुगल बादशाह ने प्रशासन में नियुक्ति एवं पदोन्नति के स्पष्ट नियम बनाए जिनका आधार योग्यता था। स्वयं बादशाह की किसी व्यक्ति के प्रति कृपा की पृष्ठभूमि में उसकी योग्यता एवं कार्य–कुशलता ही प्रमुख होती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि अकबर एक ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित करना चाहता था जो पूर्णतः कानून एवं नियमों पर आधारित हो।

इतिहास के सभी कालों में प्रशासन में अधिकारियों एवं सेवकों का स्तर कभी भी एक समान नहीं होता था। कोई बड़ा कोई छोटा नियम तो कोई–कोई छोटे दर्जे का होता था। सभी मिलकर प्रशासन में एक सोपान–तन्त्र का निर्माण करते थे। सभी की नियुक्ति एवं पदोन्नति शासक की व्यक्तिगत इच्छा पर निर्भर करती थी। लेकिन अकबर से पूर्व प्रशासनिक अधिकारियों के सोपान- क्रम में स्थान को तय करने के लिए किसी एक तकनीकी शब्द का प्रयोग नहीं हुआ था। अकबर ने अपने शासन के प्रारम्भिक दौर में सरकारी सोपानक्रम में किसी अधिकारी की स्थिति निश्चित करने के लिए 'मनसब' शब्द की ईजाद अर्थात् इस शब्द की खोज की। इससे इसके धारक की मुगल प्रशासन में स्थिति का ज्ञान होता था इसलिए इस शब्द का अर्थ पद या श्रेणी था। इतिहासकारों में इस बात को लेकर आम सहमति है कि रईसों, अमीरों एवं सेना के अधिकारियों को मनसब देने की प्रथा अकबर के समय में आरम्भ हुई। मनसब में संख्या जोड़ने की शुरूआत हुई जिसका तात्पर्य था मनसबदार का दायित्व निश्चित करना। मनसब में दो शब्दों का प्रयोग होता था जात एवं सवार। जात से जुड़ी संख्या मनसबदार के निजी वेतन तथा प्रशासन के सोपानक्रम में उसकी स्थिति निर्धारित करती थी जबकि सवार के साथ जुड़ी संख्या उसके द्वारा रखे जानेवाले घुड़सवारों एवं उनके वेतन को इंगित करती थी।

सवार पद की आवश्यकता:

सब कुछ निश्चित हो जाने के बाद मनसबदारों एवं राज्य के बीच एक समस्या खड़ी हो जाती थी। सब कुछ कागजों पर निश्चित हो जाने के बाद भी मनसबदार हमेशा इस बात की कोशिश करता था कि वह मनसब के अनुरूप सैनिक न रखे एवं जितने भी रखे अप्रशिक्षित सैनिक रखे। इससे भी बड़ी बेईमानी वह यह भी करता था कि निरीक्षण के समय किसी भी व्यक्ति को सैनिक के तौर पर दिखा दे। इससे मुगल सैन्य शक्ति की सक्षमता पर भी प्रभाव पड़ता था इसलिए इस समस्या से निबटने के उपाय सोचे जाने लगे। अन्त में मुगल प्रशासन इस नतीजे पर पहुँचा कि एकल संख्या के मनसब के साथ एक अन्य संख्यात्मक पद और जोड़ दिया जाए जो अलग से सैनिकों की संख्या को इंगित करता हो। इस नए पद का नाम सवार रखा गया। इसके साथ ही पूर्व में प्रचलित एकल पद का भी नामकरण अब कर दिया गया। इसका नाम जात कर दिया गया। इस प्रकार प्रथम पद जात से मनसबदार के निजी वेतन का पता चलता था एवं द्वितीय पद सवार से मनसबदार की श्रेणी का पता चलता था। सवार पद के लिए मिलने वाले वेतन से सैनिकों की तनख्वाह एवं उनके द्वारा रखे जानेवाले जानवरों के खर्च सम्मिलित होते थे।

जहाँगीर के समय दु-अस्पा एवं सिह-अस्पा का प्रचलन:

जहाँगीर के समय मनसब व्यवस्था में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता महसूस हुई लेकिन मुगल बादशाह इस व्यवस्था की मूल प्रकृति को परिवर्तित नहीं करना चाहता था। अकबर के समय इस व्यवस्था से दो नियम जुड़े थे : प्रथम मनसबदार का सवार पद किसी भी स्थिति में उसके जात पद से अधिक न होना, द्वितीय, किसी भी मनसबदार का सर्वोच्च पद 5000 ज़ात एवं 5000 सवार से अधिक होना। मनसब की यह अन्तिम सीमा होगी।

जहाँगीर ने इन बातों का ध्यान रखते हुए मनसब व्यवस्था के सवार पद में परिवर्तन किया। उसका मानना था कि अगर बादशाह किसी मनसबदार की कार्यक्षमता से प्रसन्न होकर उसे पुरस्कार देना चाहे तो उसके सामने पुराने नियमों की पालना करते हुए भी कोई रास्ता होना चाहिए। इसलिए उसने दु–अस्पा एवं सिह–अस्पा के सिद्धान्त की शुरूआत की। इनका शाब्दिक अर्थ क्रमशः दो घुड़सवार एवं तीन घुड़सवार था। उसके अनुसार इन दो शब्दों के प्रयोग के द्वारा उसके सवार पद में वृद्धि करके उसे पुरस्कृत किया जा सकता है।

इस प्रकार अकबर द्वारा प्रारम्भ की गई व्यवस्था से मनसबदारों की व्यवस्थित श्रेणियाँ बन गई। इस व्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता इस बात में निहित थी कि कोई भी मनसबदार किसी के अधीन नहीं था। सारे मनसबदार सीधे बादशाह के अधीन थे एवं उसके ही आदेशों की पालना करते थें सभी श्रेणियों के मनसबदारों की नियुक्ति बादशाह द्वारा की जाती थी। हालाँकि भर्ती की एक निश्चित प्रक्रिया थी लेकिन अन्तिम निर्णय बादशाह का ही होता था। इसकी नियुक्ति के लिए मीर बख्शी नामक अधिकारी होता था जिसका काम बादशाह के सम्मुख उम्मीदवारों की सूची प्रस्तुत करना था। यही प्रक्रिया पदोन्नति के लिए भी थी। इस प्रकार इस व्यवस्था के द्वारा एक प्रतिभावान, स्वामिभक्त एवं अधीनस्थ वर्ग खड़ा किया गया जिससे शाही सत्ताधिकार की स्थापना का पता चलता है।

केन्द्रीकृत प्रशासनिक ढ़ाँचा:

मुगल बादशाह अकबर स्वयं को दैवीय शक्तियों से परिपूर्ण मानता था इसलिए साम्राज्य के सारे अधिकार उसमें ही समाहित होते हैं। राज्य के सभी मामलों का वह कर्णधार होता है इसलिए सारी गतिविधियों के केन्द्र में बादशाह स्वयं होता है। वही राज्य की धुरी होता है। इसी विचार ने केन्द्रीकृत नौकरशाही व्यवस्था को जन्म दिया। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुगल शासन बादशाह केन्द्रित एक अत्यन्त विकसित एवं विशिष्ट नौकरशाही व्यवस्था थी। लगभग सभी आधुनिक इतिहासकारों ने इसे इसी रूप में व्याख्यायित किया है।

मुगल प्रशासनिक व्यवस्था केन्द्र, प्रान्त एवं स्थानीय स्तरों पर संगठित व्यवस्था थी। तीन स्तरों पर व्यवस्थित होने के कारण से प्रशासन में काफी सजगता थी। इस प्रकार के संगठन का मुख्य कारण यह था कि ऊपर से लेकर नीचे तक की छोटी से छोटी इकाई गाँव पूरी निगरानी एवं चौकसी में रखे जा सकें। दूसरा कारण विभिन्न स्तरों के अधिकारी एक दूसरे के कार्यक्षेत्र पर सरकारी प्रतिनिधि के रूप में नजर रख सकें। प्रशासन की ऊपरी सतह पर केन्द्रीय ढ़ाँचा था। फिर साम्राज्य को सूबों में विभाजित किया था इसलिए इस स्तर पर भी एक सुगठित ढ़ाँचा खड़ा किया गया। इसी प्रकार सबसे नीचे स्तर पर स्थानीय एवं गाँव स्तर का संगठन था जो सम्पूर्ण ढ़ाँचे का आधार था। इसी आधार पर मुगल प्रशासन विकसित होता रहा लेकिन जिसको प्रारम्भ करने का श्रेय अकबर को जाता है।

केन्द्रीय प्रशासनः

मुगल प्रशासन का वास्तविक रूप से जन्मदाता अकबर था। हालाँकि अकबर को ऐसा प्रशासनिक ढाँचा मिला था जो दिल्ली सल्तनत के काल में विकसित हुआ था एवं शेरशाह सूरी ने उसमें कुछ महत्वपूर्ण सुधार किए थे। उसके पूर्व उसके दादा बाबर एवं बाद में पिता हुमायूँ को प्रशासन की तरफ ध्यान देने का समय ही नहीं मिल पाया था। अकबर ने शासन की बागडोर सम्भालने के बाद पहले अफगानों एवं मिर्जाओं की समस्या से निबटने के बाद प्रशासन को केन्द्रीकृत आधार पर सुगठित किया जो अन्त तक कायम रहा।

अकबर के समय प्रशासन के प्रत्येक स्तर पर अधिकारियों एवं कर्मचारियों की नियुक्ति की गई। केन्द्र में दीवान, वजीर, मीर बख्शी, सद्र–उस–सुदूर एवं मीर सामान। इसके अतिरिक्त इनके अधीन असंख्य कर्मचारी होते थे। इसी प्रकार प्रान्त में सूबेदार, प्रान्तीय दीवान, बख्शी, वाकियानिगार, सवानी नवीस एवं सद्र। इसी प्रकार सरकार स्तर पर फौजदार, आमिल, कोतवाल एवं काजी आदि कर्मचारी थे। परगना एवं गाँव के स्तर के कर्मचारियों का भी एक अमला होता था जिनमें शिकदार, आमिल या आमीन कानूनगो, खूत, मुकद्दम या चौधरी एवं पटवारी आदि मुख्य थे। इस प्रकार ऊपर से लेकर नीचे तक पूरा प्रशासनिक तन्त्र था। यही तन्त्र जहाँगीर के समय में भी प्रचलन में रहा।

इस केन्द्रीकृत ढाँचे द्वारा बादशाह ने शाही सत्ताधिकार की प्रभावी तरीके से संचालन के लिए एक ऐसी व्यवस्था की जिसका मुख्य कार्य प्रशासन तन्त्र के एक दूसरे अधिकारी एवं कर्मचारी के कार्यों पर निगरानी रखना था। यही कर्मचारी वर्ग जागीरदारों एवं मनसबदारों के वित्तीय एवं प्रशासनिक मामलों की जानकारी सम्बन्धित अधिकारियों को देता था जो अन्त में स्वयं बादशाह तक पहुँचाई जाती थी। इस प्रकार से यह एक प्रकार की समानान्तर व्यवस्था थी जो शाही सत्ताधिकार को प्रभावी ढंग से लागू करने में सहायता करती थी।

भू-राजस्व व्यवस्थाः

अकबर ने भू–राजस्व व्यवस्था को नए सिरे से व्यवस्थित किया। हालाँकि उसे शेरशाह सूरी द्वारा विकसित व्यवस्था विरासत में मिली थी। उसने उसमें सुधार करके नया रूप दिया। भू–राजस्व व्यवस्था पर प्रो0 इरफान हबीब, डो0 नोमान अहमद सिद्दिकी एवं प्रो0 शीरीं मूसवी ने महत्त्वपूर्ण काम किया है। सैनिक सुधारों की भाँति गुजरात–विजय के पश्चात् ही बादशाह का ध्यान मालगुजारी बन्दोबस्त की ओर आकृष्ट हुआ और कई प्रयोग किए गए। इस्लाम शाह की मृत्यु के पश्चात् अराजकता फैलाने पर शेरशाह का बन्दोबस्त बर्बाद हो चुका था। हुमायूँ ने वापस आकर अमीरों और अधिकारियों के मध्य देश को बाँटने की नीति को वापस ले ली। शाही जमीन और जागीरों के बीच कोई सही सीमाक्रम न रह गया और वित्तीय दुर्दशा अपनी चरम सीमा तक पहुंच गई।

इसके पश्चात् 1540 ई0 में अब्दुल माजिद खाँ एवं 1563 ई0 में एतमाद खाँ को वित्त मन्त्री नियुक्त किया। इसक बाद विभिन्न वित्त मन्त्री बनाए गए जिनके काल में सुधार किए गए। 1580 ई0 में राजा टोडरमल को वित्त मन्त्री बनाया गया जिसने राजस्व व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण सुधार किए।

मुगल साम्राज्य के विशाल एवं केन्द्रीकृत ढाँचे का मुख्य आधार था भू–राजस्व। अकबर के काल में काफी बड़े क्षेत्र में भू–राजस्व की प्रणाली को एकरूप प्रदान कर दिया गया था। बादशाह के सत्ताधिकार की स्थापना के लिए दृढ़ आर्थिक आधार की आवश्यकता थी जो भू–राजस्व व्यवस्था के द्वारा आय के स्रोतों के स्थाईकरण के द्वारा ही सम्भव था।

मुद्राएँ ढ़ालने पर बादशाह का एकाधिकारः

मुगलकाल में उच्च स्तरीय मुद्राएँ ढ़ाली जाती थीं जिन पर राज्य का एकाधिकार था। सारी मुद्राएं राज्य द्वारा नियन्त्रित टकसाली में ढ़ाली जाती थीं जो साम्राज्य के मुख्य–मुख्य स्थानों में स्थित थी। इस काल में त्रिधातु की मुद्राओं का प्रचलन था। सोना चाँदी और ताँबे के सिक्के ढ़ाले जाते थे। मुगल काल के सिक्कों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी एकरूपता एवं शुद्धता थी जो अभूतपूर्व उपलब्धि थी। मुगल साम्राज्यकालीन टकसालें केन्द्रीय नियन्त्रण के अन्तर्गत होते हुए भी ढलाई के क्षेत्र में इस हद तक स्वतन्त्र थीं कि कोई भी व्यक्ति वहाँ चाँदी ले जाकर सिक्के ढ़लवा सकता था। सिक्के ढ़लवाने का शुल्क ढ़ाले हुए सिक्कों का लगभग 6 प्रतिशत होता था। सोने तथा ताँबे के सिक्के ढ़लवाने के सम्बन्ध में भी यही कानून लागू होते थे। मुद्राओं पर, पूरन और कमी की स्थिति में, कुछ कटौती भी होती थी। प्रतयेक सिक्के पर टकसाल का नाम तथा ढ़लाई का वर्ष अंकित होता था। अगर सिक्का ताजा (नया ढ़ला हुआ) होता था तो उसका पूरा मूल्य मिलता था जबकि चालानी सिक्कों (चलन या प्रयोग में आ रहे सिक्के) में आंशिक कटौती की जाती थी। पूर्ववर्ती शासनकाल के दौरान ढ़ले हुए सिक्कों पर, जो राजना कहेग जाते थे, कटौती की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक थी। कटौती की मात्रा ढ़लाई–शुल्क से अधिक नहीं होती थी।

राज्य किसी भी व्यक्ति को चाहे वह कितना ही प्रभावशाली व्यक्ति क्यों न हो अपने नाम से सिक्के ढालने का अधिकार नहीं था।

कोई भी स्वायत्तशाषी राजा अपने राज्य में अपनी मुद्रा नहीं ढ़ाल सकता था। यह सिर्फ शाही अधिकार क्षेत्र में आता था। सभी स्थानों पर मुगल बादशाहों द्वारा जारी सिक्के ही चलते थे जो उनके परमाधिकार का प्रतीक था।

जमींदार एवं स्वायत्तशाषी स्थानीय शासकः

मुगलकाल में एक ऐसा वर्ग था जो पूर्णतः सरकारी सेवक की श्रेणी में नहीं आता था। इसकी कई श्रेणियां होती थीं। एक ऐसे प्रकार के जमींदार होते थे जिनका किसानों के उत्पादन में अधिकार होता था। ये मूलतः राज्य एवं किसान के बीच मध्यस्थ थे जिनका मुख्य कार्य उनसे लगान वसूल करके राज–कोष में जमा करवाना होता था। इसके बदले में इनको कमीशन मिलता था। इनके ये अधिकार पैतृक् थे। अकबर ने इनको शाही राजस्व व्यवस्था का अंग बना लिया था जिससे ग्रामीण व्यवस्था में शाही नीति लागू करना आसान हो गया।

दूसरे प्रकार के जमींदार स्वायत्तशाषी जमींदार या मुखिया होते थे जो अपने क्षेत्र के स्वामी होते थे जो काफी विशाल क्षेत्र में फैले होते थे। इनकी अपने क्षेत्र में राजनीतिक एवं सामाजिक जड़ें काफी गहरी होती थीं। इनकी पदवियाँ राणा, राजा, राव एवं रावत आदि थीं। इनके अधिकार वाले क्षेत्रों को फारसी में वतन एवं हिन्दी में 'राजथान' कहा जाता था। इन क्षेत्रों पर इनका वंशानुगत अधिकार होता था। इनके वतन क्षेत्रों का तबादला नहीं हो सकता था। दूसरे अन्य दो प्रकार के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के जमींदारों से इनकी स्थिति भिन्न होती थी। इनके अधिकार क्षेत्रों की भूमि पर इनका वास्तविक कब्जा होता था जो काफी विस्तृत हुआ करते थे। इसके अतिरिक्त और भी बातें थीं जो उन्हें प्राथमिक एवं माध्यमिक जमींदारों से अलग करती थीं। अपने वतन क्षेत्र में लगान वसूली के लिए वे राज्य को जवाबदेह नहीं थे बल्कि वे अपने क्षेत्र में कर निर्धारण एवं वसूलने में स्वतन्त्र थे, यहाँ तक कि अपने क्षेत्र से गुजरने वाले क्षेत्र से माल पर चुंगी वसूलने का अधिकार भी था। इस स्वायत्तता के बदले वे मुगल शासकों को नियमित पेशकश देते थे। डॉ0 नोमान अहमद सिद्दिकी ने इनको पेशकशी जमींदार कहा जिन पर वास्तविक जोती गई भूमि के विस्तृत निर्धारण नियम लागू नहीं होते। वे बड़ी–बड़ी सेनाएँ रखते थे जिससे इनकी शक्ति प्रदर्शित होती थी। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह थी कि इनके वतन क्षेत्र में प्राथमिक एवं माध्यमिक जमींदार होते थे जो इनके पूर्ण अधीन होते थे।

जमींदारों को अपने कर्तव्यों एवं दायित्व के निर्वाह के हेतु सैनिक रखने पड़ते थे। मुगल साम्राज्य में लगान वसूली के लिए भी छोटी–मोटी सैनिक टुकड़ी रखनी होती थी क्योंकि यह कार्य अन्य मुश्किल कार्यों के समान था। इसके अतिरिक्त मुगल साम्राज्य की सेवा हेतु भी उन्हें सैन्यबल रखना होता था। राजनीतिक एवं सामाजिक आवश्यकता के कारण उन्हें किले बनवाने पड़ते थे जिनको स्थानीय एवं मुगल शब्दावली में गढ़ी कहा जाता था। जमींदारों की सेना में सैनिक उनकी अपनी जाति या बिरादरी से सम्बन्धित होते थे जिनको मुगल दस्तावेजों में उलूस कह कर सम्बोधित किया जाता था। इन जमींदारों की सैन्य शक्ति का अनुमान आईन–ए–अकबरी में दिए गए बारह सूबों के वर्णन में मिलता है। उसमें जमींदारों द्वारा रखे जानेवाले कुल घोड़ों एवं पैदल सैनिकों की संख्या अंकित की गई है। इसके अनुसार अकबर के काल में 3,04,558 सवार, 42,77,057 पैदल सैनिक, 1869 हाथी एवं 4260 तोपें थीं। इसमें सभी प्रकार के जमींदार सम्मिलित हैं। वास्तव में कुल मिलाकर यह एक विशाल सेना थी जो मुगल साम्राज्य के लिए कभी भी खतरा बन सकती थी लेकिन ऐसा सम्भव नहीं था। प्रो0 सतीशचन्द्र के अनुसार जमींदार बिखरे हुए थे एवं कभी भी एक स्थान व समय पर वे इसे मुकाबले के लिए खड़ा नहीं कर सकते थे। यह बात तथ्यात्मक रूप से भी बिल्कुल सही है क्योंकि मुगल साम्राज्य के किसी भी दौर में किसी भी प्रकार का जमींदारों द्वारा संयुक्त प्रयास नहीं किया गया। इसका सबसे बड़ा कारण तो इस वर्ग का बिखरे होना था एवं दूसरा यह कि सभी जमींदारों के हित भी एक दूसरे से नितान्त भिन्न थे। सम्भवतः जमींदारी जातीय हित भी इस प्रकार की एकता में बाधक हुआ करते थे। लेकिन एक बात इन आँकड़ों से प्रमाणित होती है वह है जमींदारों की सैन्य शक्ति। इस शक्ति की अनदेखी करना मुगल साम्राज्य के लिए असम्भव था।

जमींदारों के सम्बन्ध में एक बात स्पष्ट हो जाती है कि इस वर्ग का राजस्व एवं केन्द्रीय प्रशासन में महत्वपूर्ण स्थान था। यह बात ऐतिहासिक रूप से सही है कि यह एक प्रभावी वर्ग था जिनके पास सैन्य एवं धन बल दोनों थे इसलिए इन पर नियन्त्रण रखना साम्राज्य के अच्छे स्वास्थ्य के लिए आवश्यक था। उन सबको शाही सत्ताधिकार के अधीन लेकर मुगल कानून व्यवस्था का अंग बनाना आवश्यक था। इन पर नियन्त्रण के बिना शाही अधिकार की स्थापना मुश्किल थी। इसके लिए मधुर सम्बन्धों एवं सदाशयता की तुलना में शाही भय आवश्यक था। यह भय फौजदारों एवं जागीरदारों की श्रेष्ठ सैनिक बल के द्वारा ही हो सकता था, इसके अतिरिक्त उनको सरकारी कानून व्यवस्था के अधीन लाकर किया जा सकता था।

हालाँकि मुगल सरकार ने जमींदारों को मुगल प्रशासन का अंग तो स्वीकार कर लिया था लेकिन उनको नियमित सरकारी नौकर के समान नहीं समझा जा सकता था। चूँकि उनकी ग्रामीण समाज में गहरी पैठ थी एवं उनके पास सैन्य बल भी था इसलिए मुगल सरकार सदैव उनसे आशंकित भी रहती थी। सरकार ने उन पर खालिसा एवं जागीर क्षेत्रों में अंकुश लगाने हेतु क्रमशः राजस्व अधिकारियों एवं जागीरदारों को सजग कर रखा था। जागीरदारों एवं जमींदारों में साधारणतः सम्बन्ध सामान्य नहीं रहते थे क्योंकि

दोनों के मध्य लगान निर्धारण की मात्रा या अनुपात को लेकर सदैव तनाव रहता था। जागीरदारों का अपने अधीन क्षेत्रों में अधिकतम लगान निर्धारण में हित निहित था जिसका सीधा असर जमींदारों की आय पर पड़ता था। जमींदारों का हित इसमें था कि उनके क्षेत्रों से सामान्य निर्धारित दर से अधिक लगान न वसूल किया जाए नहीं तो उनकी आय में कटौती हो जाती थी जो उनके लिए असहनीय था। इसी प्रकार की कमोबेश स्थिति खालिसा क्षेत्रों में भी थी। ऐसी स्थिति में जमींदारों के पास सशस्त्र विद्रोह के अतिरिक्त कोई अन्य रास्ता नहीं था।

इन जमींदारों के अतिरिक्त स्वायत्तशाषी जमींदारों के साथ मुगलों के सम्बन्धों की प्रकृति में अन्तर था। अकबर ने इन जमींदारों अर्थात् शासकों को विशेष सम्मान देते हुए भारतीय राजनीति में उनके महत्व को समझा। वह जानता था कि इनका इनके राज्य के लोगों के बीच अत्यधिक सम्मान है एवं यह सम्मान उन्होंने पीढ़ियों के शासन के पश्चात् हासिल किया है। इसके अतिरिक्त इनके पास एक विशाल सैन्यबल भी है। उनकी ऐतिहासिक गहरी जड़ों को देखते हुए ही अकबर ने उनको अपने शासन में बड़े-बड़े मनसब देकर अपने प्रशासन का अंग बना लिया। यह नीति मुगल साम्राज्य के लिए काफी लाभदायक रही। उन्होंने साम्राज्य विस्तार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वे सदैव स्वामीभक्त रहे जिसके कारण एक विदेशी सत्ता को एक स्थानीय शक्तिशाली समर्थक मिल गया। इसी नीति का मोटे तौर पर अकबर के उत्तराधिकारियों ने भी अनुसरण किया।

मुगलों ने उस नीति को लागू किया, जो आगे चलकर सर्वोच्च प्रभुता की नीति कहलाई। इसके अनुसार राजाओं की पदस्थिति उत्तराधिकार में प्राप्त अपने अधिकारों के बल पर निर्धारित नहीं होती थी, अपितु वे इसके लिए बादशाह की कृपा या सद्भावना पर आश्रित रहते थे। केवल वही सरदार की पदवी धारण कर सकते थे, जिन्हें बादशाह यह पदवी बख्शता था। ज्येष्ठाधिकार और पुश्तैनी उत्तराधिकार के नियमों को सामान्यतः मानने के साथ-साथ मुगलों ने मृत राजा के उत्तराधिकारी के रूप में उसके छोटे बेटे यहाँ तक कि उसके दूर के रिश्तेदार को भी मान्यता देने (टीका) के अपने अधिकार को बलपूर्वक मनवाया। बादशाह जहांगीर ने तो अपने इस अधिकार पर विशेष रूप से उस समय जोर दिया जब उसने बीकानेर के महाराजा राय सिंह द्वारा अपने कनिष्ठ पुत्र को उत्तराधिकारी नामित कर देने को अमान्य ठहराकर उसके स्थान पर ज्येष्ठ पुत्र को ही नामित करवाया। राज्य का राजा कौन होगा, इसका निश्चय करने के पादशाह के अधिकार पर बल दिए जाने के फलस्वरूप न केवल राजाओं पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण पुख्ता हुआ, बल्कि राजाओं के मन में पादशाह के प्रति निजी आभार की भावना को भी बढ़ावा मिला। प्रमुख-प्रमुख राजाओं के परिवारों से वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ने की प्रख्यात नीति ने बादशाह और राजाओं के बीच लगाव की भावना को और अधिक पुष्ट किया। मुगल बादशाह हमेशा इस बात पर जोर देते रहे कि राजा लोग शाही दरबार में या सूबेदार के यहाँ हाजिरी बजाते रहे या यदि वे कहीं और व्यस्त हों तो उनके परिवार का कोई सदस्य उनका प्रतिनिधित्व करे। इस नीति ने भी राजाओं पर शाही नियन्त्रण को दृढ़ किया।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि अकबर ने शाही सत्ताधिकार या उसके प्राधिकार की स्थापना के लिए ऐसे कदम उठाए जो अगली तीन सदियों तक जारी रहे। उसने एक ऐसा केन्द्रीकृत नौकरशाही ढाँचा खड़ा किया जो पूर्णतः शाही कृपा पर आधारित था। प्रशासन तन्त्र के सभी भागीदारों को उनके अधीनस्थ स्तर का भान करवा दिया था। इसी तन्त्र पर कानूनों के द्वारा कड़ा शिकंजा कस दिया गया जिससे किसी का बचना असम्भव था। उन पर शाही सत्ताधिकारों की तलवार सदैव लटकती रहती थी। स्वायत्तशाषी जमींदारों एवं राजा-महाराजाओं को अर्द्ध स्वायत्त अधिकार देकर शाही प्रशासन का अंग बना लिया गया। अकबर द्वारा प्रारम्भ की गई यह शाही सत्ताधिकार के गठन की नीति जहाँगीर के अधीन भी जारी रही।

डॉ0 बी0एस0 चयानी ने इस सम्बन्ध में सारगर्भित निष्कर्ष निकाला है। उसके अनुसार अकबर के समय मुगल राज्य का स्वरूप राजतन्त्रीय और पूर्णतः केन्द्रीकृत था। राज्य का यह केन्द्रीयकृत ढाँचा सत्रहवीं शताब्दी में और अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक बना रहा, जब मुगल साम्राज्य ढहने लगा था। इस कालावधि में शाही केन्द्र ही शक्ति का मुख्य स्प्रिंग था। सूबे के प्रशासनिक तन्त्र की हर शाखा को वहीं से शक्ति प्राप्त होती थी। मुगल राज्य का अपना इलाका था, और उसकी भौगोलिक सीमाओं में उसकी प्रभुता ही चलती थी, उसमें किसी दूसरे राज्य का हस्तक्षेप असहय था। जनता एक समान राजनीतिक और आर्थिक नियमों से बँधी थी, जिनको लागू करने के लिए अफसरों और अमल का एक सक्षम तन्त्र था। विदशी या बाह्य सम्बन्धों के मामले केवल मुगल पादशाह ही निपटाते थे। उनका यह परमाधिकार राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण था, जिसका मुकाबला कोई अन्य शक्ति नहीं कर सकती थी। उनके ही अधीन नयाचार की एक नियमित व्यवस्था थी, जिसके अनुसार अन्य स्वायत्तशाषी राज्यों से और विदेशों से राजदूतों का आदान-प्रदान होता था। बाह्य राज्यों और विदेशों के शासकों के साथ सन्धियाँ भी पादशाह ही करते थे। बाह्य आक्रमणों से अपनी सीमाओं की रक्षा करने की क्षमता मुगल राज्य में थी। शाही इलाके सूबों, सरकारों और परगनों में बँटे हुए थे। सबकी सीमाएँ सुनिश्चित थीं, जिनका निर्धारण प्रायः भौगोलिक, युद्ध-नीति और प्रशासनिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाता था। लगान और अन्य प्रकार के फुटकर शुल्क वसूली के बाद, केवल शाही खजाने में जमा होते थे। सरकार से असम्बद्ध कोई व्यक्ति उसे अपने पास नहीं रख सकता था।

अध्याय-6

बादशाहत/राजशाही एवं वैधता

भारत में मुगल सत्ता की स्थापना मध्य एशिया से आए बाबर ने की। उसने सिर्फ भारतीय शक्तियों को पराजित किया एवं इसके अतिरिक्त समय की कमी के कारण वह कुछ भी नहीं कर पाया। उसे शाही सत्ता स्थापित करने में भारत में मुश्किल भी थी क्योंकि वह जिस स्थान से आया था जहाँ साम्राज्य या राज्य संचालन की अलग परम्परा थी जो मंगोल परम्परा कहलाती थी। वहाँ की परम्पराओं एवं भारत के शासन को चलाने की परम्पराओं में काफी अन्तर था। इसीलिए न तो बाबर शाही सत्ता की स्थापना की प्रकृति तय करने का खतरा लेना चाहता था और न ही उसकी मौत ने कोई समय ही दिया।

भारत में मुगलों को हुमायूँ और अकबर के शासनकाल में कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। शेरशाह के हाथों हुमायूँ पराजित हुआ था और अपने भाइयों से भी उसे अपमान मिला था। ये सब बातें इसी परस्पर विरोधी व्यवस्था के गम्भीर बाहरी लक्षणों की सूचक हैं। भारत अपार संसाधनों वाला एक विशाल देश था। कृषि से प्राप्त होनेवाले राजस्व की मात्रा भी काफी थी। इसके अतिरिक्त एक विशेषता यह थी कि इस देश में जनसंख्या की दृष्टि से हिन्दू बहुसंख्यक थे, फिर भी उन पर अल्पसंख्यक मुसलमानों ने राज किया। मुसलमानों की केन्द्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था तीन सौ वर्षों से भी अधिक समय तक चलती रही। हुमायूँ ने एक व्यवस्थित ढ़ाँचा खड़ा करने का प्रयत्न किया, किन्तु भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया। केवल अकबर ही राज्य का एक ऐसा ढ़ाँचा तैयार करने में सफल हुआ जो पूरी तरह बादशाह को ही धुरी बना कर घूमता था।

तुर्क परम्परा इससे मेल नहीं खाती थी फिर भी अकबर ने केन्द्रीकृत व्यवस्था की स्थापना पर ही बल दिया क्योंकि भारत जैसे विशाल देश को नियन्त्रित इसी व्यवस्था के द्वारा किया जा सकता था। इसीलिए प्रो० रामप्रसाद त्रिपाठी ने इसे तुर्क–मंगोल सिद्धान्त कहा है। यह वास्तव में दोनों परम्पराओं का मिश्रण था। उनके अनुसार इन दोनों परम्पराओं ने केन्द्रीकृत राज व्यवस्था को अंगीकार कर लिया था। उन्होंने अपने तर्क का आधार सत्रहवीं सदी के स्रोत मलफुजात–ए–तैमूरी को बनाया है।

प्रो० त्रिपाठी की एक अन्य मान्यता है कि मंगोल राजत्व के सिद्धान्त में निरंकुशतावादी प्रवृत्ति थी। तैमूर खुद को धरती पर खुदा का निर्विवाद प्रतिनिधि (रीजेण्ट) कहता था। बाबर ने पादशाह की एक आडम्बरी पदवी धारण कर ली थी। वह किसी का भी, नाममात्र का ही सही, आधिपत्य स्वीकार करने को तैयार नहीं था, न मुगल खान के और न ही खलीफा के। हुमायूँ तो यह मानता था कि प्रभुसत्ता उसकी निजी सम्पत्ति है।

डॉ० निर्मल कुमार ने प्रो० त्रिपाठी से अपनी असहमति प्रकट की है। उसके अनुसार तैमूरवंशी बाबर ने 1526 ई० में खाकान की पदवी धारण की थी और वह भी तब, जब वह मध्य एशिया से बहुत दूर था। यह तथ्य इस बात को सिद्ध करता है कि वे अब भी मुगल खानों की इज्जत करते थे, यद्यपि उस समय तक उन्होंने उनके औपचारिक आधिपत्य को त्याग दिया था। अपनी प्रभुसत्ता के बारे में दैवी उत्पत्ति सम्बन्धी उनके जो लम्बे–चौड़े दावे थे, वे शायद गद्दी पाने के मामलों तक ही सही थे। जहाँ तक निरंकुश शक्ति पाने का सवाल था, निश्चय ही उनसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। मंगोल राजतन्त्र का कबीलाई स्वरूप और शक्तिशाली अमीर वर्ग, ये दोनों एक शक्तिशाली केन्द्रीकृत राजनीतिक ढ़ाँचे के आधार थे।

बादशाह की सर्वोच्च सम्प्रभुता के अधिकार को सबसे बड़ी चुनौती पैतृक अधिकारों वाले शक्तिशाली अमीरों से थी। इनको चँगेजी परम्पराओं का पूर्ण समर्थन था। बाबर चूँकि स्वयं को इन परम्पराओं से जुड़ा मानता था इसलिए इनका विरोध करने का साहस भी नहीं था। ये ही परम्पराएँ अमीरों की शक्ति का मुख्य स्रोत थीं इसलिए उन्होंने अपने को भिन्न–भिन्न समूहों में संगठित कर लिया था ताकि वे अपने हितों की रक्षा कर सकें। एक महत्वपूर्ण बात कि वे अपने को पवित्र मूल का मानते थे। बाबर से लेकर अकबर तक इनकी ओर से चुनौती मिली।

बाबर एवं हुमायूँ तो अमीरों की इस अहंवादी समस्या का हल नहीं ढूँढ़ पाए लेकिन अकबर को इसमें सफलता मिली। उसने अमीरों को अधीनस्थ सरकारी सेवक बना दिया एवं उनको जागीरों के राजस्व पर निर्भर बना दिया। इस तरह उसने उन्हें पुरानी चगताइ परम्पराओं से मुक्ति दिलाकर नए राजनीतिक वातावरण में जीने लायक बना दिया।

मुगल शासक इस्लाम के अनुयाई थे और वे राज्य एवं धर्म के महत्व को भली–भाँति समझते थे। वे यह जानते थे कि धर्म राज्य

के केन्द्र में है। इस्लाम में धर्म का जन्म पहले हुआ और राज्य बाद में उसकी आवश्यकतानुसार विकसित हुआ। प्रारम्भ में इस्लाम में राजनीति एवं धर्म को एक ही माना जाता था। राज्य मूलतः संगठित मुस्लिम समुदाय का ही रूप था। इसका मुख्य धार्मिक कार्य इस्लाम धर्म की मान्यताओं को सुरक्षा प्रदान करना, उनका प्रचार प्रसार करना एवं इनको जीवन में उतारने वालों को सुविधा प्रदान करना था। इस राज्य के केन्द्र में 'उम्मत' था जो एक संगठित समुदाय था। धीरे–धीरे यही समुदाय राज्य का सर्वेसर्वा बन गया। राज्य इससे ऊपर नहीं था एवं उसे कई दबावों के मध्य अपना अस्तित्व बनाए रखना था। बाद में राजनीतिक परिवर्तनों के कारण राज्य के चरित्र एवं उसके अधिकार क्षेत्र में भी परिवर्तन आया।

मुस्लिम समुदाय एवं राजनीति में खलीफा का जन्म हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद हुआ। उनके कार्य धर्म एवं राजनीति से जुड़े थे। प्रो० मोहम्मद हबीब ने खलीफा के उत्थान एवं मुस्लिम राजनीति में उसकी भूमिका पर अत्यन्त महत्वपूर्ण बात कही है। उनके अनुसार खलीफा का जन्म न तो कुरान की किन्हीं हिदायतों के अनुसार हुआ था और न ही पैगम्बर के किसी स्पष्ट निर्देश के अनुसार वास्तव में इसकी शुरूआत 'इज्म–ए–उम्मत' अर्थात् जनता की आम राय से हुई थी। उम्मयद खलीफात की शुरूआत से मुस्लिम राजनीतिक परम्पराओं में कुछ परिवर्तन आया। इसने राजतन्त्र बादशाह नामक संस्था तथा शासक वर्ग का जन्म हुआ। ये दोनों संस्थाएँ अब्बासी खलीफाओं के काल में अधिक मजबूत हुईं। उम्मयदों ने (661 से 750 ई.) पूरी मुस्लिम दुनिया पर राज किया किन्तु उनके उत्तराधिकारी अब्बासी खलीफा (750–1258 ई.) अरब देशों पर नियन्त्रण बनाए नहीं रख सके। इस अवधि में विभिन्न क्षेत्रों के शासक केवल नाममात्र के लिए खलीफा के अस्तित्व को स्वीकार करते रहे और बिना उसकी अनुमति के ही अपने–अपने क्षेत्रों में शासन चलाते रहे।

गजनी के सुल्तान महमूद के आगमन के साथ ही इस्लामी इतिहास में एक नए युग का उदय हुआ। उसे 'आजम' का अर्थात दुनिया का पहला सुल्तान माना गया। महमूद अपने आप को 'धरती पर खुदा की छाया' मानता था और उसने सर्वोच्च विधायक न्यायिक और कार्यपालिका के अधिकार ग्रहण कर लिए। इसके बाद अब्बासी खलीफात केवल प्रतीकात्मक रूप में उस समय तक चलती रही जब तक कि हलाकू खाँ ने सन् 1258 ई. में इसको समाप्त नहीं कर दिया।

लम्बे दौर में खलीफा के नेतृत्व में विकसित हुए तन्त्र को एक इस्लामी राज्य का स्वरूप ग्रहण कर लेना चाहिए था। उनके अधीन कई इस्लाम को मानने वाले कबीले एवं गैर–मुस्लिम सामाजिक वर्ग भी सम्मिलित थे। लेकिन समय के साथ जैसे–जैसे खलीफाओं की शक्ति कमजोर होती चली गई और उनका पतन होता चला गया त्यों–त्यों मुस्लिम राजाओं द्वारा शासित पैतृक राज्य उभरने लगे। इस प्रकार मध्यकाल में उभरने वाले राज्यों का चरित्र बिल्कुल भिन्न था। उनकी शरीयत या इस्लामी कानून में दी गई व्यवस्था से समानता नहीं बिठाई जा सकती थी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस्लामिक देशों में बादशाह या राजशाही संस्था का जन्म धार्मिक नेताओं के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से हुआ।

भारत में बादशाहत या राजत्व का उदय

भारत में मुगल साम्राज्य इस प्रकृति का नहीं था। बाबर के नेतृत्व में राजशाही के जो विचार भारत में आए वे किसी एक विशेष विचारधारा का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे बल्कि मंगोल तुर्की और ईरानी परम्पराओं का मिलाजुला रूप था। भारत में आने पर सबसे शक्तिशाली विचार अफगान शासकों द्वारा स्थापित सिद्धान्तों से मुगलों का सामना हुआ। इतना सब होने पर हिन्दुस्तानी राजशाही के विचारों से वे कैसे अप्रभावित रह सकते थे। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर सदियों तक भारत में शासन चला था। इन सभी विचारों एवं भिन्न–भिन्न परम्पराओं को स्वीकार करके आत्मसात करने के कारण से मुगल शासक एक गतिशील शक्ति बन गए थे एवं यही कारण है कि इन्हीं मिश्रित परम्पराओं को संजोकर चलने के कारण मुगल साम्राज्य तीन सदियों तक भारत में जीवित रह सका।

सौभाग्य से मुगल साम्राज्य को अबुल फजल जैसा एक प्रतिभावान बौद्धिक विचारक मिला जिसने इन सारी परम्पराओं का आत्मसात करके राजशाही के सिद्धान्त को एक ऐसा स्वरूप दिया जो वास्तव में उसके संरक्षक स्वामी के विचारों से मेल खाता था। दिल्ली के डॉ० निर्मल कुमार ने विभिन्न राजा या बादशाह से सम्बन्धित विभिन्न विचारों एवं परम्पराओं को एक स्थान पर संकलित किया है। मुस्लिम विद्वानों ने राजा (बादशाह) की संस्था की आवश्यकता को यह कहकर न्यायोचित्त ठहराया है कि मनुष्य की स्वार्थ और दुराग्रही प्रकृति ही समाज में व्यवस्था तथा देश में शान्ति की रक्षा में मुख्यतः बाधक होती है। इसका निराकरण करने के लिए खुदा ने यह निश्चय किया कि आदमजात लोगों में से कोई 'हाकिम–ए–आदिल' बने जो आदम के बेटों के कारनामों पर निगाह रखे और दुनिया के काम–काज को सही रास्ते पर चलाते हुए उन्हें भला–चंगा तथा सुरक्षित रखे। इस प्रकार राज्य का सिद्धान्त राजशाही के सिद्धान्त में घुलमिल गया और सारे राजनीतिक विचार तथा राज्य के कार्य–व्यापार राजा नामक व्यक्ति को केन्द्र में रखकर ही बनने तथा चलने लगे।

इसलिए सभी परम्पराएँ एक शक्तिशाली राजा या बादशाह या शासक को राज्य संचालन के लिए केन्द्रीय धुरी मानती थी। डॉ० निर्मल कुमार ने इसी सन्दर्भ में अल गजाली एवं अन्य राजनीतिक दार्शनिकों के विचार उद्धृत किए हैं। उसके अनुसार अल गजाली सुल्तान की सरकार के बारे में शरीयत के अनुसार यह औचित्य प्रस्तुत करते हैं कि धर्म (शरीयत) और राजत्व, दोनों ही ईश्वर की देन हैं। इस प्रकार गजाली शरीयत और ईरानी विचारों का मिश्रण कर राजत्व का एक सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। निजाम–उल–मुल्क तुसी (11वीं शताब्दी) का सियासतनामा और अली बिन सहाब हमलावी का जखीराज–उल–मुल्क शान्ति स्थापना के लिए एक शक्तिशाली पादशाह की आवश्यकता पर बल देते हैं। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी तक अधिकाँश मुस्लिम जगत में राजत्व का सिद्धान्त पूर्व–इस्लामी अरबी, मुस्लिम, ईरानी और तुर्की–मंगोल तत्वों के सम्मिश्रण से बना था। मध्यवर्ती एशिया के तैमूरी वंश में प्रचलित राजनीतिक सिद्धान्त ने विशेष रूप से मुगलों के लिए एक विशिष्ट पूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया।

दिल्ली सल्तनत में बादशाहत के सिद्धान्तों को लेकर काफी उतार–चढ़ाव रहा। बलबन एवं अलाउद्दीन ने इसको एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया।

दिल्ली सल्तनत के तुर्की सुल्तानों एवं सैयद–लोदी वंश के अनुभवों ने एक बात साफ कर दी थी कि कबीलाई संगठन या कुलीय बिरादरी एवं जातीयता की श्रेष्ठता के दावे राजशाही को मजबूत आधार प्रदान नहीं कर सकते। यह बात एक कबीला आधारित राज्य के लिए तो सही हो सकती है लेकिन उस देश के लिए बिल्कुल अयोग्य थी जहाँ विभिन्न धर्मों एवं राष्ट्रीयताओं के लोग निवास करते थे जो शासक के धर्म के अनुयाई नहीं थे। इसीलिए तत्कालीन शासकों ने ऐसे कानून भी बनाए जिनका किसी धर्म विशेष से कोई लेना देना नहीं था। ऐसे कानून जवाबित कहलाते थे जिनसे विधर्मी लोगों का लेना देना होता था। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि दिल्ली सुल्तानों ने ऐसे देश पर शासन करने के गुर सीख लिए थे जहाँ की बहुसंख्यक जनता हिन्दू थीं।

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि बाबर अपने साथ प्रभुसत्ता की तुर्क–मंगोल धारणा साथ लेकर भारत आया। भारत में बलबन एवं अलाउद्दीन द्वारा विकसित राजत्व सम्बन्धी धारण से भी उसका प्रभावित होना स्वाभाविक था। उन्होंने शाही शक्ति को एक गरिमा प्रदान की थी। दिल्ली के शासकों ने सुल्तान की पदवी धारण की एवं विदेशी भूमि पर स्थित खलीफा को मान्यता प्रदान करते थे जबकि बाबर ने पादशाह की पदवी धारण की एवं बाहरी शक्ति को कोई मान्यता प्रदान नहीं की।

बाबर की मृत्यु के पश्चात् हुमायूँ की गद्दीनशीनी से दो सिद्धान्त एक साथ तय हुए : एक, वंशानुगत अधिकार एवं दूसरा पिता की मृत्यु के पश्चात् ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार। इस समय तो यह दूसरा सिद्धान्त लागू हुआ था। आगे जरूर इसमें बाधाएँ आती रहीं। यह बात निश्चित है कि ज्येष्ठाधिकार का सिद्धान्त मुगल साम्राज्य में पूर्णतः जड़ नहीं पकड़ पाया था। इसीलिए पूरा दौर विद्रोहों एवं उत्तराधिकार के युद्धों के उदाहरणों से भरा पड़ा है।

हुमायूँ के राज्यारोहण के समय जो सिद्धान्त तय नहीं हो पाया वह साम्राज्य की अविभाज्यता का था। बाबर ने मृत्यु से पूर्व हुमायूँ को अपने भाइयों के मध्य साम्राज्य को बाँटने की सलाह दी थी जिसके कारण से उसे मुसीबतों का सामना करना पड़ा। हुमायूँ शाही सम्प्रभुता या अधिकार को ईश्वर द्वारा प्रदान की हुई मानता था। वह बादशाह को ईश्वर की छाया मानता था। इसके अतिरिक्त साम्राज्य को व्यक्तिगत सम्पत्ति मानता था जिसे वह अपनी मर्जी के अनुसार बाँट सकता था।

अकबर ने सम्प्रभुता एवं बादशाहत को एक नया रूप देकर उसे सशक्त वैचारिक आधार प्रदान किया। उसने सम्भवतः यह निश्चित कर लिया था कि परम्पराओं के नाम पर वह बोझा नहीं ढ़ोएगा बल्कि अपने पूर्वजों द्वारा छोड़ी गई परम्पराओं में से कुछ चुनकर स्वीकार करेगा। उन स्वीकार की गई बातों को उसने अपने राजत्व की धारणा को विस्तार देने के काम में लिया। उसे बैरमखाँ के संरक्षण में काफी कटु अनुभव रहे थे। बैरमखाँ सम्पूर्ण साम्राज्य का सर्वेसर्वा था एवं वह अपने बराबर किसी को कुछ भी नहीं समझता था। कई मामलों में उसने बादशाह की भी अनदेखी करनी प्रारम्भ कर दी थी जिससे युवा अकबर का तिलमिलाना स्वाभाविक था। बैरमखाँ के व्यवहार से ऐसा लगने लगा था कि वह साम्राज्य का प्रशासन चलाकर बादशाह पर अहसान कर रहा है। दूसरा साम्राज्य में उलेमा वर्ग का अत्यधिक प्रभाव था जो बादशाह के मामलों में काफी दखल देता रहता था। वे अकबर को साम्राज्य संचालन में सलाह देते रहते थे एवं जिसको वे अपना अधिकार मानते थे। इन परिस्थितियों में अकबर ने इन अनचाहे जुओं को उतार फेंकना उचित समझा। उसने अमीर वर्ग एवं उलेमाओं के माध्यम से मुस्लिम समुदाय को यह स्पष्ट कर दिया कि बादशाहत उनकी ओर से भेंट नहीं है बल्कि यह ईश्वर द्वारा दी हुई है। दूसरा बादशाह ईश्वर की परछाई है जिसे फारसी में जिल्ले इलाही कहा जाता है। इसके द्वारा उसने दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त पर बल दिया जिसका सीधा तात्पर्य था कि किसी भी सांसारिक व्यक्ति का इसमें कोई योगदान नहीं है। इससे भी बढ़कर बादशाह की स्थिति को मजबूत करनेवाली यह धारणा थी जिसमें उसने बादशाह को धरती पर ईश्वर या खुदा का प्रतिनिधि घोषित कर दिया। उसके अनुसार खिलाफत अर्थात् आध्यात्मिक प्रभुसत्ता एवं बादशाहत अर्थात् राजनीतिक प्रभुसत्ता के दोनों अधिकार उसके पास हैं।

अबुल फजल ने अपने ग्रन्थ में बादशाहत की विशेषताओं के बारे में विस्तार से प्रकाश डाला है। उसके अनुसार बादशाहत खुदा से निकलने वाली रोशनी (फर्र–ए–इज्दी) है और जिसे खुद उसने ही पृथ्वी पर भेजा है, इसलिए उसमें ऐसी अनेक सहज विशेषताएं हैं, जो उस रोशनी को धारण करनेवाले व्यक्ति में खुद–ब–खुद ही प्रवेश कर जाती हैं। उसके अनुसार एक आदर्श बादशाह खुदा की परछाई होता है जो चरम और अविभाज्य शक्ति का उपयोग करते हुए अपने अधीनस्थ राज्य या इलाकों में एक नियम एक नियामक, एक मार्ग–दर्शक, एक लक्ष्य और एक विचार" के अनुसार अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करता है।

बादशाह को कैसा होना चाहिए इस सम्बन्ध में अबुल फजल ने अकबरनामा में लिखा है जिसे डॉ० निर्मल कुमार ने संक्षिप्त रूप में अपने शब्दों में प्रस्तुत किया है। अबुल फजल ने लिखा है कि बादशाह को चाहिए कि वह अपने को अपनी प्रजा का पिता समझे और उसकी सुख–सुविधा का ध्यान रखते हुए प्रजा–पालक बना रहे। अबुल फजल ने बिना किसी लाग–लपेट के यह भी बतादिया है कि किसी पादशाह में चाहे ऊपर गिनाए गए सभी उत्कृष्ट गुण मिलते हों, किन्तु यदि उसके शासन में "सार्वभौमिक शान्ति उद्घाटित न होती हो" और यदि वह सभी धर्म और सम्प्रदायों के माननेवालों के पक्ष में समान दृष्टिकोण न अपनाए और यदि वह किसी के साथ सगे बेटे की तरह और किसी के साथ सौतेले बेटे की तरह व्यवहार करे, तो वह पादशाहत की "उच्च गरिमा" को धारण करने का अधिकारी नहीं माना जाएगा। उसका दावा है कि अकबर में ये सभी आवश्यक गुण मौजूद थे जो लोगों को आध्यात्मिक आनन्द दिला सकें तथा संघर्षरत विभिन्न धर्म–मतावलम्बियों के बीच सामंजस्य स्थापित कर सकें। अबुल फजल द्वारा प्रतिपादित पादशाहत के सिद्धान्त ने अकबर को एक ऐसी समुचित वैचारिक आधार–भूमि प्रदान की, जिस पर उसने व्यापक सम्प्रदाय–निरपेक्ष साम्राज्य, पितृ व्यवहार प्रधान निरंकुश शासन तथा सामाजिक संस्कृति स्थापित की। इस विचारधारा के परिणामस्वरूप ही अकबर संकीर्ण धार्मिक मनोवृत्तियों से ऊपर उठ सका और उसकी राज्य सम्बन्धी नीतियाँ कथनी और करनी दोनों रूपों में इस्लाम के प्रतिबन्धों से मुक्त रहीं। उसकी शासन–कला का सूत्र इस्लामी कानूनों और हिदायतों के अनुसार नहीं चलता था, वरन् 'सुलह–ए–कुल' (सभी के साथ शान्ति) से बँधा हुआ था।

अबुल फजल मुगल बादशाह को सर्वशक्तिमान बनाना चाहता था। वह उसको उलेमाओं के नियन्त्रण से भी मुक्त करना चाहता था इसलिए उसने महजर की घोषणा का समर्थन किया था। उसने इस बात पर विशेष बल दिया कि बादशाह की स्थिति उलमा से हर दृष्टि से ऊँची एवं उत्तम है। उसने इस बात पर बल दिया कि चूँकि बादशाह हर स्तर पर पाए जानेवाले मतभेदों या छोटे–बड़े संघर्षों को दूर करता है, इसलिए वह अपने कर्तव्य का निर्वाह सुगमता से करता रहे, इसके लिए उसके हाथ में निरंकुश शक्ति होनी चाहिए

अबुल फजल द्वारा जब बादशाह को दैवी एवं ईश्वर या खुदा से जोड़ा गया तब इसे हिन्दू जनता एवं स्थानीय जमींदारों से भी समर्थन मिला क्योंकि भारत में प्राचीन–काल से ही राजा को दैवीय अधिकारों से लैस माना जाता था। इसलिए इस सम्बन्ध में मुगलों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त एवं प्राचीन हिन्दू सिद्धान्तों में समानता ने अकबर को बडी सहायता एवं राहत पहुँचाई।

अबुल फजल ने जितने व्यापक अधिकारों से बादशाह को लैस किया एवं उसे प्रशासन की सभी शाखाओं का मुखिया घोषित किया उससे एकछत्र स्वेच्छाचारी शासक की छवि उभरकर सामने आई। वह साम्राज्य के साथ–साथ धर्म का भी अध्यक्ष था अबुल फजल ने तो बादशाह को कुरान के कानूनों से भी मुक्त रखा। यद्यपि राज्य में सिद्धान्ततः यही कानून था। बादशाह के ही पास सभी क्षेत्रों में सर्वोच्च अधिकार थे जिनकी बराबरी कोई भी व्यक्ति नहीं कर सकता था। प्रो० जगदीश नारायण सरकार ने मुगल बादशाह के अधिकारों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है जिसे डॉ० निर्मल कुमार ने उद्धृत किया है – (1) संविधानिक और प्रशासनिक महत्त्ववाले परमाधिकार, (2) रस्मो–रिवाज या समारोहमूलक तथा दरबार के शिष्टाचार और कार्य–विधि सम्बन्धी परमाधिकार (3) खेल–कूद, आखेट, मनोरंजन आदि तथा युद्ध क्रीड़ा से सम्बन्धित परमाधिकार। इन परमाधिकारों में पादशाह के नाम पर पढ़ी जानेवाली जुम्मे की नमाज (खुतबा), दरबार में मिलने वाली सलामियाँ, जिन्हे तसलीम और 'कोर्निश' कहते थे एवं 'शिकारे–जरगाह' (एक विशेष प्रकार का शिकार या आखेट) के अधिकार सम्मिलित थे।

डॉ० निर्मल कुमार ने अकबर को सर्वाधिकार सम्पन्न बताते हुए लिखा है कि बाबर और हुमायूँ की तुलना में अकबर के पास शक्ति का अक्षय भण्डार था। बाबर और हुमायूँ काल में अमीर वर्ग पर्याप्त शक्तिशाली था। किन्तु अकबर ने अमीर वर्ग के घुटने टिका दिए और अन्त में उसे शाही निरंकुशता या एकतन्त्र का निष्ठावान किन्तु शक्तिशाली साधन बना दिया। सन् 1579 ई० के महजर की बदौलत अकबर के धर्म और राज्य, दोनों के मुखिया बन जाने के बाद उलमा की शक्ति काफी कम हो गई। इसी महजर की बदौलत अकबर द्वारा 'इमाम' और 'अमीरूल–मुमीनीन' की उपाधियाँ धारण कर लेने के बाद भारतीय साम्राज्य पर खलीफा की सर्वोच्चता का दावा भी आखिरकार खारिज हो गया। सिक्कों पर लिखे लेख और 'खुतबा' में उसे खलीफा बताया गया है अकबर के शासनकाल में ही भारत में राजसत्ता किसी प्रकार के विदेशी या बाहरी दबाव से निकलकर पूरी तरह स्वतन्त्र हुई

उपरोक्त वर्णन से एक बात तो उजागर हो जाती है वह है मुगल बादशाह की निरंकुशता। लेकिन साथ में यह बात भी सही है कि इसका यह अर्थ कदापि नहीं निकालना चाहिए कि उस पर किसी प्रकार कोई पाबंदी नहीं थी। उस पर सामाजिक रीति–रिवाजों के पालन करने का प्रतिबन्ध था। अबुल फजल ने स्वयं शाही शक्ति की सीमाओं पर अंकुश की बात कही है। उसने लिखा है कि बादशाह को अपने समय की भावनाओं एवं प्रचलित विचारों से अपने को पूरा जानकार होना पड़ता था। यह बात तो बिल्कुल सही है कि अकबर समकालीन लोगों की प्रतिक्रिया से बहुत डरता था इसीलिए वह पूर्णतः सुधारवादी एवं परिवर्तनकारी नहीं बन सका। इसका सीधा सा कारण परम्परावादियों का भय था। भय उनके नाराज होकर विद्रोह करने का था। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यह एक प्रकार का बादशाह पर प्रतिबन्ध ही था। इसके अतिरिक्त साम्राज्य की विशालता, अविकसित आवागमन के साधन एवं निष्क्रिय गुप्तचर व्यवस्था आदि भी कारण थे। इन कठिनाइयों के कारण बादशाह के आदेशों को लागू करना मुश्किल काम था। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मुगल बादशाहों की निरंकुशता सीमित थी, उस पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध थे।

इससे एक बात निश्चित हो गई कि अकबर बादशाह के पद को वैधानिकता प्रदान करना चाहता था इसलिए इस सम्बन्ध में दी गई किसी भी सलाह को स्वीकार कर लेता था। ऐसी ही एक सलाह 1573 ई० में शेख मुबारक ने दी। उसने बादशाह से प्रार्थना की कि बादशाह को अपनी प्रजा का धार्मिक नेतृत्व भी उसी प्रकार करना चाहिए जिस प्रकार वह उसका राजनीतिक नेतृत्व करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अकबर खिलाफत भी करे। अकबर ने यह सुझाव तुरन्त ही स्वीकार नहीं किया। सारे लोगों से गम्भीरता से विचार–विमर्श किया। इसके बाद 1575 ई० में बादशाह ने इबादतखाना की स्थापना की। इसमें मुस्लिम धर्माचार्यो को बुलाया और बहसें करवाई लेकिन उनसे असन्तुष्ट होकर अकबर ने हिन्दुओं के लिए भी इसके दरवाजे खोल दिए।

ऐसा प्रतीत होता है कि अकबर ने इन धार्मिक बहसों से उकताकर धार्मिक नेता का पद भी ग्रहण करने का निर्णय ले लिया। उसके 'इमामे आदिल' की उपाधि धारण करने के इरादे का पता तब लगा जब मोहम्मद पैगम्बर के जन्म दिवस बारह वफात 26 जून, 1579 को उसने उस मस्जिद के मिम्बर से स्वयं खुतबा पढ़ा जिसे उसने कुछ वर्ष पहले निर्माण कराया था। बादशाह का स्वयं खुतबा पढ़ना मुस्लिम संसार या तैमूरी शासकों के इतिहास में कोई नई बात न थी। बहुत से खलीफाओं और अकबर के तैमूर और उलुग बेग मिर्जा जैसे पूर्वजों ने अपने–अपने समय में स्वयं खुतबा पढ़ा था।

इसके बाद 2 सितम्बर, 1579 ई० को कई प्रतिष्ठित विद्वानों के हस्ताक्षरों से एक फतवा जारी किया गया। इस फतवे को मय अपनी टिप्पणी के प्रो० आर०पी० त्रिपाठी ने अद्धृत किया है। जिसके अनुसार अकबर को इमामे आदिल घोषित किया गया। घोषणा यह थी :" हम घोषणा करते हैं कि सुल्तानुल इस्लाम, कहफुल अनाम अमीरूल मोमनीन, जिल्लल्लाहो अलल आलेमीन अबुल फतह जलालुद्दीन मोहम्मद अकबर बादशाह गाजी ,खल्दल्लाहो मुल्कह अबदन एक निहायत ही मुंसिफ और बुद्धिमान बादशाह हैं।" अतएव "सर्व सम्मति से हम फतवा देते हैं कि सुल्ताने आदिली का मर्तबा खुदा की नजर में मुजतहिद के मर्तबे से ऊँचा है।" अपने वैधानिक पद के अनुसार उसे मुजतहिदों के विरोधी मतों में उस मत को मान्यता देने का अधिकार है जिससे उसकी दृष्टि में "मानव का हित हो और शासन व्यवस्थित रहे" और इस आशय से उसका निर्णय सभी प्रजाजनों को मान्य होगा।" "यदि कुरान (और हदीस) के अनुसार बादशाह सलामत कोई नया फतवा राष्ट्र के हित के लिए देना उचित मानेंगे तो वह भी सबको मान्य होगा।" इससे यह प्रत्यक्ष है कि अकबर को मुजतहिद का पद नहीं मिला जो किसी भी संदेहास्पद प्रश्न पर स्वतन्त्र निर्णय करने का अधिकारी होता था। यह कहना नितान्त असत्य है कि अकबर मुजतहिद या अभ्रान्त मान लिया गया। जिस किसी विषय पर मुजतहिदों में मतभेद हों, वहीं विभिन्न मतों में उसे एक मत चुनने का अधिकार मिला। सर्वसम्मत विषय पर चुनाव का प्रश्न हीं नहीं उठता था। हाँ, प्रजा हित और व्यवस्था तथा शान्ति रक्षा के लिए यदि वह कोई नया आदेश देना चाहता, तो वह कुरान (और हदीस) के अनुकूल होने पर ही मान्य हो सकता था। बादशाह का अधिकार यहाँ तक वैधानिक था, शरियत और व्यवहार के अनुकूल था। कोई आश्चर्य नहीं कि इस फतवे पर विभिन्न देश–मत के उलमा ने हस्ताक्षर कर दिए।

अतः उपरोक्त वर्णन से एक बात निर्धारित हो गई कि अगस्त–सितम्बर 1579 ई० में महजर नामक दस्तावेज द्वारा अकबर ने विधिवत रूप से धार्मिक एवं भौतिक सत्ता को अपने हाथों में केन्द्रित कर लिया। इस दस्तावेज ने अकबर को अमीर–उल–मोमिनीन (इस्लाम के अनुयाइयों का नायक) का पद दे दिया। इस प्रकार महजर के द्वारा अकबर ने उलेमाओं की शक्तियों में कटौती करके बादशाह के हाथों में केन्द्रित कर ली।

बादशाह की प्रतिष्ठा बढ़ाने एवं पद को गरिमामय बनाने के लिए कदमः

अकबर ने बादशाह के पद की गरिमा बढ़ाने एवं उसे अमीरों के मध्य सम्माननीय बनाने के लिए कई महत्वपूर्ण कदम उठाए। प्रो० श्रीराम शर्मा ने दरबारी समारोहों का वर्णन करते हुए लिखा है कि अकबर ने दरबार में अनेक नवीन समारोहों का आयोजन भी किया। हुमायूँ ने कोर्निश एवं तस्लीम के द्वारा सम्राट के प्रति आदर प्रकट करने की विधि आरम्भ की, जिसके अनुसार सम्राट के सामने झुकना पड़ता था प्रतीत होता है कि अकबर ने इस प्रणाली को सर्वमान्य कर दिया। दिल्ली के ताजुद्दीन जैसे धार्मिक

विद्वानों के प्रतिवाद के उपरान्त भी कट्टर धर्मावलम्बियों ने इस प्रणाली को इस्लामी शिक्षा के विरुद्ध माना, अतः इस प्रणाली का खुले दरबार में प्रयोग रोक दिया गया। परन्तु सम्राट के निजी कक्ष में होनेवाली सभाओं में इस प्रणाली का अनुसरण चलता रहा था। जो लोग इसको धर्म–विरुद्ध मानते थे उनको इसका अनुसरण करने के लिए कभी बाध्य नहीं किया गया। 1590–91 ई० में बदायूँनी ने दरबारियों के कहने पर भी इस विधि के अनुसार सम्राट के समक्ष झुकने से इन्कार कर दिया। परन्तु इस धृष्टता का उसे कोई दण्ड भोगना नहीं पड़ा। चार वर्ष उपरान्त 1595–96 ई० में बदायूँनी का मत बदल गया और उसने सम्राट के सामने सिजदा किया, जिसके अनुसार सम्राट से मिलने पर उसके सामने झुकना पड़ता था। सम्राट के प्रति अभिवादन की यह प्रणाली सर्वमान्य हो गई और जहाँगीर के समय में भी चलती रही। शाहजहाँ ने विद्वानों को सिजदा न करने की छूट दे दी। परन्तु अन्य लोगों के लिए यह प्रथा कुछ काल तक चलती रही।

अकबर ने हिन्दुओं की निर्धनों को दान देने की 'तुलादान' प्रथा को स्वयं दान करने के लिए अपनाया। विभिन्न शुभ अवसरों पर सम्राट को विविध पदार्थों के बराबर तोला जाता था और ये पदार्थ हिन्दू एवं मुसलमान दीन–दुःखियों को दे दिए जाते थे। इसके अतिरिक्त झरोखा दर्शन आदि प्रथाओं का चलन भी प्रारम्भ किया। परिणाम यह हुआ कि जनता के सभी वर्गों में तथा अमीरों में भी शहंशाह के प्रति ताबेदारी में अधिकाधिक वृद्धि होती गई।

प्रो० रामप्रसाद त्रिपाठी ने मुगलों द्वारा बादशाह की गरिमा को बढ़ाने के लिए जो उपाय किए उनका सांगोपांग वर्णन किया है। इनके अनुसार सभी बादशाहतों में जनता पर प्रभुत्व का जादू जमाने के लिए 'जनसेवा के उपयुक्त अंगों के अतिरिक्त प्रभावोत्पादक अंग भी होते हैं। बड़े–बड़े दरबार और दीवान, समृद्धि और सौजन्यपूर्ण सरकारी उत्सव, शाही के चमत्कारपूर्ण साज–सामान इन सब का एकमात्र उद्देश्य रहा शासक और शासन की शान से जनता को मुग्ध करना। भारत के प्रारम्भिक तुर्क सुल्तानों ने इस आवश्यकता का अनुभव करके ईरान के कयानी शाहों के अनुकरण पर अपने दरबार और उसके शिष्टाचार का ब्यौरेवार संगठन किया था। बलबन का दरबार इतना शानदार था कि लोग दो–तीन सौ मील चलकर उसे देखने जाते थे और भारत के बाहर भी इस दरबार की धूम थी। ईद, शबे–बारात और नौरोज के तीन शाही उत्सव बहुत धूम से मनाये जाते थे और ज्योंनारों, उत्सवों, नजरों और खुशिहाली के लिए दौलत पानी की भाँति बहाई जाती थी। दरबार जरी और रेशम के लिबासों से चमकते थे और उसकी शान बढ़ाने के लिए सभी युक्तियाँ काम में लाई जातीं और सभी प्राप्य साधनों का प्रयोग होता। इन बड़े दरबारों में सुल्तान बैठता और उसको सभी बड़े–छोटे सिजदा करते। इस सिद्धान्त का भी यथाशक्ति प्रचार होता कि बादशाह 'ईश्वर की छाया' है, यद्यपि मुल्ला वर्ग इसका कुछ काल तक विरोध करके अन्ततः इस नीति का समर्थक हो गया।

दिल्ली सल्तनत के प्राचीन गौरव का पुनरुद्धार करना और जनता तथा एशिया के राष्ट्रों के मध्य बादशाह का रूतबा बढ़ाना मुगलों का ही काम था। मुगलों का विश्वास बादशाह के दैवी अधिकार के पक्ष में था और तुर्कों की अपेक्षा उनके हृदय में बादशाहत के प्रति अधिक श्रद्धा थी। बाबर ने भी मिर्जा की उपाधि समाप्त करके तैमूरियों के इतिहास में पहली बार पादशाह की उपाधि धारण की।

मुगल साम्राज्य की शान के अनुकूल अकबरी दरबार संगठित हुआ। विशाल महल और भवन बनवाए गए, ऊँचे पैमाने पर इमारतें आयोजित हुए, शाही साज–सामान का ऊँचे स्तर तक विकास हुआ और शाही तख्त की इज्जत के लिए दरबारी रस्मों का भारी बोझ बनाया गया। उत्सवों और जुलूसों में ईरानी अनुकरण पर नौरोज का उत्सव लगभग सन् 1580–81 ई० से फिर से शुरू हुआ। प्रति वर्ष मार्च में जब सूर्य मेष राशि में प्रवेश करता था तो वर्ष की वासंतिक नवीनता का उत्सव होता था। उन्नीस दिन–रात तक आनन्दोत्सव होते रहते थे जिनमें संगीत, नृत्य, ज्योनार और रोशनी का दैनिक क्रम चलता था। साम्राज्य की सम्पूर्ण निधि का अनेक मोतियों, सुवर्ण के आभूषणों और चमत्कारिक वस्तुओं सहित विशाल दरबारों में प्रदर्शन होता था। इन दरबारों में अमीर अपने बढ़िया से बढ़िया लिबास पहने खड़े–खड़े सुधारों तथा खिलतों की सूचनाएँ, सर्वोत्तम संगीतज्ञों के मधुर गीत और भारत तथा ईरान के सर्वोच्च कवियों की कविताएँ सुनते थे। यहीं बादशाह जागीरें तथा तरक्कियां बख्शता था और कवियों तथा कलाकारों को पुरस्कृत करता था। अमीर भी अपने–अपने पद के अनुकूल छोटे–बड़े दरबार करते थे जिनमें कुछ तो बादशाह की उपस्थिति से सुशोभित होते थे। ऐसे अवसरों पर अमीर प्रतिद्वंद्विता की भावना से प्रेरित होकर एक–दूसरे से बढ़े चढ़े प्रदर्शन का प्रयत्न करते।

उत्सव के तीसरे दिन मध्य एशियाई प्रणाली के अनुकरण पर मीना बाजार लगता था जिसमें शाही हरम की नारियाँ और अन्य घरों की नारियाँ भी" औरतों ही द्वारा सजी गई दुकानों से खरीददारी के लिए "निमन्त्रित होती थीं।" विवाहिता ही प्रवेश करने पाती थीं और सम्भवतः बादशाह के अतिरिक्त कोई पुरूष उसमें प्रवेश नहीं करने दिया जाता था। मीना बाजार के समाप्त होने पर दरबारियों के लिए बाजारें लगती थीं। इन बाजारों में खरीददार आमतौर से धनी–मानी ही होते थे, साम्राज्य के सुदूर भागों से, अन्य देशों से भी, व्यापारी अपनी–अपनी बहुमूल्य वस्तुएं इस आशा से बेचने लाते थे कि उन्हें पारखी ग्राहक प्राप्त होंगे। शहंशाह स्वयं दुकान–दुकान जाता था। "ऐसे मौकों पर बाजार के लोग चौबदारों से स्वतन्त्र होकर बादशाह के रूबरू अपनी शिकायतें पेश कर

सकते और अपनी स्थिति जताने के लिए अपने सब सामान सजा सकते थे।" व्यापारी खूब लाभान्वित होते थे। खरीददारी में अमीर तो खर्च करते ही थे, बाजारों के निर्माण और नकद खरीद में बादशाह को भी खूब खर्च करना पड़ता था। ये उत्सव इस प्रकार प्रदर्शनियों का काम देते थे।

नौरोज वर्ष का सबसे बड़ा उत्सव था। परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य उत्सव भी हुआ करते थे। प्रतिमास एक दिन और दिसम्बर में तीन दिन ज्योनारें होती थीं। परन्तु नौरोज से प्रदर्शन और महत्व में कुछ कम पाँचवीं रजब और 15वीं अक्टूबर के उत्सव होते थे जब चन्द्र मास और सौर वर्ष के हिसाब से बादशाह की जन्मगाँठ मनाई जाती थी। इन दिनों पर भी बड़ी–बड़ी ज्योनारें होतीं, खिल्लतें बख्शी जातीं, शाही माफियाँ सूचित की जातीं और सभी वर्ग के लोगों को बख्शीशें मिलतीं। कैदी और कुछ पशु भी रिहा होते। साधु और भिखमंगे भेंटें, दान और पारितोषिक पाते।

दरबारों और उत्सवों में तो बादशाह अपनी प्रजा को दर्शन देता ही था, सम्भवतः अपने पिता की रीति के अनुसार वह नित्य प्रातः महल के झरोखे से प्रजा को दर्शन देता और जब डेरे में होता तो अपने दु–खण्डे तम्बू के ऊपर के खण्ड की खिड़की से दर्शन देता था। झरोखे के नीचे नित्य भीड़ इकट्ठी होती। अधिकाँश अपने सम्राट् के दर्शन के लिए ही पहुँचते थे, परन्तु कुछ अपनी शिकायतों की दुहाई भी देते थे। हिन्दुओं ने इस प्रथा का विशेष स्वागत किया क्योंकि वे बादशाह को विष्णु का अवतार मानते थे। कुछ हिन्दू तो दर्शन के व्रती थे, वे बादशाह के दर्शन करके ही जलपान करते थे।

प्रो० श्रीराम शर्मा ने लिखा है कि जहाँगीर ने अकबर द्वारा प्रारम्भ किए गए दरबारी समारोह जारी रखे। नव वर्ष दिवस यथापूर्व मनाया जाता था। तुलादान की प्रथा चलती रही। ग्रहण के अवसर पर जहाँगीर ने अपने आपको तुलवाया ताकि आपत्ति टल जाए। जब उसको बताया गया कि राजकुमार खुर्रम पर कोई आपत्ति आनेवाली है तो आपत्ति से बचाने के लिए उसको तुलवाया गया। विभिन्न कार्य सम्पन्न करने के लिए शुभ समय निश्चित करने के लिए हिन्दू ज्योतिषियों की नियुक्ति यथापूर्व चलती रही और प्रतिष्ठित मुसलमानों ने भी इस प्रथा को प्रोत्साहन दिया और वे हिन्दू ज्योतिषियों को अपने साथ रखते थे। सिजिदा के विवादयुक्त प्रश्न पर भी जहाँगीर ने कुछ हद तक समझौता कर लिया और शासन के छठे वर्ष में 'मीर आदिलों' और 'काजियों' को 'जमीन बौस' करने से मुक्त कर दिया। इस प्रकार वे दोनों वर्ग जिनसे धार्मिक कारणों से इस प्रथा का विरोध करने की आशंका थी, इसका पालन करने से मुक्त करा दिए गए। परन्तु यदि कोई कट्टर मुल्ला दरबार में आता था तो उसके लिए सिजिदा करना अनिवार्य था, ऐसा न करने से विवाद बढ़ने की सम्भावना रहती थी। हम यह देख चुके हैं कि सिजिदा न करने के कारण शेख अहमद को कितना कष्ट भोगना पड़ा था, परन्तु उसके बन्दीखाने से मुक्त होने पर जहाँगीर के साथ जो उसका मेल–मिलाप हुआ, उसका कारण जहाँगीर द्वारा उसे सिजिदा न करने की छूट प्रदान करना ही प्रतीत होता है। जहाँगीर शेख को अपने साथ रखने एवं उससे सिजिदा करवाने के लिए बड़ा उत्सुक था। प्रसिद्ध विद्वान् नसीरूद्दीन बुरहानपुरी के साथ जहाँगीर की जो भेंट हुई थी उससे पता चलता है कि उसने विख्यात विद्वानों और परामर्शदाताओं को दरबारियों की भाँति सिजिदा करने या न करने की स्वतन्त्रता प्रदान कर रखी थी। उपरोक्त महान् विद्वान् को सम्राट से भेंट करने के लिए बुरहानुपर से बुलाया गया था। वह सम्राट से उस समय मिला जब वह उद्यान से बाहर निकल रहा था। जब वह सिजिदा करने के लिए प्रस्तुत हो रहा था तो सम्राट ने आगे बढ़ कर उसके साथ आलिंगन कर लिया।

जहाँगीर के बाद शाहजहाँ के समय की बादशाह की गरिमामय बनाने के लिए शाहजहाँ ने उनमें संशोधन करके उनको जारी रखा। औरंगजेब ने इन प्रथाओं का अन्त कर दिया।

जहाँ तक बादशाह की स्थिति का प्रश्न है उसमें अकबर से लेकर औरंगजेब के काल तक कोई परिवर्तन नहीं आया। अकबर के मुख्य विचारक अबुल फजल के अनुसार बादशाह खुदा का नूर और सूर्य की किरण होता है तथा अकबर में यह नूर विद्यमान था। जहाँगीर भी बादशाहत को ईश्वर की भेंट मानता था। शाहजहाँ ने आदिलशाह को लिखे फरमान में अपने आपको खुदा की परछाई (जिल्ले इलाही) माना है। औरंगजेब ने इस संसार में स्वयं को खुदा का प्रतिनिधि माना है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि बादशाहत या राजशाही को वैधानिक आधार प्रदान के लिए इन सारी चीजों में लोगों का विश्वास पैदा किया। जो लोग ईश्वर के अस्तित्व को मानते थे उनके लिए बादशाह की सत्ता के आगे अपना सिर झुकाना आवश्यक था क्योंकि वह ईश्वर का प्रतिनिधि था। इस वैधानिकता पर बाहरी आवरण चढ़ाने के लिए चमत्कृत कर देनेवाले दरबारी आयोजन आयोजित किए गए ताकि उनके प्रभाव में असीमित बढ़ोत्तरी हो सके। प्रो० सतीशचन्द्र ने अबुल फजल के आधार पर लिखा है कि उसकी मुख्य धारणा बादशाह के उदार निरंकुश चरित्र का समर्थन करती थी जिसमें नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियाँ समाहित होती थीं। उसे ईश्वर की सत्ता का भी समर्थन था। इसके पश्चात उसे वैधानिकता के लिए किसी भी धार्मिक नेता पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था।

अध्याय-7

मुगल शासक वर्ग का गठन

मुगल–काल में एक ऐसे शासक वर्ग की आवश्यकता थी जो शासन चलाने में बादशाह की सहायता कर सके। इसलिए मुगल बादशाह ने सामाजिक एवं राजनीति क्षेत्र से विभिन्न समूहों एवं वर्गों के लोगों में से चुनकर उन्हें राज्य सेवा में भर्ती किया। मुगल काल में इस वर्ग के लिए सामान्यतः उमरा शब्द का प्रयोग होता था जो अमीर का बहुवचन था। इस वर्ग में सामान्यतः एक हजार जात से अधिक मनसब धारण करनेवाले सभी बड़े अधिकारी सम्मिलित होते थे। सामान्यतः एक हजार जात का मनसब साधारण मनसबदार एवं अमीर वर्ग के मध्य अन्तर निश्चित करनेवाली रेखा थी। वैसे कभी–कभी अपवाद के तौर पर इससे कम मनसब धारण करनेवाले को भी अमीर वर्ग में सम्मिलित कर लिया जाता था। सामान्यतः वे बादशाह के अधीन अधिकारी होते थे जिनकी दरबार के अन्य अधिकारियों के मध्य एक अच्छी स्थिति होती थी।

सैद्धान्तिक रूप में मुगल अमीर–वर्ग सम्राट की ही रचना थी। केवल उसको ही अपनी प्रजा का मनसब प्रदान करने, उसमें उन्नति करने या अवनति करने या उसको जब्त करने का एकाधिकार प्राप्त था। परन्तु यह धारणा कि मुगल अमीर–वर्ग में कोई व्यक्ति योग्यता के किसी निर्धारित माप–दण्ड की पूर्ति करके और सम्राट को सन्तुष्ट करके सम्मिलित हो सकता था, भ्रामक है। मनसबदार केवल जनसेवक ही न थे वरन् साम्राज्य के सम्पन्नतम एवं कुलीन–वर्ग के सदस्य होते थे तथा इस विशिष्ट वर्ग में साधारण व्यक्ति चाहे वह कितना भी योग्य क्यों न हो, सामान्य रूप से प्रवेश पाने का अधिकारी न था।

शासक वर्ग का जन्म एवं उसका गठन

मुगल शासक वर्ग एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया की उपज है। मुगल बादशाह अपने साथ मध्य एशिया से तुर्की–मंगोल परम्परा लेकर आए थे जिनकी सहायता से वे भारत में एक शासक वर्ग का निर्माण करना चाहते थे। लेकिन उन्होंने सूझ–बूझ का परिचय देते हुए दिल्ली सुल्तानों के अनुभवों का लाभ उठाया। इस प्रकार उन्होंने इन दो परम्पराओं को भारत की परिस्थितियों के अनुसार समन्वयन करने के पश्चात् लागू किया। इसमें मुगल बादशाहों की प्रतिभा का भी योगदान रहा था, जिन्होंने भारत में एक शासक वर्ग का गठन किया। जब बाबर ने इब्राहीम लोदी एवं मेवाड़ के महाराणा साँगा को पराजित करके मुगल साम्राज्य की नींव रखी तो इसमें वहाँ से आए ऐसे साथी थे जो तुर्की–मंगोल परम्पराओं में पले थे। इसलिए यह कहा जा सकता है कि बाबर अपने साथ संस्था के रूप में उस उमरा परम्परा को भी साथ लाया जिसका विकास चगताइयों के बीच हुआ था और उसके मरने पर यह परम्परा साम्राज्य के साथ–साथ उसके उत्तराधिकारी हुमायूँ को वसीयत के रूप में प्राप्त हुई। फिर भी दावे के साथ यह कहना मुश्किल होगा कि विदेशी चरित्र वाली यह उमरा परम्परा तैमूर वंश के साथ किसी वफादारी के रिश्ते में बँधी थी या कि वह अपने साथ एक समान परम्परा या समान उद्देश्य की भावना लेकर आई थी। बहुजातीय और धार्मिक दृष्टि से बिल्कुल भिन्न तत्त्वों से एक समरूपी उमरा परम्परा का विकास करने का श्रेय तो अकबर को ही जाता है। उसके अधीन अमीर वर्ग शाही इच्छा का एक प्रभावशाली और विश्वसनीय माध्यम बन सका।

डॉ० बी०एस० चयानी ने इसके विकास को रेखांकित किया है। बाबर और हुमायूँ के शासनकाल में और अकबर के शासनकाल के आरम्भिक वर्षों में विकास के अपने पहले दौर में इस मुगलकालीन अमीर वर्ग में कुछ जानेमाने जातीय वर्ग के लोग ही सम्मिलित थे। ये वर्ग थे– तूरानी, ईरानी, अफगान, शेखजादे (भारतीय मुसलमान) और राजपूत आदि। इक्तिदार आलम खान का कहना है कि 1560 और 1575 ई० के बीच जब मुगल शासन व्यवस्था में राजपूतों और भारतीय मुसलमानों का दखल हुआ और एक पैमाने पर ईरानियों की तैनाती में बढ़ोत्तरी होने लगी तो इसका परिणाम यह हुआ कि अमीर वर्ग में तूरानी रंग फीका पड़ने लगा। बाद में शासन व्यवस्था में चगताई परम्पराएँ और रश्मो–रिवाज धीरे–धीरे खत्म होने लगे। आगे चलकर सत्रहवीं शताब्दी में जब दक्कन में मुगल सत्ता ने जोर पकड़ा तो दक्कनियों अर्थात् बीजापुरियों, हैदराबादियों और मराठों का दखल भी बढ़ गया।

प्रो० अतहर अली के अनुसार मुगलकालीन अमीर वर्ग और इन विभिन्न वर्गों की सेवा में भर्ती मोटे तौर पर ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हुई और आँशिक रूप से विशेषकर राजपूतों का सम्मिलित होना नियोजित शाही नीति के फलस्वरूप। अकबर

ने शाही सेवा में इन सभी तत्त्वों के एकीकरण की नीति का अनुसरण किया। उसने जिस उदार धार्मिक नीति का पालन किया, उसके फलस्वरूप अमीर वर्ग में काबिल हिन्दुओं को लाने में उसे सफलता मिली। इनमें अधिकतर राजपूत राजा थे जिन्होंने अकबर के साथ विवाह–सम्बन्ध बढ़ाए। अन्य लोगों को उनकी योग्यतानुसार मनसबदारियाँ दी गई। इस वर्ग में टोडरमल और बीरबल आते हैं। टोडरमल सबसे काबिल और प्रसिद्ध व्यक्ति थे, जो राजस्व सम्बन्धी मामलों के विशेषज्ञ थे ओर दीवान के पद तक पहुँचे। बीरबल तो अकबर के बहुत ही मुँहलगे थे। अकबर ने सुलह–ए–कुल की नीति चलाई जिसका उद्देश्य था– विभिन्न धार्मिक मान्यताओं, सुन्नी, शिया और हिन्दू (मुख्यतः राजपूतों को) मिलाना और उनमें पाए जानेवाले साम्प्रदायिक मतभेदों को दूर करना ताकि वे मतभेद शाही तख्त के प्रति वफादारी में बाधा न डाल सकें।

अमीर वर्ग के संगठन के बारे में जे०एफ० रिचर्ड्स सारा श्रेय अकबर को देते हैं। उनके अनुसार इससे न केवल विभिन्न समूहों में सन्तुलन स्थापित हुआ अपितु अमीरों को भी एक अलग व्यक्तिगत और समूहगत पहचान मिली। यह पहचान थी– शाही मनसबदारी या अमीरी की, अर्थात् एक फौजी कमाण्डर और शाही प्रशासक की। जो लोग मुगल मनसबदार बने, उनकी राजनीतिक पहचान, मान्यताओं और आकांक्षाओं में आए परिवर्तनों की ओर रिचर्ड्स ध्यान आकृष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि इस तरह अकबर के अधीन अमीर अपना रुतबा और प्रेरणा मुगल साम्राज्य में अपनी भागीदारी से प्राप्त करते हैं न कि अपनी वंश–परम्परा या कि अपने समूहों से।

अकबर की उदार एवं गैर धार्मिक नीति का बहुत हद तक जहाँगीर और शाहजहाँ दोनों ने ही अमीर-वर्ग की भर्ती में अनुपालन किया। इन दोनों बादशाहों के अधीन जो "उमरा" थे, उनमें से बहुतेरे हिन्दुस्तान में ही पैदा हुए थे। साथ ही अमीर वर्ग में अफगानों, भारतीय मुसलमानों "हिन्दुस्तानियों" और हिन्दुओं का अनुपात निरन्तर बढ़ता ही गया। इन दिनों जो हिन्दू अमीर वर्ग में सम्मिलित हुए उनमें एक नया वर्ग मराठों का भी था।

औरंगजेब के अधीन अमीर वर्ग की संरचना में कुछ अन्तर दिखाई देता है। कुछ इतिहासविदों का मत है कि औरंगजेब के वक़्त हिन्दू अमीरों की स्थिति में गिरावट आई और इसका कारण वे बादशाह की हिन्दू विरोधी धार्मिक नीति को मानते हैं। प्रो० श्रीराम शर्मा एक हजार जात और उससे ऊपर वाले 160 हिन्दू मनसबदारों की सूची के आधार पर यह मानते हैं कि शाहजहाँ की तुलना में औरंगजेब के वक्त हिन्दू मनसबों के प्रतिशत में कमी आई। प्रो० अतहर अली बताते हैं कि शर्मा द्वारा प्रस्तुत सूची अपूर्ण है और इसका कारण वे यह मानते हैं कि "जवाबित–ए–आलमगीरी" को ठीक से नहीं पढ़ा गया है। प्रो० अली द्वारा प्रस्तुत आँकड़ों का विश्लेषण यह बताता है कि औरंगजेब के शासनकाल के उत्तरार्ध में हिन्दुओं की संख्या में निरन्तर वृद्धि हुई। उस समय अमीर वर्ग में मराठों को मिलाकर हिन्दुओं का प्रतिशत 1/3 था, जबकि शाहजहाँ के शासनकाल में यह प्रतिशत केवल 1/4 ही था।

प्रो० अतहर अली का सुझाव है कि औरंगजेब के अधीन अमीर वर्ग के इतिहास का अध्ययन दो स्पष्ट विभाजक खण्डों में किया जाना चाहिए, एक उसकी गद्दीनशीनी से 1678 ई० तक और दूसरा 1679 ई० से उसकी 1707 ई० में हुई मृत्यु तक। राजपूतों के साथ हुए युद्ध से पहले और आगे चलकर उसके दकन की ओर अभियान से पहले, अकबर के काल से चली आ रही अमीर वर्ग की आन्तरिक संरचना की परम्परा में जातीय और धार्मिक आधार पर न तो कोई परिवर्तन दिखाई दिया और न ही मनसबदारों की संख्या में कोई महत्त्वपूर्ण वृद्धि ही हुई। इस अवधि में विदेशी अमीर वर्ग, जिसमें वे अमीर आते हैं जो या तो खुद बाहर से हिन्दुस्तान में आए या वे जो हिन्दुस्तान में तो पैदा हुए पर उन परिवारों से सम्बन्धित थे जो बाहर से हिन्दुस्तान में आए थे, निरन्तर उच्च पदों पर बने रहे। ऐसे लोगों में तूरानियों की अपेक्षा ईरानियों की संख्या अधिक थी। पहले तो राजपूतों को भी उच्च पदों पर बिठाया गया, पर 1678 ई० तक आते–आते उनकी संख्या में कुछ कमी आई अर्थात् 1658 ई० और 1678 ई० के बीच ऊपर के ओहदे वाले अमीरों का प्रतिशत शाहजहाँकालीन 18.7 प्रतिशत की तुलना में घटकर 14.6 प्रतिशत हो गया। इसी दौरान औरंगजेब ने अपने पूर्ववर्ती बादशाहों की तुलना में अफगानों की भर्ती पर अधिक बल दिया। 1658 और 1678 ई० के बीच औरंगजेब के अमीरों की कुल संख्या के लगभग आधे अमीर खानजादे थे, अर्थात् वे लोग जिनके पिता या निकट सम्बन्धी शाही हुकूमत में थे।

राजपूत युद्ध (1678–79 ई०) और दीर्घकालीन दकन अभियान ने अमीर वर्ग की संरचना पर गहरा प्रभाव डाला। दकन अभियान के फलस्वरूप मुगलिया अभियान तन्त्र में दकनी अमीरों के दाखिले में भारी वृद्धि हुई। संख्या की दृष्टि से अमीर वर्ग बहुत बढ़ गया, जिसमें दकनियों को (बीजापुरियों, हैदराबादियों और मराठों को) थोक के भाव भर्ती किया गया और उन्हें विशेषरूप से ऊँचे-से-ऊँचे पदों पर बिठाया गया, जबकि अन्य पुराने ओहदेदारों को इस वजह से बहुत नुकसान पहुँचा। मामूरी ने खानजादों की हताश स्थिति के बारे में लिखा है। एक पीढ़ी पहले मराठों की कहीं गिनती ही नहीं थी, अब उन्हीं मराठों ने राजपूतों को पीछे छोड़ दिया। औरंगजेब के शासनकाल के उत्तरार्ध में राजपूत अमीर वर्ग की बदलती स्थिति के बारे में प्रो० अतहर अली का कहना है कि यह परिवर्तन शहंशाह

की एक नई धार्मिक और राजपूत नीति का सूचक है। इसके अनुसार विद्रोह के उस युग में शहशाह की रूचि मुस्लिम कट्टरपंथियों से सहयोग प्राप्त करने की रही थी। इसीलिए उसने उस समय इस तरह की कट्टरपंथी धार्मिक नीति अपनाई। राजपूतों के पतन और शहंशाह की उग्र कट्टरपंथी इस नई स्थिति में संगति बैठ जाती है। दक्कनी अमीर वर्ग की संख्या में वृद्धि के लिए मनसबों को आय के नए रास्ते भी ढूँढने थे, उसे अल्पसंख्यक राजपूतों की उन्नति के रास्ते बन्द करने पड़े।

सिद्धान्त रूप से तो मुगलों के काल में अमीर की सेवा उन सभी लोगों के लिए खुली थी जो बादशाह की सन्तुष्टि का ध्यान रखते हुए योग्यता और क्षमता के कुछ मानदण्डों पर खरे उतरे। पर वस्तुतः चाहे भारतीय हों या विदेशी, अभिजात कुल से सम्बन्धित व्यक्ति ही निश्चित लाभ की स्थिति में रहते थे। जिन राजपूतों को अमीर वर्ग में भर्ती किया जाता था, वे या तो वंश–परम्परा से राजा होते थे या राजाओं से ही सम्बन्धित अभिजात परिवारों के सदस्य होते थे। राजपूतों को छोड़कर विभिन्न क्षेत्रों के कुछ जमींदारों को, जैसे कि बुन्देलों, पहाड़ी राजाओं और जाटों आदि को भी अमीर वर्ग में प्रवेश मिला था। इस प्रकार अमीर वर्ग में इनके प्रवेश ने शासक वर्ग के अभिजात चरित्र को ही मजबूत किया। बावजूद इसके अमीर वर्ग में पदोन्नति और महत्त्वपूर्ण पदों पर पहुंचने के रास्ते साधारण व्यक्तियों के लिए भी खुले अवश्य रहे। मोटे तौर पर कह सकते हैं कि वंश- परम्परा के बिना भी अमीर वर्ग में प्रवेश के लिए छोटे पदों पर तैनात व्यक्तियों को स्वयं अपनी राह बनानी होती थी और उन्हें पदोन्नतियाँ पाने के लिए अपनी विशेष योग्यता प्रदर्शित करनी पड़ती थीं।

अमीर वर्ग की संरचना

मुगल बादशाह ही इस वर्ग के गठन का रचयिता था। केवल उसके पास ही मनसब देने, उसमें उन्नति करने एवं कमी करने का अधिकार था। किसी के मनसब या अन्य प्रकार की नियुक्ति को समाप्त करने का अधिकार भी उसके ही पास था। इसमें ज्यादातर कुलीन वंश के सदस्यों की ही नियुक्ति की जाती थी। अमीर वर्ग साम्राज्य का सम्पन्नतम एवं कुलीन वर्ग का सदस्य होता था। साधारणतः इस वर्ग में साधारण सामाजिक पृष्ठभूमि वाले व्यक्ति को योग्यता के आधार पर नियुक्ति नहीं मिलती थी लेकिन कभी–कभी इसके अपवाद भी देखने को मिलते हैं। इसमें जिन वर्गों को सम्मिलित किया जाता था वे निम्न वर्ग के सदस्य थे। प्रो० अतहर अली ने उन वर्गों का वर्णन किया है जो इस शासक वर्ग के अंग थे।

खानाजाद

अमीरों की नियुक्ति के समय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विचारणीय तथ्य वंश की कुलीनता थी। खानाजाद अर्थात् मनसबदारों की सन्तान या उनके वंशज ही इस वर्ग में प्रविष्ट होने के सर्वश्रेष्ठ अधिकारी समझे जाते थे। इसके अतिरिक्त हमारे इतिहासकारों का ध्यान उन समान श्रेणी वाले मनसबदारों, जिनका सम्बन्ध किसी सुप्रसिद्ध परिवारों से न था, की अपेक्षा उन मनसबदारों की ओर अधिक गया जो विशिष्ट अमीरों के वंशज थे। एक समकालीन लेखक ने तो एक विस्तृत उद्धरण में इस बात पर क्षोभ भी प्रकट किया है कि इस अवधि में नई नियुक्तियों की बाढ़ ने, विशेषतौर से दक्कनियों की नियुक्तियों ने खानाजादों को एक ओर धकेल दिया है।

जमींदार

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि अमीर–वर्ग का अधिकांश भाग वंशानुगत अधिकार के आधार पर भर्ती किया जाता था, परन्तु उससे कुछ अधिक संख्या उन लोगों की थी जिनका कोई भी सम्बन्ध उन व्यक्तियों के परिवारों से न था जिनके पास मनसब थे। इस प्रकार के व्यक्ति विभिन्न वर्गों से सम्बद्ध थे। उनमें से अनेक ऐसे व्यक्ति थे जो भू–सम्पदा की दृष्टि से श्रेष्ठ एवं शक्तिशाली थे। इस वर्ग में साम्राज्य के सामन्त या जमींदार थे। यद्यपि जमींदारों को राज्य अधिकारियों की श्रेणी में सम्मिलित कर मुगलों ने कोई नई बात नहीं की, परन्तु यह सत्य है कि अकबर ने अधिकाधिक जमींदारों और उनके सम्बन्धियों को मनसब प्रदान कर इस वर्ग को अधिक महत्त्व प्रदान किया। उनकी पैतृक सम्पदा उनके पास ही रहने दी गई, जिसे उनकी 'वतन–जागीरें' समझा गया परन्तु सरकारी अधिकारी होने के नाते उन्हें साम्राज्य के विभिन्न भागों में साधारण जागीरें प्रदान की गईं। औरंगजेब के शासनकाल के प्रथम भाग (1658–78 ई०) में 486 उच्च अधिकारियों में कम-से-कम 68 अधिकारी ऐसे थे जो जमींदार भी थे। 1679 ई० से 1707 ई० में 575 मनसबदारों में से 81 जमींदार भी थे। परन्तु इनमें से प्रथम अवधि में 29 जमींदारों को मनसब अवधि में भी इतने ही ऐसे जमींदारों को नए मनसब दिए गए जिनके पूर्वज किसी मनसब पर नहीं रहे।

जातीय एवं धार्मिक समूह

मुगल अमीर–वर्ग में, बाबर और हुमायूँ के शासनकाल तथा अकबर के राज्यकाल के प्रारम्भिक वर्षों में अपने विकास के प्रथम चरण समाप्त होने के उपरान्त, कुछ विशेष मान्यता–प्राप्त जातीय–वर्ग थे। उनमें तूरानी (मध्य एशिया के निवासी), ईरानी (फारस के निवासी), अफगान, शेखजादे (भारतीय मुसलमान, जिसमें अनेक उप–वर्ग भी सम्मिलित थे) तथा राजपूत इत्यादि सम्मिलित थे। बाद में सत्रहवीं शताब्दी में मुगल–शक्ति के दक्कन में बढ़ने के साथ-ही-साथ दक्कनियों, अर्थात् बीजापुरियों, हैदराबादियों तथा मराठों ने भी उसमें प्रवेश करना प्रारम्भ किया। चन्द्रभान ब्राह्मण ने, जिसने शाहजहाँ के शासनकाल के अन्तिम वर्षों में अपने ग्रन्थ की रचना की, मुगल अमीर–वर्ग की मिश्रित प्रकृति का बहुत ही रोचक विवरण दिया है –

"अरबी, ईरानी, तुर्क, ताजिक, कुर्द, लारी, तातार, रूसी, हब्शी, काकेशियन इत्यादि विभिन्न जातियाँ तथा रूस (तुर्की), मिस्र, सीरिया, ईराक, अरब, फारस, गिलान, मजदरान, खुरासान, सीस्तान, ट्रान्स–ऑक्सियाना, ख्वारिज्म, किपचक की मरूभूमि, तुर्किस्तान, गरीजिस्तान, कुर्दिस्तान जैसे देशों के विभिन्न वर्गों एवं प्रत्येक जाति के लोगों ने शाही दरबार में शरण ली है तथा हिन्दुस्तानियों के विभिन्न वर्गों के विद्वान् एवं कुशल सैनिकों, उदाहरणार्थ, बुखारी और भक्करी, समुचित वंश के सैयद, कुलीनवंश के शेखजादे, अफगान कबीले (उलूसत) जैसे लोदी, रोहिला, ख्वेश्गी, यूसुफजई आदि तथा राजपूतों के कुल के राणा, राजा, राव और रायान, जैसे– राठौड़, सीसोदिया, कछवाहा, गौड़, चौहान, झाला, चन्द्रावत, जादौन, तँवर, बघेल, वैश्य, बड़गूजर, पनवार, भदौरिया, सोलंकी, बुन्देला, शेखावत और हिन्दुस्तान के अन्य लोग, जैसे कि घक्खर, लंगाह, खोखर, बलूच जातियाँ तथा अन्य जातियाँ, कलम तथा तलवार के धनी, 7000 से 1000 तथा 1000 से 100 तथा 100 से अहदी पदों पर आसीन हैं तथा रेगिस्तान एवं पहाड़ों के जमींदार तथा साम्राज्याधीन कर्नाटक, बंगाल, आसाम, उदयपुर, श्रीनगर, कुमायूँ, बान्धों, तिब्बत और किश्तावर आदि प्रदेशों से उनके सम्पूर्ण समूह एवं वर्ग ने शाही दरबार की चौखट चूमने का विशिष्ट अधिकार प्राप्त कर लिया है।"

यह सभी तत्त्व ऐतिहासिक परिस्थितियों के फलस्वरूप, किन्तु कुछ सीमा तक (विशेषतः राजपूत) योजनाबद्ध शाही नीति के परिणामस्वरूप मुगल सेवा में सम्मिलित कर लिए गए थे। ऐसा ज्ञात होता है कि अकबर की नीति इन सभी तत्त्वों को शाही सेवा में लेकर उनके राज्य का अन्त करना था। अक्सर वह विभिन्न वर्गों के अधिकारियों को एक उच्च अधिकारी के अन्तर्गत सेवा करने के लिए नियुक्त कर दिया करता था। लेकिन, साथ-ही-साथ प्रत्येक वर्ग के अन्तर अथवा उसकी पृथक् प्रकृति का आदर किया जाता था। प्रशासन ही निश्चित किया करता था कि किस अनुपात में अमुक मनसबदार अपनी ही जाति अथवा कुल के लोगों को भर्ती करेगा।

इस प्रकार वहाँ विविधता में एकता थी और विविधता में तनाव उत्पन्न करने की क्षमता थी। इसी तनाव पर 1581 ई० में मिर्जा हकीम ने अपनी आशाएँ केन्द्रित की थीं। उसे यह आशा थी कि अकबर की सेना के ईरानी व तूरानी लोग उसके पक्ष में हो जाएंगे तथा राजपूतों व अफगानों को मौत के घाट उतार दिया जाएगा तथा अन्य हिन्दुस्तानी पकड़ लिए जाएँगे। अकबर की सुलह–कुल नीति, कुछ सीमा तक, विभिन्न धर्मों को माननेवाले, सुन्नियों (तूरानियों तथा अधिकांशतः शेखजादे), शिया (अनेक ईरानियों को मिलाकर) और हिन्दू (राजपूत) तत्त्वों को शाही सेवा में लेने और उनके धार्मिक मतभेदों का सिंहासन के प्रति उनकी स्वामिभक्ति में हस्तक्षेप करने को रोकने की इच्छा से प्रेरित थी। जहाँगीर के राज्यकाल के प्रारम्भिक वर्षों में, कम-से-कम मिर्जा अजीज कोका ने तो ऐसा सोचा था कि सम्राट चगताइयों (तूरानियों) और राजपूतों के विरुद्ध था तथा वह आवश्यकता से अधिक खुरासानियों (ईरानियों) और शेखजादों के प्रति कृपालु था। परन्तु इस बात के लिए कोई भी विश्वसनीय साक्ष्य उपलब्ध नहीं है।

कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि अमीर–वर्ग के विभिन्न वर्गों में कुछ सीमा तक पारस्परिक द्वेष–भावना विद्यमान थी। औरंगजेब के अमीर–वर्ग ने इन दोनों ही परम्पराओं, आन्तरिक वैमनस्य एवं अविश्वास तथा सिंहासन के प्रति सामान्य निष्ठा से उत्पन्न प्रबल एकता की भावना को पूर्ववर्ती अमीर–वर्ग से प्राप्त किया।

अन्य राज्यों से आनेवाले अमीर

प्रो० अतहर अली ने अन्य राज्यों एवं देशों से आनेवाले लोगों की अमीर वर्ग में नियुक्ति का वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त अन्य राज्यों के अमीर एवं उच्च अधिकारी भी थे, जिन्हें उनके अनुभव, स्तर एवं प्रभाव के कारण या इसलिए कि उनके नेतृत्व में सैनिक टुकड़ियाँ थीं तथा उनके नियन्त्रण में प्रदेश थे, उन्हें मुगल अमीर–वर्ग में स्थान दिया गया। बसरा के ऑटोमन गवर्नर, हुसैन पाशा, जिसे हिन्दुस्तान में आने के पश्चात् शीघ्र ही मनसब प्रदान किया गया, इसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण था। ईरानियों, चगताइयों

तथा उजबेग अमीरों के लिए हिन्दुस्तान सदैव ही स्वर्ण–देश था, जहाँ शीघ्रतापूर्वक भाग्योदय हो सकता था। दक्कन की राजनैतिक गतिविधियों के कारण आवश्यकता इस बात की थी कि शान्ति एवं युद्ध दोनों ही में स्वतन्त्र राज्यों के अमीरों तथा अधिकारियों को अधिकाधिक संख्या में मुगलों के पक्ष में कर लिया जाए, उन्हें अपने राज्यों के साथ विश्वासघात करने के लिए ऊँचे से ऊँचे मनसब देना अति आवश्यक था। इस प्रसंग का अत्युत्तम उदाहरण मीर जुमला है। वैसे लगभग सभी दक्कनी मनसबदार चाहे वे बीजापुरी, हैदराबादी या मराठे ही क्यों न हों, इसी श्रेणी में आते हैं।

मुगल अमीर–वर्ग में बहुत ही थोड़े ऐसे लोगों की भर्ती की गयी थी जिनका कोई भी सम्बन्ध कुलीन–वर्ग से न था, लेकिन वे विशेषतया या तो प्रशासक थे या लेखपाल थे। यह लोग लेखपाल जातियों– खत्री, कायस्थ आदि के सदस्य होते थे। साधारणतया इन लोगों की नियुक्तियाँ वित्तीय विभागों में अधिकारियों या लिपिकों के पदों पर हुआ करती थी और उन्हें निम्न श्रेणी के मनसब मिलते थे परन्तु उनमें से कुछ ने उच्च पदों पर भी उन्नति की। अकबर के काल में ऐसा एक उदाहरण राजा टोडरमल का है। औरंगजेब के राज्य काल के प्रारम्भिक वर्षों में दीवान राजा रघुनाथ ने मुख्यतः वित्त विभाग में ही कार्य करके 3000/700 के मनसब तक उन्नति की। औरंगजेब के अमीरों की हमारी सूचियों में मनसबदारों का यह वर्ग 'अन्य हिन्दुओं'– अर्थात् राजपूतों तथा मराठों के अतिरिक्त हिन्दुओं में सम्मिलित किया गया है।

अन्त में, मनसब की विभिन्न श्रेणियाँ शिक्षाविदों, धार्मिक व्यक्तियों, विद्वानों आदि को भी प्रदान की जाती थीं। अकबर के समय में अबुल फजल तथा शाहजहाँ के समय में सादुल्लाह खाँ और दानिशमन्द खाँ को अपनी विद्वत्ता के कारण उच्च मनसब प्राप्त हुए थे। औरंगजेब के राज्यकाल के प्रारम्भिक वर्षों में मन्त्री फाजिल खाँ भी 5000/2000 का मनसबदार था। शाहजहाँ द्वारा पदवी प्राप्त होने के पूर्व उसका नाम हकीम–उल–मुल्क तूनी था तथा वह एक चिकित्सक व विद्वान् था। स्वयं औरंगजेब ने जिन व्यक्तियों की नियुक्ति विभिन्न सेवाओं के लिए अमीर–वर्ग में की, उनमें से मुंशी काबिल खाँ (1000/70) तथा इनायत–उल्लाह खाँ कश्मीरी (2000/250) थे। कुछ धर्मशास्त्रियों एवं विद्वानों को भी मनसब दिये गए थे।

विदेशी अमीरों की शासक वर्ग में नियुक्ति

यह स्वाभाविक है कि मुगल मध्य एशिया से आए थे एवं उनके साथ बड़ी संख्या में वहाँ के अमीर थे जिन्होंने मुगल सत्ता की स्थापना में योगदान दिया था इसलिए उन्हें भी शासक वर्ग में स्थान दिया गया। आईन में ही दी गयी मनसबदारों की सूची पर टिप्पणी करते हुए मोरलैण्ड ने कहा है कि लगभग 70 प्रतिशत अमीर, जिनके वंश के बारे में ज्ञात है, विदेशी थे और उनका सम्बन्ध उन परिवारों से था जो या तो हुमायूँ के साथ हिन्दुस्तान आए थे या अकबर के सिंहासनारोहण के पश्चात् दरबार में आए।" बाहर के देशों से आए हुए परिवारों से सम्बन्धित मनसबदारों का यह उच्च अनुपात अकबर के उत्तराधिकारियों के अन्तर्गत भी बना रहा। इस प्रकार औरंगजेब के राज्यकाल के प्रारम्भिक वर्षों में अमीर वर्ग का विवरण देते हुए बर्नियर ले लिखा है कि यह "उजबेगो, इरानियों, अरबों तथा तुर्कों या उनके वंशजों का समूह है।" अन्यत्र उसने लिखा है कि "अमीर विभिन्न देशों के महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति हैं जो एक–दूसरे को दरबार में आने के लिए प्रलोभित करते हैं।" प्रो० अतहर अली के अनुसार औरंगजेब के काल के शुरू के वर्षों के लिए यह बात सही है लेकिन बाद में बाहरी देशों के लोगों की अमीरों के रूप में नियुक्ति में कमी आती चली गई। उन्होंने बाहरी लोगों के अमीर वर्ग में नियुक्ति में आनेवाली कमी के कारण की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि उजबेक एवं सफवी साम्राज्य पहले की अपेक्षा अब उतने शक्तिशाली नहीं रह गए थे, परिणामस्वरूप उन देशों से प्रशासनिक अनुभव रखनेवाले एवं प्रतिष्ठा–प्राप्त अमीरों ने पहले की सी संख्या में मुगल अमीर वर्ग में नियुक्ति के लिए आना बन्द कर दिया। इसके अतिरिक्त अपने राज्य काल में औरंगजेब की दृष्टि अधिकांशतः दक्कन पर ही लगी रही। अतएव अपने पिता एवं दादा की भाँति उसकी कभी भी यह अभिलाषा न रही कि वह उत्तर–पश्चिम में सैन्यवादी नीति का अनुसरण करे। उसके लिए सम्भव न था कि वह तूरानी तथा ईरानी अमीरों को विशेष प्रलोभनों द्वारा अपने स्वामियों को छोड़ने के लिए लालायित करता।

औरंगजेब ने बाद के समय में ईरानियों एवं तूरानियों के स्थान पर उन लोगों को शासक वर्ग में स्थान देना प्रारम्भ किया जो [illegible] में पैदा हुए थे जिनमें सैयद, मुगल तथा शेखजादे (हिन्दुस्तानी मुसलमान) एवं राजपूत थे।

तूरानी व ईरानी:

तथाकथित विदेशियों में अधिकांशतः तूरानी व ईरानी सम्मिलित थे। तूरानी शब्द का प्रयोग मध्य एशिया [illegible] जाती थी, से आनेवाले किसी भी व्यक्ति के लिए किया जाता था। स्वयं शासक परिवार इसी समूह से सम्बन्धित

स्वाभाविकरूप से शासक वर्ग में इनका वर्चस्व था। बाबर से लेकर शाहजहाँ के काल तक इनकी संख्या काफी थी एवं गुट की भावना काफी प्रबल थी। प्रो० अतहर अली के अनुसार औरंगजेब के समय में इस समूह के सदस्यों की नियुक्ति में कमी आ रही थी। उनके अनुसार शासक परिवार के स्वयं तूरानी होने के कारण कोई भी व्यक्ति यह सहज ही सोच सकता है कि विदेशी अमीर–वर्ग में तूरानियों का गुट प्रबल रहा होगा किन्तु बात ऐसी न थी। बर्नियर ने लिखा है कि "दरबार में पूर्वकाल की भाँति मूल मुगल नहीं रहे हैं" तथा औरंगजेब के अमीरों की सूचियाँ उसके कथन की पुष्टि करती हैं। 1658–78 ई० में 1000 और उसके ऊपर के 486 मनसबदारों में से 67 तूरानी थे, जबकि 1679–1707 ई0 में 575 में उनकी संख्या केवल 72 ही थी। अर्थात् पहली अवधि में कुल अमीरों में 13.7 प्रतिशत और दूसरी अवधि में 12.5 प्रतिशत तूरानी थे। सम्भवतः औरंगजेब के राज्यकाल के बहुत पूर्व तूरानियों की संख्या में कमी हो चुकी थी। हम पहले ही देख चुके हैं कि जहाँगीर पर तूरानियों के विरुद्ध होने का आक्षेप लगाया जा चुका था। यह बात ध्यान में रखने की है कि उजबेग साम्राज्य का पतन सफवियों के पतन से बहुत पूर्व ही प्रारम्भ हो चुका था। इसके अतिरिक्त, तूरानी, विशेषतः बदख्शी, हिन्दुस्तान में असभ्य और गँवार समझे जाते थे। औरंगजेब के समय में तूरानियों की राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति में भी गिरावट आ रही थी।

ईरानी

हिरात से लेकर बगदाद तक फारसी बोलनेवाले लोग अर्थात् आधुनिक फारस की सीमा में रहने वाले सभी निवासी, तथा अफगानिस्तान एवं इराक के उन भागों के निवासी जहाँ फारसी बोली जाती है ईरानी कहे जाते थे, इन्हें ईराकी तथा खुरासानी भी कहा जाता था। अजीज कोका के पत्र, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, से ज्ञात होता है कि तूरानियों और ईरानियों में अनेकों पीढ़ियों से पारस्परिक वैमनस्य था। यह सत्य है कि तूरानी साधाणरतः सुन्नी तथा ईरानी अधिकांशतः शिया हुआ करते थे, लेकिन उनके पारस्परिक वैमनस्य को कभी–कभी धार्मिक रंग प्रदान कर दिया जाता था। ईरानी औरों से अधिक सुसंस्कृत व सभ्य समझे जाते थे तथा उन्होंने जहाँगीर और शाहजहाँ दोनों के ही अन्तर्गत विशिष्ट कृपा प्राप्त की थी।

प्रो० अतहर अली ने औरंगजेब के काल में ईरानियों की स्थिति का अध्ययन किया है। उनके अनुसार ऐसा कहा जाता है कि औरंगजेब एक कट्टर सुन्नी था लेकिन फिर भी इस वर्ग की नियुक्ति पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। उत्तराधिकार के युद्ध में भी उसे 27 ईरानी अमीरों का साथ था जबकि दारा के साथ 23 अमीर थे।

इस प्रकार, औरंगजेब की विजय का ईरानियों की स्थिति पर कोई भी प्रभाव न पड़ा। बर्नियर के अनुसार विदेशी अमीर वर्ग में 'अधिकांशतः' ईरानी थे तथा टैवर्नियर के अनुसार मुगल साम्राज्य में सर्वोच्च पदों पर ईरानी आसीन थे। इस कथन की पुष्टि आँकड़ों से भी की जा सकती है। 1658–1678 ई० में 486 मनसबदारों में से 136 ईरानी थे, जबकि तूरानी मात्र 67। 1679–1707 ई० में भी ईरानियों की संख्या अधिक ही रही, 575 की कुल संख्या में 126। सर्वोच्च पद की श्रेणी में, 1657–78 ई० में 23 ईरानी 5000 व उससे अधिक मनसब पर थे और 1679–1707 में 14, जबकि तूरानियों की संख्या क्रमशः 9 और 6 थी।

दक्कन के राज्यों में काफी संख्या में ईरानियों के सेवारत रहने के कारण भी ईरानी कुछ सीमा तक अपनी स्थिति को बनाये रख सके। दक्कन में ईरानी दीर्घकाल से प्रभावशाली थे। मुगल सेवा में दक्कन से प्रवेश करनेवाले ईरानियों का एक उदाहरण मीर जुमला का है। यह कहा जाता है कि औरंगजेब को, फारस के एक प्रान्त ख्वाफ से आए हुए अधिकारियों, जिन्हें उसके राज्य काल में अत्यधिक मान–सम्मान मिला, पर अत्यधिक विश्वास था।

अफगानों का अमीर वर्ग में स्थान

प्रो० अतहर अली ने अफगानों के इतिहास को उजागर करते हुए लिखा है कि मुगल अमीर वर्ग में अफगानों का बहुत ही विच्छिन्न इतिहास था। वास्तव में उन्हें विदेशी आगन्तुक नहीं माना जा सकता क्योंकि उनका निवास स्थान मुगल साम्राज्य की सीमाओं में ही था। दिल्ली के सुल्तानों के समय में अफगानों को डाकू व लुटेरों के रूप में तिरस्कृत दृष्टि से देखा जाता था। कुछ भी हो, फिरोजशाह के समय तक कुछ अफगानों ने अमीरों के रूप में प्रमुखता प्राप्त कर ली थी। लोदी साम्राज्य की स्थापना के साथ–साथ उन्होंने अपना शासक–वर्ग बना लिया और उनका 'रोह' से हिन्दुस्तान में आगमन अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। जब बाबर ने उनके राज्य को उखाड़ फेंका तो उनमें से कुछ ने विजेता के साथ सन्धि कर ली। अल्पकालीन सूर साम्राज्य के उपरान्त मुगल सत्ता की जब पुनः स्थापना हुई तो अफगान सरदार मुगलों की दृष्टि में सन्देहास्पद बन गए तथा ऐसा प्रतीत होता है कि अकबर

ने उनमें से अधिकांश को एक हाथ दूर ही रखा। फिर जहाँगीर ने उन्हें प्रोत्साहित करना शुरू किया, जैसा कि [illegible] खान-ए-जहाँ लोदी को प्रदान की गई विशिष्टता से स्पष्ट है। शाहजहाँ के राज्य काल में खान-ए-जहाँ लोदी के विद्रोह [illegible] अफगानों की प्रगति में सम्भवतः बाधा पड़ी और बाद में शाहजहाँ को अफगानों में विश्वास न रहा।

ऐसा प्रतीत होता है कि शहजादे के रूप में औरंगजेब ने अफगानों को अपने पक्ष में करने की चेष्टा की थी। एक [illegible] बात पर आश्चर्य प्रकट करता है कि सम्राट ने एक अफगान सरदार की पदोन्नति से सम्बन्धित उसके प्रस्ताव को केवल [illegible] के आधार पर ठुकरा दिया। इससे भी कहीं अधिक रहस्योद्घाटक तथ्य यह है कि 1000 जात व उससे ऊपर के [illegible] अमीरों में से, जिन्होंने औरंगजेब का सामूगढ़ के युद्ध तक साथ दिया, 23 अफगान थे, जबकि दारा शिकोह के पक्ष में इसी स्तर के 30 अमीरों में से केवल एक ही अफगान था।

अबुल फजल मामूरी के अनुसार राज्य काल के प्रारम्भिक वर्षों में, औरंगजेब इस बात से बहुत ही सतर्क रहता था कि अफगानों के पदों में अनुचित वृद्धि न की जाए। 1000 व उससे अधिक के मनसबदारों की हमारी 1658–78 ई० की सूची में 486 में से 13 अफगान थे। दूसरी अवधि 1679–1707 ई० में 575 में से अफगानों की संख्या 34 थीं। परन्तु यह पतन सम्भवतः निम्न श्रेणी के मनसबदारों की सूचियों की अपूर्णता के कारण है। इस प्रकार 1658–78 ई० में जबकि 5000 व उससे अधिक के मनसबदारों में 3 अफगान थे, उसी श्रेणी में 1679–1707 ई० की अवधि में उनकी संख्या 10 से किसी भी भाँति कम न थी। इस प्रकार औरंगजेब के उत्तरकालीन वर्षों में अफगान अमीरों की संख्या में प्रचुर वृद्धि दृष्टिगोचर होती है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह वृद्धि मुख्यतः उन अफगानों जो पहले बीजापुर राज्य की सेवा में थे, के शाही सेवा में भर्ती किये जाने के कारण हुई।

अफगान अमीर–वर्ग के बारे में समकालीन इतिहासकारों ने सुस्पष्टरूप से अपनी अरूचि दिखाई है। अफगान एक कबायली समाज से आए थे तथा मुगल अधिकारी नियुक्त किए जाने के बाद भी वे कबायली नेता बने रहे और अपने ही कबीलों एवं कुलों के लोगों को अपनी सेवा में लेते रहे। मनूची के अनुसार वे केवल दरबार ही में रईसी वस्त्र पहनकर आया करते थे। जब वे लौटकर घर पहुँचते तो उन वस्त्रों को उतारकर अपनी जाति के साधारण वस्त्रों को धारण कर लिया करते थे। भीमसेन की अफगानों से इससे भी अधिक शिकायत थी। अफगान हिन्दुस्तान के सभी भागों में फैले हुए थे और सभी स्थानों में विद्रोह और अशान्ति का एक कारण थे। औरंगजेब के दक्कन की ओर प्रस्थान करने के पश्चात् उनकी शक्ति बढ़ गई तथा उनमें से अनेकों ने, जिन्हें शाही सेवा में भर्ती नहीं किया गया था, अपनी व्यक्तिगत सेना रख ली जिसके सामने अनेक शाही अधिकारियों की सैनिक टुकडियाँ फीकी पड़ गईं। अफगान अमीरों की संख्या में वृद्धि के कारण अमीर वर्ग की आन्तरिक शक्ति कमजोर हो गईं और वह साम्राज्य के भाग्य पर बुरा प्रभाव डालने लगी, विशेषतौर से उस समय जब औरंगजेब का प्रभावशाली व्यक्तित्व सामने से हट गया और केन्द्रीय प्रशासन में नयी बुराईयाँ प्रविष्ट हो गईं।

भारतीय मुसलमान

भारतीय मुसलमान साधारणतः शेखजादे कहे जाते थे। उनका सम्बन्ध मुख्यतः कुछ महत्त्वपूर्ण कुलों, जैसे बारहा के सैयद और कम्बो से था। बारहा के सैयद और कम्बो, जो अकबर के काल से महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन थे, औरंगजेब के उत्तरकालीन वर्षों में पूर्व की भाँति उतने अधिक प्रभावशाली नहीं रह गए थे। बारहा के सैयदों पर, जो परम्परागत मुगल सेना के अग्रिम दल का नेतृत्व करते थे तथा जिन्हें अपनी सामरिक योग्यताओं पर अत्यधिक गर्व था, औरंगजेब विश्वास नहीं करता था। सम्भवतः ऐसा केवल इस कारण था कि बारहा के सैयद दारा शिकोह के अनन्य समर्थक थे।

राजपूत

बाबर द्वारा भारत में मुगल राजवंश की सत्ता स्थापना से राजपूतों को गहरा आघात लगा था। राणा सांगा के नेतृत्व [illegible] भारत पर अपनी राजसत्ता स्थापित करना चाहते थे लेकिन खानवा के युद्ध में पराजय से उनके [illegible] सपने बिखर गए। इसलिए मुगलों से उनकी शत्रुता स्वाभाविक थी। लेकिन हुमायूँ के समय इसी राणा परिवार ने इस राजवंश के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। चित्तौड़ की रानी कर्णावती ने गुजरात के शासक बहादुरशाह के सैनिक अभियान से रक्षा के लिए राखी भेजी और कहलवाया कि भाई के नाते बहिन की रक्षा करना उसका धर्म है। इस भावनात्मक अपील का हुमायूं ने सकारात्मक उत्तर दिया जिसका मुगल–राजपूत सम्बन्धों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। हालांकि परिस्थितिवश हुमायूँ सहायता नहीं दे पाया था।

इसके पश्चात् मुगल साम्राज्य हुमायूँ ने खो दिया एवं वह ईरान में निर्वासित जीवन बिता रहा था। वह वहाँ के शाह की सहायता से अपना खोया हुआ साम्राज्य फिर से प्राप्त करना चाहता था। तब ईरान के शाह ने उसे सलाह दी कि भारत को पुनः जीत लेने के पश्चात् साम्राज्य के स्थाईत्व के लिए उसे स्थानीय जमींदारों एवं राजाओं से सम्बन्ध स्थापित करनें चाहिए। लेकिन अफसोस हुमायूँ को इस सलह पर अमल करने का अवसर नहीं मिल पाया क्योंकि अचानक मृत्यु ने ऐसा नहीं होने दिया।

सौभाग्य से उसके उत्तराधिकारी अकबर ने इस नीति का अक्षरशः पालन किया एवं एक सशक्त स्तम्भ मुगल साम्राज्य के लिए खड़ा कर दिया। मुगल बादशाह की राजपूत नीति को उसके द्वारा स्थानीय राजाओं एवं जमींदारों के साथ सम्बन्ध बनाने के परिप्रेक्ष्य में ही देखना चाहिए। इक्तिदार आलम खाँ ने लिखा है कि अकबर ने इन स्थानीय जमींदारों एवं राजपूत राजाओं से जो समझौता किया उससे मुगल साम्राज्य को एक मजबूत आधार मिला। यह बात सही है कि अकबर के समय से लेकर अन्त तक मुगल साम्राज्य का विस्तार एवं विकास मुगलों एवं इन स्थानीय राजपूत शासकों के संयुक्त प्रयास से हुआ। दूसरे शब्दों में सत्ता में दोनों की भागीदारी कही जा सकती है। कुछ इतिहासकार भागीदारी का प्रतिशत भी तय करते हैं। उनके अनुसार स्थानीय जमींदारों की राजस्व में एक तिहाई हिस्सेदारी थी।

अकबर ने इन जमींदारों एवं स्थानीय राजाओं को बड़े–बड़े मनसब देकर मुगल सेवा में भर्ती कर लिया। इसके बदले में उनके पैतृक अधिकार वाले क्षेत्र (वतन) के अतिरिक्त उनको साधारण जागीरें भी प्रदान की गई। उनको न केवल साधारण बल्कि सर्वोच्च मनसब के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण सूबों का सूबेदार भी बनाया। इसके बदले में उन्होंने मुगल साम्राज्य के विस्तार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

अकबर एवं राजपूतों के मध्य सम्बन्धों को बादशाह एवं अमीरों के मध्य सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में ही देखना चाहिए। इसी नीति को उसके उत्तराधिकारी जहाँगीर एवं शाहजहाँ ने जारी रखा। औरंगजेब के काल में इसमें परिवर्तन के आरोप लगाए जाते हैं जो सही नहीं है। इन अलोचनाओं का प्रो० अतहर अली ने साक्ष्यों के प्रकाश में उत्तर दिया है। वे लिखते हैं कि औरंगजेब की राजपूतों के प्रति नीति विवादास्पद विषय है। इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं है। उसकी धार्मिक नीति से अत्यधिक सम्बन्धित है, और उसकी धार्मिक नीति दीर्घकाल से विवाद का विषय बनी हुई है। विवेचना के स्पष्टीकरण हेतु यह वांछनीय होगा कि औरंगजेब की धार्मिक नीति से किसी भी प्रकार का पूर्व–निश्चित सम्बन्ध बनाये बिना अमीर वर्ग में राजपूतों की स्थिति का परीक्षण कर लिया जाए।

शाहजहाँ एक धर्म–परायण मुसलमान शासक था, जिसने अपनी कट्टरता का प्रदर्शन करने के लिए अनेक कदम उठाए। इसके बावजूद जैसा कि लाहोरी तथा वारिस द्वारा दी गई सूचियों से स्पष्ट है। उसके राज्यकाल में राजपूत मनसबदारों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई। औरंगजेब भी धर्मपरायण मुसलमान था तथा राजपूतों के प्रति द्वेष रखने के लिए शाहजहाँ के दरबार में उसकी निन्दा भी की गई थी। परन्तु यह स्पष्टतः अस्थायी बात थी, उत्तराधिकार के युद्ध होने से कुछ वर्ष पूर्व ऐसा प्रतीत होता है कि औरंगजेब ने प्रमुख राजपूत सरदारों को अपने पक्ष में करने की सतत् चेष्टा की थी। उसने मेवाड़ के राणा राजसिंह को जो निशान भेजे थे वे उपलब्ध हैं। इन निशानों में उसने राणा को आश्वासन दिया कि 1654 ई० में चित्तौड़ के दुर्ग को पुनः सुदृढ़ बनाने के लिए उससे दण्ड के रूप में लिए गए प्रदेशों को उसे वापस कर दिया जाएगा। एक निशान में तो उसने जोरदार शब्दों में आश्वासन देते हुए कहा कि वह अपने पूर्वजों की धार्मिक नीति का अनुसरण करेगा और इस बात की घोषणा की कि "वह सम्राट जो दूसरे के धर्म के प्रति असहिष्णुतात्मक व्यवहार करता है, ईश्वर के प्रति विद्रोही है।" यह सत्य है कि सामूगढ़ के युद्ध के पूर्व, औरंगजेब के 124 समर्थकों में से 1000 व उसके ऊपर के मनसबदारों में केवल 9 ही राजपूत थे, जबकि दारा शिकोह के समर्थक उसी श्रेणी के 87 मनसबदारों में से राजपूतों की संख्या 22 थी। किन्तु ऐसा केवल इस कारण था कि उसके राजपूत समर्थकों की गणना करते समय औरंगजेब के समर्थकों की श्रेणियों में से जय सिंह तथा कछवाहों को पृथक् ही रखा गया, चँकि वे उस समय सुलेमान शिकोह की सेना में थे, जो शुजा के विरुद्ध कूच कर रही थी। इसके अतिरिक्त दारा शिकोह की सूची में बहुत–से ऐसे राजपूतों के नाम हैं जो उस समय दरबार में थे और उनके सामने दारा का समर्थन करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प ही न था। वास्तव में दारा के प्रति राजपूतों में व्यक्तिगत स्वामिभक्ति न थी। जैसा कि बाद में शहजादा अकबर ने औरंगजेब को पत्र में लिखा कि "वास्तव में दारा शिकोह राजपूतों की जाति के प्रति पूर्वाग्रही एवं विरुद्ध है। यदि प्रारम्भ से ही उसने उन्हें अपना मित्र बना लिया होता तो उसके साथ जैसा हुआ वैसा न होता।"

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने राज्यकाल के प्रारम्भिक वर्षों में औरंगजेब ने राजपूतों के प्रति कुछ सीमा तक सहृदयता दिखाई एवं शाहजहाँ के समय जो उनकी स्थिति थी, उसमें वास्तव में कुछ सीमा तक सुधार भी हुआ। शाहजहाँ के सम्पूर्ण राज्यकाल में एक

भी राजपूत अधिकारी 7000 का मनसबदार न था। किन्तु अब मिर्जा राजा जय सिंह तथा जसवन्त सिंह, हालांकि [illegible] ने धर्मात और खजवाह के युद्धों में औरंगजेब के विरुद्ध ही भाग लिया, की पदोन्नति 7000/7000 तक कर दी गयी। [illegible] मानसिंह को बंगाल से वापस बुला लिए जाने से लेकर अब तक (1658 ई० के अन्त में जसवन्त सिंह की मालवा में नियुक्ति को छोड़ कर) किसी भी राजपूत अमीर को कोई भी महत्त्वपूर्ण प्रान्त नहीं सौंपा गया था, किन्तु 1665 ई० में जय सिंह को एक [illegible] परामर्शदाता के रूप में नहीं प्रत्युत अपने ही अधिकार द्वारा दक्कन का वायसराय नियुक्त किया गया। मुगल साम्राज्य [illegible] सर्वोच्च एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पदों में से एक था जो साधारणतः शहजादों को ही सौंपा जाता था। जसवन्त सिंह को [illegible] (1659–61 ई० व 1670–72 ई०) गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया गया। इस प्रकार बर्नियर, जो आगरा में 1665 तक [illegible] लिख सका कि "यद्यपि महान मुगल एक मुसलमान है और इस प्रकार हिन्दुओं का शत्रु है लेकिन फिर भी वह सदा [illegible] बहुत ही अधिक संख्या में अपनी सेवा में रखता है तथा उन लोगों के साथ उसी प्रकार का व्यवहार करता है जैसा [illegible] के प्रति तथा अपनी सेनाओं में महत्त्वपूर्ण कमानों पर उनकी नियुक्ति करता है।"

प्रो० अतहर अली ने 'आलमगीरीनामा' में दिए गए विवरण का अध्ययन करके उसे सारिणी में प्रस्तुत किया है :-

	मनसबों में कुल वृद्धि या कटौती(शाही शहजादों को छोड़ कर)		कुल संख्या में राजपूतों का भाग	
	1–2 वर्ष	3–6 वर्ष	7–10 वर्ष	1–10 वर्ष
जात				
योग	89,000	4,600	–10,000	83,600
राजपूत	12,600	1,000	– 1,600	12,000
प्रतिशत	14.16	21.74	16.00 (घटने पर)	14.35
सवार				
योग	54,000	5,430	27,320	86,750
राजपूत	11,900	1,350	–2,500	10,750
प्रतिशत	22.04	24.86	——	12.40

यह तालिका इस बात की ओर इंगित करती है कि औरंगजेब के राज्यकाल के प्रारम्भिक वर्षों में राजपूतों की स्थिति में सुधार से सम्बन्धित कथन को संशोधित करने की आवश्यकता है। शाहजहाँ के राज्य के मनसबदारों की सालेह ने जो सूची दी है उसमें 1,000 जात व उसके ऊपर के 437 अमीरों में से 82 (या 18.7 प्रतिशत) राजपूत थे। जबकि 1,000 व उससे ऊपर के अमीरों के जात पद का कुल योग 10,07,000 था तथा उसमें से 1,78,500 या इस कुल योग का 17.7 प्रतिशत राजपूत थे। सम्पूर्ण प्रथम दशक में दिये गए जात मनसब में 14.35 प्रतिशत की संख्या से यह प्रतीत होता है कि कभी भी पूर्णरूप से पूरा अनुपात नहीं बनाये रखा गया। ऐसा प्रतीत होता है कि जब प्रथम दशक के प्रथम छह वर्षों में राजपूतों को उच्च पद प्रदान किए गए (विशेषतौर पर जहाँ तक सवार पद का सम्बन्ध है), अन्तिम चार वर्षों में उनकी स्थिति में विशेष कमी आई, जबकि सामान्य अमीरों के कुल मनसब में काफी वृद्धि हुई, राजपूतों के सवार मनसब में बहुत बुरी तरह से कटौती की गई।

इसलिए मामूरी के कथन में, कि दक्कन की ओर प्रस्थान करने से पूर्व की अवधि में औरंगजेब राजपूतों की पदोन्नति करने में संयम से काम ले रहा था, पर्याप्त सत्यता हो सकती है। ऊपर दी गई तालिका से प्रतीत होता है कि राज्यकाल के प्रथम दशक के अन्त से पूर्व राजपूतों की पदोन्नति करते समय संयम रखना शाही नीति बन चुकी थी।

इसलिए इस आधार पर कहा जा सकता है कि औरंगजेब की नीति में उतार–चढ़ाव रहा। उसने अपने शासन के प्रथम [illegible] पूर्व राजपूतों के प्रति बेरुखी अख्तियार की लेकिन उसका दृष्टिकोण अत्यन्त सम्मानजनक था। 1678 ई० में राठौड़ों के विद्रोह के बाद भी राजपूतों को मनसब प्रदान करने की उसकी नीति में, कोई परिवर्तन नहीं आया।

मराठों का मुग़ल शासक वर्ग में प्रवेश

प्रो० अतहर अली ने मराठा सरदारो की मुगल अमीर वर्ग में नियुक्ति का वर्णन किया है। वे लिखते हैं कि जिस समय से मलिक अम्बर ने मराठा सरदारों और उनके अनुयाइयों (बारगियों) का बड़े पैमाने पर प्रयोग करना प्रारम्भ किया, दक्कन के युद्धों में मराठो के महत्त्व को मुगल भली–भाँति समझने लगे थे। 1616 ई० में जिस महान् पराजय का मुँह मलिक अम्बर को शाहनवाज खाँ के हाथों देखना पडा, उसमें प्रमुख भाग मराठा अवसरवादियों ने मुगलों के पक्ष में होकर लिया था। शाहजहाँ के प्रारम्भिक वर्षों में जब सम्राट स्वयं अहमदनगर राज्य को समाप्त करने के लिए दक्कन की ओर बढ़ा तो दक्कन की शाही नौकरी में मराठों की भर्ती में एक नया वरण प्रारम्भ हुआ। मराठा शक्ति के उत्कर्ष, जिसकी अभिव्यक्ति दक्कन में शिवाजी द्वारा स्वतन्त्र मराठा राज्य के रूप में हुई, से एक नई परिस्थिति उत्पन्न हुई। दक्कन के मामलों में मराठों के बढ़ते हुए महत्त्व की झलक हमें मुगल अधिकारी वर्ग में बढ़ते हुए मराठा तत्त्व में मिलती है, जिसके कारण न केवल सैनिक उपायों द्वारा नयी चुनौती का सामना करने का प्रयास किया गया वरन् साथ-ही-साथ इस बात की भी चेष्टा की गई कि मराठों के कुछ वर्गों को मुगल अमीर–वर्ग में समेट लिया जाए।

इन्होंने मराठा सरदारों की अमीर वर्ग में नियुक्ति के आँकड़े दिए हैं जो अत्यन्त रूचि के हैं जिनसे उनकी निरन्तर बढ़ती स्थिति का पत चलता है :–

	शाहजहाँ	1658–78 ई०	1679–1707 ई0
5000 व उससे उपर	3	3	16
3000 से 4500	6	6	18
1000 से 2700	4	18	62
योग :–	13	27	96
मनसबदारों की कुल संख्या में से मराठों की कुल संख्या का प्रतिशित	2.9	5.5	16.7

इस प्रकार, परिस्थितियों के दबाव के कारण औरंगजेब को आनेवाले वर्षों में मराठों को सेना में लेने के लिए पूर्णरूप से द्वार खोलने पड़े। वह 5000/5000 का मनसब प्रदान करके भी शिवाजी को अपने पक्ष में न कर सका था और मराठा सरदार उसके दरबार में से भाग खड़ा हुआ था। उसके जीवन के अन्तिम वर्षों में, शिवाजी का पौत्र, शाहू 7000/7000 का मनसबदार था, और इस प्रकार उसकी गणना यद्यपि प्रतीक रूप से ही सही, साम्राज्य के सर्वोच्च अमीरों में अवश्य होने लगी थी।

मराठा सरदारों को मनसब प्रदान करके अपने पक्ष में करने की चेष्टा अन्त में असफल सिद्ध हुई क्योंकि कुछ मराठा सरदार तो पक्ष में कर लिए गए किन्तु अन्य ने नए दुर्गों को बनाने तथा मुगल प्रदेशों को तहस–नहस करने में उनका स्थान ले लिया। सम्भवतः इसका सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि मराठों का समाज राजपूत उप–जातियों की भाँति, जहाँ सरदार द्वारा अधीनस्थता स्वीकार कर लेने पर सम्पूर्ण उप–जाति अधीनस्थ हो जाती, संगठित नहीं था। मराठों में जब तक विरोध करने या लूटमार करने से कोई आशा रहती थी, तब तक सैनिक टुकड़ियों के सरदार या छोटे–मोटे जमींदार सदैव विद्रोही सरदार के रूप में उभरते रहते थे। परिणामस्वरूप औरंगजेब के अन्तर्गत मराठा अमीर वर्ग अपनी स्वामिभक्ति में अस्थिर रहा। उनके सरदार मुगलों के पास आते रहे और उन्हें छोड़ कर निरन्तर जाते रहे। इस प्रकार राजपूतों के समान मराठा अमीर वर्ग मुगल प्रशासक वर्ग में वास्तव में प्रभावशाली स्थान प्राप्त न कर सका। मराठों की उपस्थिति मुगल साम्राज्य के रचनात्मक विस्तार का द्योतक नहीं वरन उसके पराभव एवं पतन का लक्षण थी।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मुगल शासक वर्ग में विभिन्न प्रकार के कुलीन घरानों के प्रतिनिधियों को स्थान दिया जाता था। दूसरे शब्दों में इसे साझा शासक वर्ग कहा जा सकता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि शासक वर्ग की संरचना में विस्तार आ रहा था। इस वर्ग में राजपूतों एवं हिन्दुओं को शासक वर्ग में सम्मिलित करने का श्रेय अकबर को जाता है। उसने सुलह–ए–कुल के आधार पर इस वर्ग की रचना की। इससे विभिन्न जातीय एवं धार्मिक समूहों के लोग समान स्तर पर एक दूसरे के समीप आए। इसमें ईरानी, तूरानी, अफगान, सैयद, भारतीय मुसलमान, राजपूत, मराठों एवं जाटों के सम्मिलित हो जाने से इसके आधार का विस्तार हुआ।

इस वर्ग की प्रशासन में भूमिका

डॉ० बी०एस० चयानी के मुगल–कालीन अमीरों को दो भागों में बाँटा है – पहला समूह "तैनात–ए–रकाब" कहलाता था। इसका अर्थ यह है कि वह दरबार में तैनात होता था। दूसरा समूह "तैनात–ए–सूबाजात" कहलाता था जो सूबों या प्रान्तों में तैनात होता था। यह विभाजन, शुद्ध रूप से अधिकारियों की नियुक्ति के स्थान पर ही आधारित था, क्योंकि वे समय–समय पर एक समूह से दूसरे समूह में स्थानान्तरित होते रहते थे। उस समय की स्थापित प्रथा यह थी कि जब कभी किसी बड़े अमीर का तबादला एक स्थान से दूसरे स्थान पर किया जाता था तो वह अमीर अपनी नियुक्ति के नए स्थान पर जाने से पहले मुगल दरबार में हाजिर होता था। लेकिन अगर किसी का तबादला किसी अपराध की वजह से किया जाता था तो उसे दरबार में हाजिर नहीं होने दिया जाता था। जो अमीर दरबार में तैनात होते थे उन्हें एक तरह से आरक्षित बल माना जाता था ताकि सभी महत्त्वपूर्ण सैनिक अभियान में उन्हें भेजा जा सके।

दरबार में उपस्थिति के दौरान अमीर को अनेक दरबारी शिष्टाचारों का पालन करना पड़ता था और अलग–अलग अवसरों पर उसे शहंशाह को भेंट या नजराना देना पड़ता था, जिसे "पेशकश" कहते थे। इन विस्तृत दरबारी शिष्टाचारों का वास्तविक उद्देश्य इतना भर था कि इनसे अमीरों पर शहंशाही प्रतिष्ठा और सत्ता की महत्ता का प्रभाव बना रहे। सभी मध्यकालीन बादशाहों की यही नीति रहती थी कि वे जहाँ तक बन पड़े, अपनी शानो–शौकत और चमक–दमक पूरी गर्मजोशी से बनाए रखें। साथ ही अमीर वर्ग को सदा यह भान होता रहे कि वे खुद चाहे कितने ही महान् और शक्तिशाली क्यों न हों बादशाह की तुलना में उनकी औकात रत्ती भर नहीं है, और यह भी कि उनकी सत्ता, अधिकार और महानता पूरी तौर पर बादशाह की मन–मर्जी पर निर्भर है इसी के साथ बादशाह अपनी जनता पर यह भी प्रभाव डालना चाहता था कि जनता इस बात को समझ ले और याद रखे कि बड़ा-से-बड़ा अमीर बादशाह का नौकर भर है और इसीलिए रियाया की वफादारी पर भी केवल उसी का अधिकार बनता है।

चूँकि मुगल अमीर वर्ग मनसबदारी संगठन का अंग होता था इसलिए उसे सैनिक, नागरिक और वित्तीय, सभी प्रकार के सेवा कार्य करने पड़ते थे। इन कार्यों में न्यायिक कर्तव्यों को छोड़कर अन्य सभी सार्वजनिक कार्य सम्मिलित थे। हर मनसबदार को अपने ओहदे के अनुसार न्यूनतम सैनिक दायित्व निर्धारित था, फिर भी आवश्यकता पड़ने पर उसे कोई अन्य अतिरिक्त कर्तव्य भी सौंपा जा सकता था। यद्यपि अमीर के मनसब और उसे मिले पद में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता था फिर भी दोनों के बीच एक मोटी संगति अवश्य होती थी। इसका अर्थ यह हुआ कि बड़े मनसबदारों को प्रायः अधिक महत्त्वपूर्ण पद ही मिलते थे।

अमीरों को अनुशासित रखने के लिए सेवा नियम

मुगल बादशाहों के अमीरों की मनसबदारों या जागीरदारों के रूप में नियुक्ति के समय उनको अनुशासित करने के लिए कुछ नियम बना दिए थे जिनको सेवा नियम कहकर सम्बोधित किया जा सकता है। बादशाह ने सभी नियुक्ति पानेवालों को यह स्पष्ट कर दिया था कि वे राज्य के अधीनस्थ सेवक हैं एवं बादशाह के प्रति उनकी स्वामिभक्ति पहली शर्त है इसके अतिरिक्त नियमित सेवा देना उनका कर्तव्य है। उनकी कार्यदक्षता, कुशलता एवं योग्यता ही उनकी पदोन्नति की शर्त है। बादशाह ने इनकी दक्षता एवं ईमानदारी की जाँच के लिए कई नियम बना रखे थे जिनकी पालना करना उनके लिए आवश्यक था। उनके द्वारा रखे जानेवाले घोड़ों एवं सैनिकों की नियमित जाँच होती थी। उन्हें अपने घोड़ों को नियमितरूप से दगवाने हेतु सरकारी विभाग में प्रस्तुत करना होता था। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा रखे जानेवाले सैनिकों को भी हाजिर करना होता था जिनके चेहरे का पूरा वर्णन रखा जाता था इसके अतिरिक्त जैसा कि अतहर अली लिखते हैं कि बादशाह के व्यक्तिगत नियन्त्रण में लगभग एक समानान्तर प्रशासन की व्यवस्था थी जिसके माध्यम से वह जागीरदारों की सत्ता पर सीधे ही नियन्त्रण रखता था। परगना स्तर पर इस व्यवस्था के अन्तर्गत दो राजस्व अधिकारी होते थे जिन्हें कानूनगो और चौधरी कहते थे। इनके साथ–साथ एक फौजदार होता था जो कानून और व्यवस्था को लागू करता था। एक "काजी" भी होता था जो न्यायिक मामले देखता था। बादशाह की नाफरमानी करना, उसकी सन्तुष्टि के अनुसार कर्तव्य–निर्वाह न करना या अपेक्षित संख्या में फौज का रख–रखाव न करना अपराध माना जाता था। इसके लिए अक्सर कड़ी–से–कड़ी सजा दी जाती थी। जिन अन्य मामलों में अमीरों को नुकसान उठाना पड़ सकता था, वे हैं– उनको दिए गए आदेशों का उल्लंघन करना, शत्रु से किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करना, विद्रोहियों या कायरतापूर्ण कार्य करने वालों के प्रति सहानुभूति जताना। अत्याचारियों और कुप्रबन्धकों को भी कड़ी सजा भुगतनी पड़ती थी।

अमीरों/जागीरदारों का हर तीन चार साल में तबादला होता रहता था जो उन पर नियन्त्रण का प्रभावी तरीका भी था। मुख्यतः इन तबादलों का उद्देश्य था कि वे स्थानीय स्तर पर अपनी जड़ें न जमा सकें एवं सरकार के विरुद्ध कोई गठबन्धन न कर सकें।

इसके अतिरिक्त एक अन्य कानून भी था जो अमीर की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति जब्ती का था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी सारी सम्पत्ति सरकारी खजाने में जमा हो जाती थी। इस पर इतिहासकारों में मतभेद हैं।

अमीर वर्ग पर नियन्त्रण और सन्तुलन रखनेवाले इन उपायों को अकबर और जहाँगीर के शासनकाल में कड़ाई से लागू किया जाता रहा। शाहजहाँ के काल में भी ये एक तर्कसंगत सीमा तक लागू होते रहे। ऐसा लगता है कि औरंगजेब ने भी मनसबदारी प्रथा से सम्बन्धित नियमों में या कि अमीरों के वेतनमान सम्बन्धी कानूनों में किसी तरह के उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किए। इसलिए यह मानने का कोई औचित्य नहीं जान पड़ता कि दक्कन की ओर प्रयाण से पहले अमीर वर्ग पर नियन्त्रण रखनेवाली औरंगजेब की सत्ता में किसी प्रकार की कमी आई थी या कि मनसबदारों के दायित्वों के निर्वहन में पहले जैसी कड़ाई नहीं बरती गई।

अमीरों की जीवन शैली एवं स्तर

अमीर वर्ग का जीवन–स्तर किसी भी मध्यकालीन समाज के अभिजात्य वर्ग से अधिक विलासितापूर्ण था। मुगल सरकार से इनको बहुत अच्छी तनख्वाह मिलती थी जिसको वे अपने जीवन को विलासितापूर्ण बनाने के लिए खर्च करते थे। डॉ० वी०एस० चयानी ने विभिन्न इतिहासकारों द्वारा की गई शोध के निष्कर्षों को सारांश में प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार उनकी सैनिक व्यवस्था इस प्रकार थी – प्रत्येक अमीर की अपनी "अर्ध–स्वायत्त सरकार" होती थी, जिसमें उसकी सैनिक टुकड़ी, अफसर और अमला, घरेलू कर्मचारी, हरम, नौकर–चाकर और आश्रित वर्ग सम्मिलित थे। इस प्रकार की सभी सरकारें अपने आप में स्वतन्त्र इकाइयाँ होती थीं, क्योंकि बादशाह के प्रति अमीर के सैनिक या अन्य प्रकार के दायित्वों की पूर्ति के बाद बची आय को वह अपनी मनमर्जी के अनुसार खर्च करने के लिए स्वतन्त्र था।

अपने निजी खर्चों के लिए अमीरों को एक बड़ी रकम मिलती थी। एक पाँच हजारी मनसबदारी को तीस हजार, तीन हजारी को सत्रह हजार और एक हजारी को आठ हजार रुपये तक हर माह तनख्वाह मिलती थी। इतनी बड़ी रकम को अमीर अपनी निजी तनख्वाह में से करीब आधी रकम परिवहन के काम में आनेवाले जानवरों के रख–रखाव और अपनी जागीर के प्रशासन पर खर्च कर देते थे, फिर भी जो रकम बचती थी उससे वे पूरी तरह विलासिता की जिन्दगी बसर करते थे। सच पूछें तो पक्का आडम्बरपूर्ण जीवन जीने के लिए अमीर वर्ग के बीच मुगल बादशाहों की नकल उतारने की होड़ मची हुई थी। उनके खर्चों की फेहरिस्त में एक अति महत्त्वपूर्ण मद शहशाह को दी जानेवाली भेंटों से सम्बन्धित थी। फिर भी यह बात याद रखने योग्य है कि दी जानेवाली भेंटों का मूल्य हर अमीर के स्तर के अनुसार निर्धारित था। बदले में अमीरों को भी बादशाह की ओर से उपहार मिलते रहते थे।

कुछ इतिहासकारों का मत है कि मुगलकालीन अमीर वर्ग में बचत के प्रति तनिक भी रूचि नहीं थी। इसका कारण धन जब्ती कानून को मानते हैं क्योंकि इस कानून के अनुसार अमीरों की मृत्यु के बाद उनकी सारी सम्पत्ति शाही खजाने में वापस आ जाती थी। सामान्यतः वे धन जमा करने के बजाय उसे खर्च करना ही मुगलिया अमीर वर्ग की प्रमुख विशेषता थी। यद्यपि हमारी जानकारी में कुछ ऐसे अमीर अवश्य हुए हैं जिन्होंने अपनी मृत्यु के बाद अपार धन–दौलत पीछे छोड़ी थी, किन्तु ज्यादातर अमीर तो अपनी फिजूलखर्ची की आदतों की वजह से अपने पीछे बड़े–बड़े कर्ज ही छोड़ जाते थे।

केवल कुछ अमीरों ने ही अपनी आय विभिन्न प्रकार के उद्यमों में लगाई। तत्कालीन यूरोपीय यात्रियों के वृत्तान्तों से ऐसा लगता है कि कुछ अमीरों में व्यापार और वाणिज्य के प्रति भी रूचि थी। जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में आसफ खाँ ने गहरी वाणिज्यिक रूचि प्रदर्शित की थी और वह अपने ही स्तर पर व्यापार से अपार सम्पत्ति अर्जित करने में सफल हुआ था। औरंगजेब के शासनकाल में शाइस्ता खाँ और मीर जुमला जैसे प्रमुख अमीर बड़े पैमाने पर वाणिज्यिक उद्यमों में लिप्त रहे। शाइस्ता खाँ की तो आन्तरिक व्यापार में ही रूचि थी, पर मीर जुमला के पास जहाजों का एक बड़ा बेड़ा था जिससे उसने फारस, अरब और दक्षिण पूर्व एशिया के देशों के साथ विस्तृत व्यापारिक सम्बन्ध जोड़े। सामान्यतः अमीरों की आय का मुख्य स्रोत जमीन थी, न कि वाणिज्य–व्यापार।

एक ओर अमीरों ने मुगल बादशाहों की जीवन–शैली का अनुसरण किया तो दूसरी ओर समाज के कुछ वर्गों ने भी, जहाँ तक बन पड़ा वहाँ, अमीरों के रहन–सहन की नकल करनी चाही। इसका परिणाम यह हुआ कि ऐशो–आराम की हर प्रकार की वस्तुओं

की तथा देश में बनी उच्च स्तर की कारीगरी की चीजों की माँग बढ़ गई। इनमें से कुछ चीज तो बहुत कुछ अमीरों के कारखानों में ही बनती थी। बर्नियर के द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों के अनुसार ये कारखाने किन्हीं ठोस आर्थिक सिद्धान्तों पर न चलकर बेगार के बल पर चलते थे।

विलासितापूर्ण जीवन के अतिरिक्त उनमें से काफी अमीरों ने जनता के हित के कार्य भी किए। कुछ अमीरों ने जनता की कल्याणकारी योजनाओं में और धर्मार्थ कार्यों में रूचि ली। उन्होंने सराय और पुल बनवाए, कुएँ और तालाब खुदवाए, बाग–बगीचे लगवाए और मस्जिदें खड़ी कीं। कभी–कभी उन्होंने लंगर भी लगवाए। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक प्रकार के कलाकारों को आश्रय प्रदान किया। बहुतों के परिवारों में संगीतकारों को आश्रय मिला। कारीगरों, चित्रकारों, कवियों और विद्वानों को भी प्रश्रय व प्रोत्साहन दिया गया। इसी का परिणाम हुआ कि मुगल काल में एक उत्कृष्ट सांस्कृतिक वातावरण बना और फला–फूला। इसमें अमीरों का योगदान बहुत बड़ा है। इस तरह उन्होंने शासक वर्ग की तरह जनता के हितों का ध्यान रखा।

मुगल बादशाह एवं अमीरों के सम्बन्ध : दरबारी राजनीति में उनकी भूमिका

मुगल अमीर वर्ग पूर्णतः मुगल बादशाह द्वारा निर्मित था। उसकी नियुक्ति एवं पदोन्नति बादशाह की इच्छा पर निर्भर थी लेकिन इसके बावजूद दोनों के मध्य सम्बन्धों में उतार–चढ़ाव आता रहा। कई बार अमीर व्यक्तिगत स्तर पर अत्यधिक प्रभावशाली हो जाता था एवं उसका अपना एक दल हो जाता था और वह अत्यधिक मनमानी करने लगता था। वह बादशाह की भी अनदेखी करने लगता था तब दोनों के मध्य संघर्ष की स्थिति हो जाती थी। बहुत बार अमीरों ने शक्ति प्रदर्शन करने के लिए बादशाह के विरुद्ध विद्रोह भी कर दिए एवं साम्राज्य की राजनीति में संकट खड़े कर दिए। अन्त में बादशाह ने सैनिक शक्ति के बल पर उनके विद्रोहों का निर्दयतापूर्वक कुचल कर उनको दण्डित किया।

मुगल दरबार राजनीति के अखाड़े होते थे। अमीर वर्ग कई दलों में विभाजित होता था। जिस अमीर का जितना बड़ा दल होता था उसका प्रभाव क्षेत्र भी उतना ही विस्तृत होता था। वे ही दल बादशाह को प्रभावित करते थे। डॉ० वी०एस० बयानी ने इन परिस्थितियों को संक्षिप्त में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार अमीरों एवं बादशाह के मध्य सम्बन्ध सदैव मधुर नहीं रहे

अकबर के समय शाही निरंकुशता उच्च शिखर पर थी। इसके लिए यह जरूरी था कि अमीरों की प्रभुता या शक्ति में सुव्यवस्थित रूप से काट–छाँट की जाए ताकि वे शाही ताज के प्रति आज्ञाकारी या ताबेदार रहें और शाही इच्छाओं को पूरा करने के लिए कारगर और भरोसेमन्द साधन साबित हो सकें। अकबर के शासनकाल के आरम्भिक वर्षों में तो लगभग चार साल तक साम्राज्य के वकील बैरम खाँ की तूती बोलती थी। इस अवधि में उसने अन्य सभी अमीरों को अपने कब्जे में रखा। किन्तु जब अकबर ने स्वयं अपनी सत्ता आजमानी चाही तो बैरम खाँ ने बगावत कर दी। अकबर ने इस बगावत को कुचल दिया।

बैरम खाँ की बगावत के दिनों में कुछ अमीर स्वतन्त्र रूप से अलग–अलग समूहों में राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय हुए। अकबर के धाय–माँ माहम अनगा के बेटे अधम खाँ को जब मालवा पर चढ़ाई करने के लिए भेजा गया तो उसने अपनी अकड़ दिखाई। इसके लिए अकबर ने उसे कठोर दण्ड दिया और वह 1561 ई० में मारा गया। फिर भी अकबर की अपनी सम्पूर्ण प्रभुता स्थापित करने में अनेक वर्ष लगे। उस समय अमीर वर्ग में उजबेकों का एक शक्तिशाली समूह बन गया था जिसने युवा शासक की अवमानना शुरू कर दी। सन् 1561 और 1567 ई० के बीच उन्होंने अनेक बार बगावत की। इसी बीच मिर्जाओं की बगावत से आधुनिक उत्तर–प्रदेश के पश्चिमी भाग में हलचल मच गई। इन बगावतों से बढ़ावा पाकर अकबर के सौतेले भाई मिर्जा हकीम ने लाहौर को घेर लिया। उजबेकी बागियों ने औपचारिक रूप से उसे अपना शासक मानने की घोषणा कर दी। अकबर ने मिर्जाओं और उजबेक– दोनों की बगावतों को कुचल दिया। अमीर वर्ग के प्रति अकबर ने "जैसे के साथ तैसा" सिद्धान्त अपनाया। जो विरोधी अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेता था, उसके प्रति वह उदारता का व्यवहार करता था। उदाहरण के लिए बैरम खाँ की मौत के बाद अकबर ने उसकी बेवा (विधवा) से शादी कर ली और उसके बेटे का अपने बेटे की ही तरह पालन–पोषण किया।

जहाँगीर के शासनकाल में कुछ अमीर वर्गों ने अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व प्राप्त कर लिया। कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि नूरजहाँ ने अपने पिता एतमादउद्दौला और भाई आसफ खाँ के साथ खुर्रम (शाहजहाँ) की मिलीभगत से एक ऐसा गुट बना लिया था जिसके पंजे में जहाँगीर इतना अधिक फँस गया था कि सारे मामलों का निपटारा खुद नूरजहाँ ही करने लगी थी। इससे राज–दरबार दो भागों में बँट गया। ये थे नूरजहाँ का गुट और विरोधी गुट। सतीश चन्द्र ने इस मत का खण्डन किया है। उन्होंने जहाँगीर की आत्म–कथा तुजुक–ए–जहाँगीरी का हवाला दिया है जिसमें बताया गया है कि जहाँगीर 1622 ई० तक अर्थात् उसके शारीरिक दृष्टि

से टूट जाने तक, सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय खुद ही लिया करता था। सतीश चन्द्र के अनुसार जहाँगीर एक गुट विशेष या नूरजहाँ पर आश्रित नहीं था। यह बात इस तथ्य से साबित होती है कि जो अमीर उस गुट के पक्ष में नहीं थे, उन्हें भी बराबर सामान्यरूप से ही उच्च स्थितियाँ और पदोन्नतियाँ प्राप्त होती रहीं। जो भी हो, यह तो सच है कि जहाँगीर के शासनकाल में प्रतिद्वंद्वी अमीर दलों के झगड़े प्रकाश में आए।

कभी-कभी मुगल सम्राट की परमसत्ता को किसी महत्त्वाकांक्षी शाहजादे से चुनौती भी मिली जो कुछ प्रभावशाली अमीरों से मिलकर विद्रोह के स्तर पर उतर आया। खुसरो और खुर्रम दोनों ने ही जहाँगीर के विरुद्ध विद्रोह किया। जहाँगीर इनके विद्रोह को दबाने में सफल हुआ। शाहजहाँ की बगावत में उसके ससुर आसफ खाँ और कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण दरबारी अमीरों ने साथ दिया। आसफ खाँ, जिसे जहाँगीर ने अपने दरबार में "वकील" मुकर्ररद किया था, जहाँगीर की मौत के बाद मुगल तख्त पर शाहजहाँ की गद्दीनशीनी के लिए मैदान साफ करनेवालों में खासतौर पर जिम्मेदार था।

शाहजहाँ का शासनकाल अमीर वर्ग के बीच खुली गुटबन्दी से यथोचितरूप में मुक्त रहा लगता है। उसके शासनकाल के अन्तिम वर्षों में जब संकट शुरू हुआ और उत्तराधिकार का युद्ध शुरू हुआ तो उसके सभी बेटे अपने लिए समर्थन जुटाने में लग गए। इससे निश्चय ही गुटबन्दी बढ़ी। सामूगढ़ की लड़ाई में गद्दी के दावेदार शाहजादों की मदद करनेवाले अमीरों की संख्या का ब्यौरा देनेवाली सारिणी का विश्लेषण करके अतहर अली ने यह निष्कर्ष निकाला कि दारा, शुजा, मुराद और औरंगजेब के बीच छिड़े और लड़े गए उत्तराधिकार के युद्ध में अमीरों के जो दल बने, उनका आधार आनुवंशिकता या धर्म नहीं था, अर्थात्, हर वर्ग में हर वंश और धर्म के लोग सम्मिलित थे। दलों का निर्माण इस बात को लेकर हुआ कि किस शाहजादे ने किस अमीर के साथ क्या-क्या वादे किए या किस अमीर का शाहजादे के साथ व्यक्तिगत स्तर पर कैसा सम्बन्ध था। औरंगजेब को अनेक अमीरों का समर्थन मिला जिनमें हिन्दू भी सम्मिलित थे।

अपने आरम्भिक शासनकाल में औरंगजेब ने जिन राजपूत राजाओं को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया, उनमें राणा राज सिंह, मिर्जा राजा जय सिंह और जसवन्त सिंह भी थे। वह अपने इस प्रयत्न में एक बड़ी सीमा तक सफल भी हुआ। फिर भी, जैसा कि हम विचार कर चुके हैं, कुछ राजपूत राजाओं के साथ उसके सम्बन्ध बिगड़ गए और इसी के परिणामस्वरूप सन् 1679-80 ई० में राठौड़ों और सीसोदियों ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया।

सन् 1682 से लेकर 1707 ई० में अपनी मृत्यु तक लगभग 25 वर्ष से ऊपर औरंगजेब दक्कन में रहा। दक्कन में मुगल सेना के रख-रखाव पर अपार धन खर्च होता था और युद्ध भी लम्बा खिंचता चला गया, पर उसका परिणाम अनिश्चित ही रहा। इस वजह से भी राजनीतिक संकट के बादल घने होते गए और अमीर वर्ग भी इससे अप्रभावित नहीं रह सका। दक्कन में औरंगजेब के उलझने के बारे में अलग-अलग अमीरों का नजरिया अलग-अलग रहा। इसी प्रश्न को लेकर बड़े अमीरों के दो दल बन गए। प्रो० सतीशचन्द्र के अनुसार एक दल का नेतृत्व जुल्फिकार खाँ एवं दूसरे का गाजीउद्दीन खाँ फिरोज जंग के हाथों में था। पहला दल चाहता था कि मराठों को सन्तुष्ट कर उनसे समझौता कर लिया जाए ताकि मुगल सत्ता दक्कन में बनी रह सके। इसके विपरीत गाजीउद्दी खाँ फिरोज जंग ने मराठों के खिलाफ कड़ा और असमझौतावादी रूख अपनाया। अमीर वर्ग के बीच वैमनस्य, प्रतिस्पर्द्धा और गुटबन्दी की जो भावना व्याप्त थी और जिसका ये दोनों दल प्रतिनिधित्व करते थे, उससे साफ पता चल जाता है कि भविष्य में मुगल साम्राज्य को किस तरह के गम्भीर राजनीतिक संकट का सामना करना पड़ा होगा।

औरंगजेब के शासनकाल के उत्तरार्ध में सैनिक और राजनैतिक आवश्यकताएँ इतनी बढ़ गई कि उसे मराठों और अन्य दक्कनी अमीरों को मनसबदारियाँ देनी पड़ीं। लेकिन एक ऐसी भी अवस्था आई जब मनसबें तो दी जा सकती थीं, पर जागीरें नहीं। इसका कारण यह था कि जागीरें पाने के इच्छुक व्यक्तियों की संख्या तो बहुत बड़ी थी किन्तु खजाने पर वित्तीय दबाव बढ़ जाने के डर ने "खालिसा" से "जागीरों" में भूमि के हस्तान्तरण को असम्भव सा बना दिया। इस तरह जागीरें तो थीं पर वहाँ अशान्ति फैली होने के कारण ठीक तरह से मालगुजारी उगाहना सम्भव नहीं था, तो अमीरों से भी यह अपेक्षा नहीं की जा सकती थी कि वे अपनी मनसबों के अनुसार फौज का रख-रखाव कर सकें। इसका परिणाम यह हुआ कि फौजी ताकत कमजोर पड़ गई और नई-नई बगावतों को शह मिलने लगी और अशान्ति में बढ़ोत्तरी हुई। अमीरों में अच्छी-अच्छी जागीरें पाने की प्रतिस्पर्द्धा तीव्र हुई, जिसकी वजह से उनके बीच गुटबन्दी भी बढ़ गई। अमीर वर्ग में इस प्रकार की गुटबन्दियों और आपसी रंजिशों में इजाफे की वजह से ही शाही और सैनिक अभियानों में जिस मेल मिलाप और एकता की आवश्यकता थी, उसमें दरार पड़ गई।

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों के समय बादशाह की स्थिति में निरन्तर गिरावट आती चली गई और अमीर वर्ग का प्रभाव दिन–ब–दिन बढ़ता चला गया। बहादुरशाह ने अमीरों को प्रसन्न करने के लिए काफी जागीरें बाँटी जिससे जागीरदारी प्रथा और संकट में धंसती चली गई। 1712 ई० में उसकी मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के युद्धों में अमीरों की शक्ति अत्यधिक बढ़ गई। अब वे मुगल सिंहासन पाने के इच्छुक शहजादे की सहायता करके अपना शिकंजा मजबूत करने में लग गए [illegible] पर अपना कब्जा करने के लिए शहजादों को सीढ़ी की तरह काम में लेना प्रारम्भ कर दिया। इस तरह अमीरों की ताकतवरी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई।

बहादुरशाह की मौत के बाद जुल्फीकार खाँ की सहायता से जहाँदारशाह गद्दी पर बैठा जिसके कारण से सारी सत्ता उसके हाथ में केन्द्रित हो गई। वह वजीर बन गया, उसकी शक्ति का आलम यह था कि थोड़े समय बाद बादशाह स्वयं उसका हटाने के लिए षडयन्त्र करने लगा। ऐसे बादशाह का अन्त तो जल्दी होना निश्चित था। अब्दुल्ला खाँ एवं हुसैन अली खाँ नामक बारहा के दो सैयद भाईयों की सहायता से फर्रूखसियर ने जहाँदारशाह को पराजित किया एवं राजसिंहासन पर बैठा। पुरस्कार के रूप में एक भाई को वजीर एवं दूसरे को मीर बख्शी का पद मिला। बादशाह एवं सैयद भाईयों के बीच प्रेमपूर्ण सम्बन्ध थोड़े दिन तो चले फर्रूखसियर उनकी शक्ति पर अँकुश लगाना चाहता था। बस इसी को लेकर संघर्ष हो गया जिसका अन्त मुगल साम्राज्य के लिए बहुत दुर्भाग्यपूर्ण रहा। सैयद भाइयों ने मुगल बादशाह फर्रूखसियर को गद्दी से उतार कर 1719 ई० को कत्ल कर दिया। इसके बाद के बादशाह इन भाइयों के हाथ की कठपुतली बने रहे। उनको किसी प्रकार की व्यक्तिगत आजादी नहीं थी। यहाँ तक कि किससे मिलना है और कहाँ जाना है, यह भी सैयद भाई ही तय करते थे। इस तरह सन् 1713 से लेकर 1720 ई० में उनके सत्ताच्युत होने तक राज्य की सारी प्रशासनिक शक्तियों पर सैयद भाइयों का ही नियन्त्रण रहा।

अन्त में इन सैयद भाईयों का अन्त भी अमीरों के एक दूसरे गुट ने किया जिसका नेतृत्व निजामुल–मुल्क एवं मुहम्मद खाँ के हाथ में था। मुगल बादशाह मुहम्मद शाह ने पूरी सहायता की थी। इसके बाद मुगल साम्राज्य का वजीर निजामुल–मुल्क को बनाया गया जिसने सुधार लाने के बहुत प्रयास किए लेकिन सफलता न मिलने पर उसने 1724 ई० में अपने पद से त्याग–पत्र दे दिया। इसके बाद उसने अपने लिए एक नए राज्य हैदराबाद की नींव डाली। इसके बाद मुगल अमीरों ने अलग राज्यों की स्थापना करना प्रारम्भ कर दिया जिनमें बंगाल, अवध एवं पंजाब थे। इस प्रकार एक समय में मुगल साम्राज्य के जो अमीर वर्ग आधार स्तम्भ थे वे ही उसके भंजक भी बने। उन्होंने यह काम अलग राज्य स्थापित करके किए।

अमीर वर्ग की स्थिति - साम्राज्य का शासक वर्ग

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि अमीर वर्ग पूर्णतः मुगल बादशाह की रचना थी। दूसरे शब्दों में बादशाह ही उसका जन्मदाता था। लेकिन नियुक्ति के पश्चात् बादशाह स्वयं एवं यह वर्ग सम्पूर्ण प्रशासन तन्त्र का आधार होता था या दूसरे शब्दों मे वह प्रशासन की केन्द्रीय धुरी होता था। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य उसकी सलाह पर किया जाता था। उत्तर मुगल काल में तो कई अमीरों ने अपना कद बादशाह से भी बड़ा कर लिया था। लेकिन यह स्थिति स्वयं उस वर्ग एवं मुगल बादशाह के लिए घातक साबित हुई लेकिन यह बात सही है कि बादशाह के बाद मुगल प्रशासन का वही सर्वेसर्वा था इसलिए हर दृष्टि से वही साम्राज्य का शासक वर्ग था। इस वर्ग की प्रशासन पर अत्यधिक पकड़ थी। अत्यधिक शक्ति के केन्द्रित हो जाने के कारण ही उनके पतन का मार्ग निश्चित हो गया। वे स्वयं को अपने क्षेत्र में बादशाह से कम नहीं मानते थे बल्कि उन्हीं की तरह गतिविधियाँ करते थे। अपने नीचे के अधिकारियों से वे वैसे ही व्यवहार की उम्मीद करते थे जैसा वे बादशाह के लिए करते थे। उनसे भेंट लेते थे एवं बाद के वर्षों में उन्होंने अपने मातहत लोगों से रिश्वत लेकर उनके कार्य करने आरम्भ कर दिए। यही भ्रष्टाचार उनके पतन का कारण भी बना।

अमीर गुटों में विभाजित हो गए एवं हर मामले में सबमें आपस में प्रतिस्पर्धा अत्यधिक बढ़ गई। वे लोग बादशाह से सुविधाएं एवं अधिकार पाने के लिए लड़ते रहते थे एवं अपने गुट के प्रभाव का उपयोग वे दूसरे गुट के विरुद्ध करते थे। डॉ० वी०एस० श्रीवास्तव ने आधुनिक शोधों को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि अमीरों के कुछ गुटों और बादशाह के बीच विरोध की उपस्थिति होने के बावजूद मुगल शासन के दौरान राजशाही और अमीर वर्ग के वास्तविक स्वरूप के बीच किसी प्रकार का संघर्ष नहीं था। इसका कारण यह था कि अमीरों को जोड़नेवाली कोई साँझी कड़ी नहीं थी और न ही उनकी अभिरूचियाँ मेलती थीं। वस्तुतः उनके बीच [illegible] का कोई बिन्दु था तो केवल यह कि वे सब "मुगलों के शासन करने के दैवी अधिकार" में विश्वास रखते थे। अमीरों में कोई भी अपने आपको इतना सबल नहीं मानता था कि वह एक नया राजतन्त्र स्थापित कर सके क्योंकि बादशाहों को अभी [illegible] प्राप्त थी।

भूमि पर उसके पैतृक अधिकार नहीं होते थे, उनकी जागीरें नियमतः स्थानान्तरित होती रहती थीं। बहुत से अमीर तो "नकदी" होते थे अर्थात् उन्हें उनका वेतन सीधे ही कोषागार से नकद मिलता था। किन्तु यदि मुगलिया अमीर आनुवंशिक भू–स्वामी नहीं होते थे तो इसका यह भी अर्थ नहीं निकलता कि वे व्यापारिक बुद्धिवाले शासक वर्ग की श्रेणी में आते थे। वेतन ही उनकी आय का मुख्य स्रोत था, न कि व्यापारिक लाभ। इसके अतिरिक्त वे सब या उनमें से अधिकाँश व्यवसाय–वाणिज्य कर्म करनेवाले मध्यम वर्ग से उठकर भी अमीर नियुक्त नहीं हुए थे। हाँ, कुछ अमीरों ने अवश्य व्यापार और वाणिज्य में भाग लिया था।

जागीरों से होनेवाली आय अनिश्चित थी, फिर भी औरंगजेब के काल में बहुत सारे अमीरों के पास बेहिसाब सम्पत्ति थी जिसका अधिकाँश भाग उन्हें मुख्यतः अपने अधीन भूमि से प्राप्त होता था। यह सम्पत्ति उनके पास या तो पूँजी के रूप में रहती थी या वे इसे अपने–अपने परिवार और आश्रितों के उपभोग के लिए आवश्यक साजो–सामान पर खर्च करते थे। अपने खर्च करने की उनकी शाही तबीयत और फिजूलखर्ची कुल मिलाकर व्यापार और उद्योग की उन्नति में सहायक होने के स्थान पर बाधक ही अधिक बनती थी, क्योंकि इसके परिणामस्वरूप उत्पादन और विलासिता की वस्तुओं के संग्रह पर ही अनावश्यक बल रहता था। इस प्रकार की परिस्थिति में उत्पादन के नए–नए तरीकों और तकनीकी विकास के लिए प्रोत्साहन की गुंजाइश ही नहीं थी। उद्योगों के विकास के बारे में अमीरों का चिन्तन अपनी विलासिता की वस्तुओं की पूर्ति के लिए कुछ कारखाने लगा देने या कम दरों पर कारीगरों से काम लेने की सीमा से आगे कभी नहीं बढ़ा। अमीरों ने अपने व्यापारिक हितों को फैलाने के लिए अपने सरकारी पदों का दुरूपयोग किया। इस प्रकार प्रायः एकाधिकार स्थापित कर, वे देश के आर्थिक कार्य–कलाप की स्वतन्त्र और पूर्ण प्रगति में बाधक ही होते थे। कृषि के विस्तार और सुधार की दिशा में भी अमीरों का योगदान बहुत सीमित रहा। उलटे, जागीरदारी संघर्ष काल में तो इजारा लागू करने से इजारेदारों द्वारा अत्यधिक कमर तोड़ लगान वसूल करने से कृषक वर्ग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

मुगल अमीर वर्ग की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वहीं वास्तव में मुगल शासक वर्ग था। उसकी सम्पूर्ण गतिविधियों के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि वह केन्द्रीय धुरी था। मुगल शासकों ने अत्यन्त सोच विचार के पश्चात् इस वर्ग को खड़ा किया था। बादशाहों ने इसे एक संस्था का रूप दिया एवं इसके संचालन के लिए व्यवस्थित कानून कायदे बनाए ताकि इसको अच्छे ढंग से चलाया जा सके। इनका व्यवस्थित रहना प्रशासन के स्वास्थ्य के लिए हितकर था।

इस वर्ग की एक अन्य विशेषता थी इसका चरित्र। इस पर किसी एक धर्म, जाति या वर्ग का वर्चस्व नहीं था बल्कि इसमें सभी धर्मों, जातियों, क्षेत्रों एवं भिन्न–भिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। इसीलिए इसका मिला–जुला चरित्र एवं स्वरूप था जो इसकी आन्तरिक शक्ति था। मुगल बादशाह इस दिशा में भी यथोचित रूप से सफल हुए कि वे अमीर वर्ग के दिलों में एक समान उद्देश्य की भावना तथा शासक राजवंश के प्रति निष्ठा की भावना भर सके। उन्होंने अमीरों को एक सुस्पष्ट सांस्कृतिक दृष्टिकोण अपनाने और प्रशासन में उच्च–स्तरीय कुशलता और प्रयत्नों की परम्परा कायम करने की शिक्षा भी दी। यही स्पष्ट कारण था जिसने लगभग डेढ़ शताब्दी तक देश में अद्भुत एकता और सुशासन बनाए रखा।

मुगल साम्राज्य के विस्तार में इसी वर्ग का योगदान था जो उल्लेखनीय रहा था। लेकिन जिस साम्राज्य को इन्होंने अपने खून से सींचा उसके सामने उन्होंने ही अनेक प्रकार की समस्याएँ पैदा कीं जो उनके कार्य करने के तरीके से उपजी थीं। मुगल बादशाह इन समस्याओं का कोई स्थाई हल ढूँढ़ने में असफल रहे जो इस संस्था के अस्तित्व के लिए घातक सिद्ध हुआ। धीरे–धीरे साम्राज्य में जागीरदारी संकट उत्पन्न हो गया एवं जागीरें चाहनेवालों को वास्तव में मिल ही नहीं पाती थीं। जैसे–जैसे अमीर वर्ग का विस्तार हुआ वैसे–वैसे यह समस्या गहराती चली गई। औरंगजेब के समय में इसने विकराल रूप धारण कर लिया। इस दौर में दक्कनी एवं मराठों को बड़ी संख्या में मुगल सेवा में लेकर मनसब प्रदान किए गए जिससे अमीरों के मध्य संघर्ष शुरू हो गया। इस समस्या का औरंगजेब के पास कोई स्थाई उपाय नहीं था। उसकी मृत्यु के पश्चात् हालात बेकाबू हो गए एवं अमीर वर्ग जो साम्राज्य का शासक वर्ग होने के नाते उसका रक्षक था, वही बाद में इसका भक्षक बन गया। यही वर्ग मुगल साम्राज्य का विनाशक भी बन गया।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि जब तक मुगल शासक वर्ग के निर्माणकर्ता बादशाह एवं अमीरों के मध्य सम्बन्धों में सामंजस्यता रही तक तक साम्राज्य फलता फूलता रहा लेकिन जैसे ही इनमें टकराहट प्रारम्भ हुई तब इसका प्रभाव साम्राज्य की स्थिरता पर पड़ा। इस वर्ग के स्वार्थी एवं महत्त्वाकाँक्षी होने पर शासक केन्द्रित व्यवस्था चरमराने लगी एवं अन्त में उसका पतन हो गया।

अध्याय-8

मनसबदारी व्यवस्था

मनसबदारी व्यवस्था का जन्मदाता मुगल सम्राट अकबर था। मुगल बादशाह एक ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था आरम्भ करना चाहता था जो उसके सम्पूर्ण साम्राज्य के प्रशासन को सुचारूरूप से संचालित करने में सक्षम हो। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसने जो यह व्यवस्था चालू की वह मुगल साम्राज्य की सैनिक एवं सिविल सेवाओं की आवश्यकताओं का पूरा करने में सक्षम थी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यह दोनों सेवाओं की आधार बनी। अकबर के उत्तराधिकारियों ने राजनीतिक एवं आर्थिक कारणों से उपजी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए इसमें कुछ परिवर्तन किए। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जो प्रशासनिक व्यवस्था अकबर ने आरम्भ की वह कुछ संशोधनों के साथ अपनी मूल विशेषताओं के साथ मुगल साम्राज्य के अन्त तक चलती रही।

मुगल साम्राज्य के निरन्तर होते हुए विस्तार को देखकर अकबर को एक व्यवस्थित प्रशासन की आवश्यकता महसूस हुई। उसने यह अनुभव कर लिया था कि बिना इस प्रकार की व्यवस्था के इतने विशाल साम्राज्य का संचालन एक दुष्कर कार्य होगा। वह उन गलतियों को नहीं दोहराना चाहता था जो मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर एवं उसके स्वयं के पिता हुमायूँ ने कीं। वे दोनों उसके लिए एक असंगठित एवं छिन्न–भिन्न साम्राज्य छोड़ गए थे। इन दोनों मुगल शासकों को प्रशासन को सुसंगठित करने का समय ही नहीं मिल सका। बाबर 1526 ई0 में पानीपत युद्ध के पश्चात् जीवन के अन्तिम समय तक युद्धों में ही व्यस्त रहा। उसकी प्रथम आवश्यकता थी भारत में मुगल राजवंश की नींव डालना जो काम उसने सफलतापूर्वक किया। नए साम्राज्य के प्रशासन को गठित करने का उसे समय ही नहीं मिल पाया और वह यह जिम्मेदारी अपने पुत्र हुमायूँ के लिए विरासत में छोड़ गया। हुमायूँ दुर्भाग्यशाली रहा और राजनीतिक समस्याओं में ही उलझा रहा। इन्हीं के चलते उसे एक बार अपना साम्राज्य गँवाना भी पड़ा। लेकिन उसने खोए हुए अपने साम्राज्य को अपने बुद्धि–कौशल एवं चतुराई से वापिस प्राप्त कर लिया लेकिन बाद में जीवन ने उसका साथ छोड़ दिया। इस प्रकार वह भी अपने शासन की ओर ध्यान नहीं दे पाया। इस प्रकार अपने अवयस्क पुत्र के लिए एक छिन्न–भिन्न साम्राज्य छोड़ गया। उसके पुत्र अकबर ने उसे एक चुनौती के रूप में लिया और प्रशासन को नए सिरे से गठित करके उसे एक नई दिशा दी।

अकबर से पूर्व प्रशासनिक शिथिलता का स्वरूप सैनिक संगठन में भी साफतौर पर देखने को मिल रहा था। साम्राज्य की सैनिक आवश्यकता के लिए बादशाह को अमीरों पर निर्भर रहना पड़ता था। इस समय के सैन्य संगठन की सबसे बड़ी कमजोरी थी अमीरों को मिलनेवाले वेतन एवं उनके द्वारा वेतन के अनुसार रखे जानेवाले सैनिकों की संख्या में किसी प्रकार का तालमेल न होना। इसका मुख्य कारण था कि वेतन निर्धारण के नियम का अभाव। यह सब बादशाह की व्यक्तिगत इच्छा पर निर्भर था। यह साम्राज्य के लिए खतरनाक था क्योंकि इससे अमीरों के शक्तिशाली होने का खतरा सदा मँडराता रहता था। इसलिए इस स्थिति को अकबर ने अच्छी तरह से भांप लिया था एवं इसे शीघ्र से शीघ्र समाप्त करने में जुट गया।

अकबर इस अव्यवस्थित व्यवस्था के स्थान पर नियमों पर आधारित व्यवस्था लागू करना चाहता था। वह चाहता था कि हर प्रशासनिक अधिकारी, अमीर एवं उमरा, चाहे वह कितना ही बड़ा हो उसे अपनी स्थिति का अच्छी तरह से ज्ञान होना चाहिए। उसे यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि वह कानून एवं नियम के अधीन है एवं प्रशासन में उसकी स्थिति एक अधीनस्थ सेवक की है। उसे अपने कर्तव्यों एवं दायित्वों का पूरा बोध होना चाहिए। मुगल बादशाह ने प्रशासन में नियुक्ति एवं पदोन्नति के स्पष्ट नियम बनाए जिनका आधार योग्यता था। स्वयं बादशाह की किसी व्यक्ति के प्रति कृपा की पृष्ठभूमि में उसकी योग्यता एवं कार्यकुशलता ही प्रमुख होती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि अकबर एक ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित करना चाहता था जो पूर्णतः कानून एवं नियमों पर आधारित हो।

इतिहास के सभी कालों में प्रशासन में अधिकारियों एवं सेवकों का स्तर कभी भी एक समान नहीं होता था। कोई ऊँचे पद पर तो कोई–कोई छोटे दर्जे का होता था। सभी मिलकर प्रशासन में एक सोपान तन्त्र का निर्माण करते थे। सभी की नियुक्ति एवं पदोन्नति शासक की व्यक्तिगत इच्छा पर निर्भर करती थी। लेकिन अकबर से पूर्व प्रशासनिक अधिकारियों के सोपान क्रम में स्थान को तय करने के लिए किसी एक तकनीकी शब्द का प्रयोग नहीं हुआ था। अकबर ने अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में ही सोपान–क्रम में किसी अधिकारी की स्थिति निश्चित करने के लिए 'मनसब' शब्द की खोज की।

इससे इसके धारक की मुगल प्रशासन में स्थिति का ज्ञान होता था इसलिए इस शब्द का अर्थ, मद या श्रेणी था। इतिहासकारों में इस बात को लकर आम सहमति है कि रईसों, अमीरों एवं सेना के अधिकारियों को मनसब देने की प्रथा अकबर के समय में आरम्भ हुई। मनसब में संख्या जोड़ने की शुरूआत हुई जिसका तात्पर्य था मनसबदार का दायित्व निश्चित करना। मनसब में दो शब्दों का प्रयोग होता था जात एव सवार। जात से जुड़ी संख्या मनसबदार के निजी वेतन तथा प्रशासन के सोपान–क्रम में उसकी स्थिति निर्धारित करती थी जबकि सवार के साथ जुड़ी संख्या उसके द्वारा रखे जानेवाले घुड़सवारों तथा उनके वेतन को इंगित करती थी।

मनसब व्यवस्था कैसे विकसित हुई इसे लेकर इतिहासकारों में मतभेद हैं। ब्रिटिश इतिहासकार डब्ल्यू0एच0 मोरलैण्ड प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने इस व्यवस्था का अध्ययन किया। उनके अनुसार अकबर से पहले मनसब में मात्र एक ओहदे का प्रचलन था जो मंगोलों से विरासत में मिला था। इस एक ओहदे से मनसबदारों द्वारा रखे जानेवाले सैनिकों की संख्या का पता चलता था। ब्रिटिश इतिहासकार के अनुसार अपने शासन के ग्यारहवें वर्ष अर्थात् 1566–67 ई0 में इस व्यवस्था को प्रभावी बनाने के लिए सवार पद जोड़ दिया। जात पद को मनसबदार के व्यक्तिगत वेतन तक सीमित कर दिया। मोरलैण्ड के इस मत से अब्दुल अजीज ने अपने ग्रन्थ (मनसबदारी सिस्टम एण्ड द मुगल आर्मी) में पूर्णतः सहमति व्यक्ति की।

लम्बे समय के पश्चात् 961 ई0 में अलीगढ़ के प्रोफेसर ए0 जान कैसर ने इस स्थापित मत का प्रतिवाद अर्थात् विरोध किया। उनके अनुसार जात एवं सवार दोनों का जन्म एक साथ अकबर के शासनकाल के अट्ठारहवें वर्ष अर्थात् 1573–74 ई0 में हुआ था। इस वर्ष से पूर्व जिन अमीरों के नाम के आगे मनसब का उल्लेख है वह काल्पनिक है। ऐसा सम्भवतः इसलिए किया गया ताकि प्रशासन तन्त्र में उनकी स्थिति निर्धारित की जा सके। इस धारणा के पीछे उनका मानना है कि 1573–74 ई0 से पूर्व ही ये मनसबदार दिवंगत हो चुके थे इसलिए ये मनसब वास्तव में उनको कभी प्रदान ही नहीं किए गए थे। उनकी इस दृढ़ धारणा का कारण 1573–74 ई0 का वर्ष था जबकि इस व्यवस्था ने ही जन्म लिया था इसलिए पूर्व के सभी मनसब काल्पनिक थे।

अलीगढ़ की ही प्रो0 शीरीं मूसवी ने प्रोफेसर कैसर की मान्यता का खण्डन किया है। उसके अनुसार 1973–74 ई0 तक के समय में केवल एक ही पद प्रचलन में था जैसे सदी, हजारी, दो हजारी एवं पंच हजारी आदि। इसका सीधा तात्पर्य यह हुआ कि अमीरों द्वारा रखे जानेवाले सवारों की संख्या से ही उनके मनसब अथवा पद या श्रेणी का ही पता चलता था। इसका अर्थ था सवार पद ही अमीर की श्रेणी की पहिचान थी। इससे एक अन्य बात भी साफतौर पर उजागर हो जाती है वह है इस समय तक दो या युगल पद (जात एवं सवार) एक साथ प्रचलन में नहीं आए थे। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 1573–74 ई0 तक मनसबदारों द्वारा रखे जानेवाले सैनिकों की संख्या का निर्धारण या निश्चय जागीर से होनेवाली आमदनी के आधार पर कर दिया जाता था। यह व्यवस्था अकबर के अट्ठारहवें वर्ष अर्थात् 1573–74 ई0 में दाग प्रथा के शुरू होने तक जारी रही।

दाग प्रथा शुरू होने के एक वर्ष पश्चात् अर्थात् 1574–75 ई0 में शाही अधिकारियों के ओहदों के अर्थ में मनसब शब्द की शुरूआत हुई थी।

प्रो0 शीरी मूसवी ने मोतामिदखाँ के ग्रन्थ इकबालनामा–ए–जहाँगीरी में लिखित महत्वपूर्ण कथन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि मनसबदारों के वेतन उनके मनसबों के अनुसार नियत थे, यद्यपि उनके सैनिकों के लिए दरें अलग से स्वीकृत की गई थीं। इसके अतिरिक्त मनसबदारों को हाथियों तथा घोड़ों के लिए अस्तबल अलग से रखने पड़ते थे।

प्रो0 के0के0 त्रिवेदी ने इस सम्पूर्ण बहस के निष्कर्षों को अत्यन्त प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा कि सम्पूर्ण विवरणों से यह तथ्य उजागर होते हैं कि "अट्ठारहवें –उन्नीसवें शासकीय वर्ष की व्यवस्थाएँ इस प्रकार थीं : संख्या पर आधारित एकल मनसब प्रदान किया जाता था। मनसबदार को अपने मनसब में निर्दिष्ट संख्या के अनुरूप घुड़सवारों की व्यवस्था करनी होती थी। मनसबदारों को युद्ध में काम करनेवाले, बोझा ढोनेवाले पशुओं एवं गाड़ियों आदि की व्यवस्था भी स्वयं करनी होती थी। मनसब प्रदान करने के बाद ऑशिक रूप से अदायगी भी की जाती थी। बकाया राशि की अदायगी उस समय की जाती थी जब मनसबदार अपने मनसब में निर्दिष्ट संख्या के अनुसार घुड़सवार दस्ते को लेकर निरीक्षण एवं दाग आदि की औपचारिकताएँ पूरी करने के लिए उपस्थित होता था।

सवार पद की आवश्यकता

सब कुछ निश्चित हो जाने के बाद मनसबदारों एवं राज्य के बीच एक समस्या खड़ी हो जाती थी। सब कुछ कागजों पर निश्चित हो जाने के बाद भी मनसबदार हमेशा इस बात की कोशिश करता था कि वह मनसब के अनुरूप सैनिक न रखे एव जितने भी रखे

अप्रशिक्षित सैनिक रखे। इससे भी बडी बेईमानी वह यह भी करता था कि निरीक्षण के समय किसी भी व्यक्ति को सैनिक के तौर पर दिखा दे। इससे मुगल सैन्य शक्ति की सक्षमता पर भी प्रभाव पड़ता था इसलिए इस समस्या से निबटने के उपाय सोचे जाने लगे। अन्त में मुगल प्रशासन इस नतीजे पर पहुँचा कि एकल संख्या के मनसब के साथ एक अन्य सख्यात्मक पद और जोड़ दिया जाए जो अलग से सैनिकों की संख्या को इंगित करता हो। इस नए पद का नाम सवार रखा गया। इसके साथ ही पूर्व में प्रचलित एकल पद का भी नामकरण अब कर दिया गया। इसका नाम जात कर दिया गया। इस प्रकार प्रथम पद जात से मनसबदार के निजी वेतन का पता चलता था एवं द्वितीय पद सवार से मनसबदार की श्रेणी का पता चलता था। सवार पद के लिए मिलनेवाले वेतन से सैनिकों की तनख्वाह एवं उनके द्वारा रखे जानेवाले जानवरों के खर्च सम्मिलित होते थे।

प्रो0 शीरीं मूसवी ने अबुल फजल के आधार पर अकबर के समय में ही मनसब व्यवस्था में एक और विकास को दर्शाया है यह विकास अकबर के शासनकाल के चालीसवें वर्ष अर्थात् 1595–96 ई0 में हुआ। उसके अनुसार इस समय मनसबदार तीन श्रेणियों में रखे गए जो निम्न थे : प्रथम श्रेणी, इस श्रेणी में वे मनसबदार आते थे जो अपनी जात सख्या के बराबर सैनिक रखते थे द्वितीय श्रेणी में ऐसे मनसबदार आते थे जो अपने जात पद के आधे के बराबर या इससे अधिक घुड़सवार रखते थे। तीसरी श्रेणी में वे सैनिक अधिकारी या मनसबदार आते थे जो अपने जात मनसब के आधे से भी कम घुड़सवार सैनिक रखते थे।

प्रो0 मूसवी ने अकबर के समय मनसब व्यवस्था के विकास के चरणों को संक्षेप रूप में गिनाया है जो निम्न है

प्रथम, अकबर के शासन के पहले दस सालों तक पूर्व शासकों के समय से चली आ रही सैनिक टुकडियों के आकार के अनुरूप कोई स्थाई सैनिक दायित्व नियत नहीं हुआ था। व्यक्तियों के वेतन कम या अधिक मनमाने ढ़ग से निश्चित किए जाते थे।

द्वितीय, अकबर ने ग्यारहवें वर्ष में सैनिक दायित्व निश्चित करने का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त यह भी तय करने का प्रयास किया कि अमीर स्वीकृत दरों के आधार पर अपनी जागीरों से राजस्व के अनुसार घुड़सवारों को रखें।

तृतीय, अकबर के शासन के 1573–74 ई0 में संख्यात्मक मनसब स्थापित किया गया। अमीरों को कोई संख्या प्रदान की गई जो उनके वेतन का एवं उन जानवरों की संख्या का निर्धारण करती थी जो उनको व्यक्तिगत दायित्व के तौर पर उन्हें रखने पड़ते थे। इससे भी महत्त्व की बात यह है कि उन्हें अपने मनसब की संख्या के बराबर सवार रखने पड़ते थे। लेकिन वास्तविक रूप में अमीर जाँच के लिए अपेक्षित घोड़े नहीं लाते थे।

चतुर्थ, अकबर के शासन काल के चालीसवें वर्ष अर्थात् 1595–96 ई0 में मनसब के अनुपात में रखे गए सवारों की सख्या के आधार पर मनसबदारों की तीन श्रेणियों में रखा गया। अतः अब इस वर्ष से सवारों की संख्या मनसब की संख्या से अलग समझी जाने लगी।

पंचम, शासन के 41वें वर्ष अर्थात् 1596–97 ई0 में या इससे थोड़ा पहले मनसब का स्वरूप दुध हो गया। तब से मनसब को दो संख्याओं के जोड़े के द्वारा व्यक्त किया जाने लगा। जात मनसबदार के वेतन को एवं जानवरों की संख्या को निर्धारित करती थी जबकि दूसरी सवार संख्या को दिखाती थी जिनको मनसबदार को स्वीकृत दर पर रखनी होती थी।

अकबर के समय में विकसित हुई यह मनसब व्यवस्था उसके उत्तराधिकारियों के समय भी अपनी मूल प्रवृत्ति के साथ यथावत बनी रही। उनके समय में बदली राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए कुछ परिवर्तन किए गए लेकिन जात एवं सवार पदों का जोड़ा यूँ ही जारी रहा। मनसबदारों के दायित्वों के निर्धारण पहले की भाँति ही चलता रहा। बाद में किए गए परिवर्तनों का प्रशासन पर मिलाजुला प्रभाव पड़ा।

जहाँगीर के समय दु-अस्पा एवं सिहँ-अस्पा का प्रचलनः

जहाँगीर के समय मनसब व्यवस्था में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता महसूस हुई लेकिन मुगल बादशाह इस व्यवस्था की मूल प्रकृति को भी परिवर्तत नहीं करना चाहता था। अकबर के समय इस व्यवस्था से दो नियम जुड़े थे प्रथम, मनसबदार का सवार पद किसी भी स्थिति में उसके जात पद से अधिक न होना; द्वितीय, किसी भी मनसबदार का सर्वोच्च पद 5,000 जात एव 5,000 सवार से अधिक नहीं होगा। यह अन्तिम सीमा होगी।

जहाँगीर ने इन बातों का ध्यान रखते हुए मनसब व्यवस्था के सवार पद में परिवर्तन किया। उसका मानना था कि अगर बादशाह किसी मनसबदार की कार्य–क्षमता से प्रसन्न होकर उसे पुरस्कार देना चाहे तो उसके सामने पुराने नियमों की पालना करते हुए भी कोई रास्ता होना चाहिए। इसलिए उसने दु–अस्पा एवं सिह–अस्पा के सिद्धान्त की शुरूआत की। इनका शाब्दिक अर्थ क्रमशः दो

घुड़सवार एवं तीन घुड़सवार था। उसके अनुसार इन दो शब्दों के प्रयोग के द्वारा उसके सवार पद में वृद्धि के द्वारा उसे पुरस्कृत किया जा सकता है।

साधारणतः उन मनसबदारों को 8,000 दाम प्रति सवार की दर से भुगतान किया जाता था जिनको साधारण मनसब मिला होता था, उदाहरणार्थ 5,000/5,000 जात एवं सवार। लेकिन जिनको सवार पद में दुअस्पा एवं सिंह–अस्पा मिला होता था उनमें अतिरिक्त धन प्रदान किया जाता था। उनको 5,000 सवार पदवाले को 2,000 सवारों के लिए 8,000 दाम की दर से एवं शेष 3,000 सवारों के लिए 16,000 दाम की दर से भुगतान किया जाता था। इन दोनों प्रकार के सवार पद वालों को किया जानेवाला कुल भुगतान आँकड़ों के माध्यम से समझा जा सकता है :

साधारण 5000 सवार पद भुगतान दर 8000 दाम	5000 5 8000 दाम = कुल दाम	4,00,00,000
5000 सवार दु–अस्पा एवं सिह–अस्पा	2000 5 8000 =	1,60,00,000
	3000 5 16000 =	4,00,00,000
	कुल दाम	6,40,00,000

उपर्युक्त तुलनात्मक आँकड़ों से पता चल जाता है कि साधारण 5000 सवार पदवाले को चार करोड़ दाम का भुगतान होता था जबकि इतनी ही संख्यावाले दु–अस्पा एवं सींह–अस्पा सवार वाले को छह करोड़ 40 लाख दाम का भुगतान होता था, यानि कि 2 करोड़ 40 लाख दाम का अतिरिक्त भुगतान होता था। प्रो0 के0के0 त्रिवेदी के अनुसार ऐसे मनसबदारों द्वारा रखे जानेवाले घुड़सवारों की संख्या वास्तव में 8000 होती थी। तत्कालीन समय में सवारों की संख्या ही किसी मनसबदार की श्रेणी एवं उसका प्रभाव निश्चित करती थी। इस व्यवस्था के द्वारा मनसबदारों के सवारों की संख्या में वृद्धि से उनकी प्रतिष्ठा में भी बढ़ोत्तरी होना स्वाभाविक था।

शाहजहाँ द्वारा मासिक अनुमाप या मन्थ स्केल का लागू करना:

समय बीतने के साथ मनसबदारी व्यवस्था में सुधार की आवश्यकता महसूस होने लगी। शाहजहाँ के काल में सुधार का मुख्य कारण आर्थिक था। जागीर व्यवस्था के प्रारम्भ से ही उसकी अनुमानित आय(जमा) एवं वास्तविक रूप में वसूल किए जानेवाले हासिल में काफी अन्तर होता था जिसको लेकर जागीरदारों, मनसबदारों के मध्य काफी असन्तोष रहता था। इसका कारण था मनसबदारों के वेतन के बराबर की अनुमानित आयवाली जागीर दे दी जाती थी। मनसबदार भी अपने घुड़सवारों को भी जागीरों की आय के माध्यम से ही भुगतान करते थे। इसलिए इन सबको काफी आर्थिक नुकसान उठाना पड़ता था। इसके कारण से मनसबदारों द्वारा रखे जानेवाले सैनिकों की संख्या एवं उनकी गुणवत्ता पर भी फर्क पड़ता था। इससे साम्राज्य की सैनिक शक्ति भी कमजोर होती थी। शाहजहाँ ने परिस्थितियों का गहन अध्ययन करने के पश्चात् एक हल निकाला। उसने जागीर देने का आधार ही बदल दिया। मुगल बादशाह ने जागीरों की अनुमानित आय (जमा) के स्थान पर वास्तविक हासिल वसूली के आधार पर जागीरें देने की प्रथा शुरू कर दी। इसे मासिक–अनुमाप या मन्थ स्केल कहा गया। इस नई व्यवस्था के अनुसार अगर किसी जागीर से हासिल की वसूली अनुमानित आय की आधी होती थी तो ऐसी जागीरों को शिशमाहा जागीर माना जाता था लेकिन वसूली मात्र जमा की एक चौथाई होती थी तो ऐसी जागीरों को सीमाही कहा जाने लगा। जागीरों के अनुसार ही मनसबदार के सैनिक रखने का दायित्व भी घट जाता था। उदाहरणार्थ सीमाही जागीर (चौथाई राजस्व वसूली) वाले को मात्र पूर्व निर्धारित सैनिकों का एक चौथाई सैनिक रखना होते थे।

शाहजहाँ के सम्मुख वास्तव में समस्या बहुत मुश्किल थी लेकिन जो हल निकाला वह उसकी बुद्धिमत्ता का द्योतक था। वह जानता था कि आर्थिक नुकसान कोई भी उठाना नहीं चाहता इसलिए उसने काफी सोच समझ के बाद महाना जागीर का यह रास्ता निकाला। उसकी बुद्धिमत्ता इस बात में थी कि उसने मनसबदारों के स्वाभिमान का भी पूरा ध्यान रखा। जागीरों से कम वसूली को मनसबदारों के जात या सवार पद को कम करके भी हल किया जा सकता था लेकिन इससे सैनिक अधिकारियों के नाराज होने का भय था क्योंकि इसे वे अपने पद में गिरावट मानते। इस व्यवस्था से सैनिक दायित्वों में कमी तो हुई लेकिन उनकी गरिमा को चोट नहीं पहुँची। वास्तव में यह व्यवस्था वास्तविकता पर आधारित थी।

शाहजहाँ द्वारा एक-तिहाई एक-चौथाई का अनुपात निश्चित करना

शाहजहाँ ने पूर्व की तरह मनसबदारों का ध्यान रखते हुए एक नया सुधार किया। इस सुधार के अनुसार मनसबदार को उसके अपने जागीर से समीपता या दूरी के आधार पर सवार पद में एक तिहाई एवं एक चौथाई का अनुपात लागू किया। इस नई व्यवस्था के अनुसार मुगल बादशाह ने यह नियम बना दिया कि यदि कोई मनसबदार उसी प्रान्त में नियुक्त है जहाँ उसकी जागीर है तो उसे सवार पद में उल्लिखित संख्या के एक तिहाई घुड़सवार ही रखने होते थे। लेकिन यदि यही मनसबदार किसी अन्य प्रान्त में नियुक्त होता था जहाँ उसकी जागीर नहीं होती थी तो उसे मात्र एक चौथाई घुड़सवार सैनिक रखने होते थे। यदि उसकी नियुक्ति बल्ख एवं बदख्शाँ में होती थी तो उसे सवार पद की संख्या का 1/5 सैनिक ही रखने होते थे। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी 6000/6000 जात एवं सवार धारक मनसबदार को एक ही क्षेत्र या सूबे में जागीर एवं नियुक्ति होने पर 2000 घुड़सवार एवं इसी प्रकार जागीर उत्तर भारत में अथवा नियुक्ति दक्षिण में होने पर उसे 1500 घुड़सवार रखने पड़ते थे। लेकिन इनकी नियुक्ति बल्ख एवं बदख्शाँ में होने पर 1200 सैनिक रखने होते, ऐसा सम्भवतः वहाँ की कठिन परिस्थितियों एवं अपने जागीरी क्षेत्र से राजस्व वसूली के लिए न आ पाने के कारण से किया गया था।

औरंगजेब के समय यही व्यवस्था जारी रही लेकिन एक अतिरिक्त बात भी शामिल कर दी गई यदि किसी मनसबदार को फौजदार के रूप में नियुक्ति या किसी महत्वपूर्ण सैनिक अभियान पर भेजा जाता था तो उसके सवार पद में एक अतिरिक्त बढोत्तरी का तरीका निकाला गया जिसे मशरूत कहा गया। इसके अतिरिक्त कार्य को पूरा करने के लिए उसको सवारों को बढ़ाने का आदेश दे दिया जाता था। ऐसे अतिरिक्त घुड़सवारों का वेतन सामान्य सवारों की दर से ही होता था। कार्य पूरा होने पर यह सुविधा वापिस ले ली जाती थी। कभी–कभी यह वृद्धि मनसबदार के मनसब में शामिल कर दी जाती थी लेकिन तब यह मशरूत नहीं कहलाती थी

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अकबर के द्वारा शुरू की गई मनसबदारी व्यवस्था एक सुव्यवस्थित एव वैज्ञानिक व्यवस्था थी जिसमें उसके उत्तराधिकारियों ने आवश्यक संशोधन किए एवं यह औरंगजेब के समय तक चलती रही। लेकिन इसमें भी कई गुण एवं दोष विद्यमान थे जिनका विश्लेषण आवश्यक है।

घोड़ा दागने से सम्बन्धित नियम

अकबर ने मनसबदारी व्यवस्था शुरू की तब उसमें एक पद था जो जात कहलाता था। बाद में एक दूसरे पद सवार को शुरू किया की इसके पीछे सम्भवतः उसका उद्देश्य मनसबदार को इस बात के लिए बाध्य करना था कि वह निर्धारित संख्या में घोड़े एवं घुड़सवारों को शाही सेवा के लिए वास्तव में रखेगा। लेकिन बादशाह अमीरों की आदतों से परिचित था कि वे गड़बड़ी करते रह सकते। उनकी इस आदत पर अंकुश लगाने, उनके द्वारा निर्धारित सैनिक एवं अन्य सैनिक उत्तरदायित्वों का पूरा करना सुनिश्चित करने हेतु घोड़ों के लिए दाग एवं सैनिको के लिए चेहरा प्रथा शुरू की।

प्रो0 अतहर अली ने घोड़ों को दागने से सम्बन्धित नियमों का संकलन किया है जो जवाबित–ए–आलमगीरी एवं खुलासात–उस "सियाक" नामक ग्रन्थों में लिखे हुए हैं। *"नकदी मनसबदारी" (नकद वेतन पाने वाले)* को दागने वाले अधिकारियों से वर्ष में दो बार एक नवीनीकरण–पत्र (तशीहा) उपलब्ध कराना पड़ता था। यदि कोई मनसबदार छह महीने के अन्दर नवीनीकरण–पत्र प्राप्त करने में असमर्थ रहता, तो उसे दो महीने का समय और दिया जाता था। यदि फिर भी वह नवीनीकरण–पत्र प्राप्त करने में असफल रहता तो आठ महीने से ऊपर का उसका वेतन रोक लिया जाता था।

जहाँ तक वेतन का कुछ भाग नकद और कुछ जागीर के रूप में प्राप्त करने वाले मनसबदारों का प्रश्न है, यदि उनके वेतन के आधे भाग से अधिक उन्हें जागीर के रूप में दिया जाता तो उन्हें, जागीरदारों के लिए नियमों के अनुसार, दाग–सम्बन्धी प्रमाण–पत्र प्राप्त करना पड़ता था– अर्थात्, उन्हें प्रत्येक वर्ष अपने घोड़ों को दगवाने के लिए प्रस्तुत करना पडता था और विलम्ब की दशा में उन्हें छह माह का और समय दिया जाता था। अतिविलम्ब की दशा में उनका वेतन रोक लिया जाता था या जागीरदारों के लिए नियमों के अनुसार उनका वेतन समंजित कर दिया जाता था। यदि मनसबदार को आधे से अधिक वेतन नकद में दिया जाता तो उनके लिए नकदियों के लिए निर्धारित नियम लागू होते थे। यदि वेतन का आधा भाग नकद में और आधा भाग जागीर के रूप में किसी मनसबदार को दिया जाता तो विलम्ब की दशा में नकदियों के लिए नियमों के अनुसार उसे और समय दे दिया जाता था।

वाकया-ए-अजमेर से ऐसा प्रतीत होता है कि औरंगजेब के शासनकाल के 23वें वर्ष में इस आशय का एक आदेश जारी किया गया कि सभी नकदी हर तीसरे महीने और सभी जागीरदार हर छठे महीने अपनी सैनिक टुकडियों को दगवाने के लिए प्रस्तुत करें

मीरात–ए–अहमदी (1652 ई0) में शाहजहाँ का एक फरमान है जिसमें ये नियम दिए गए हैं कि किस अनुपात में घोड़ों को दागने की आवश्यकता होगी या उसकी अपेक्षा की जाएगी। इस प्रकार 5 सवार पद के लिए 'एक बटा पाँच नियम' के अन्तर्गत (1/4 घुड़सवारों का अतिरिक्त अनुपात छोड़ दिया गया) दगवाने के लिए एक ही घुड़सवार पर्याप्त समझा जाता था। दस सवार के पद की अवस्था में, 'एक बटा चार नियम' के अन्तर्गत अढ़ाई घुड़सवार रखना पड़ता था, किन्तु यह अधिकारी की इच्छा पर निर्भर करता था कि वह या तो 3 या 2 घोड़े दगवाने के लिए लाए। यदि वह 3 सवार दगवाने के लिए लाता था, तो उसके वेतन में आधे सवार तक के लिए रसद का खर्च जोड़ दिया जाता था, परन्तु यदि वह दो सवार लाता था तो उसके वेतन में से 1/2 सवार तक के रसद के खर्च में कटौती कर दी जाती थी। पन्द्रह सवारों के पद की अवस्था में, उसे केवल 4 घोड़े दगवाने के लिए लाने पड़ते थे। जमींदारों को अपने सवार पद की संख्या के आधे सवार दगवाने के लिए लाने पड़ते थे। हाजिरी के लिए लाए जानेवाले घोड़ों की नस्ल पर भी सतर्कतापूर्वक नियन्त्रण होता था। ऊपर लिखित फरमान के अनुसार दक्कन, अहमदाबाद, बंगाल और उड़ीसा के प्रान्तों को छोड़कर किसी भी प्रान्त में ताजी घोड़ों को नहीं दागा जा सकता था। तथापि, खुलासात–उस–सियक के अनुसार, जिन मनसबदारों को नकद वेतन मिलता था उन्हें केवल तुर्की घोड़े ही दाग के लिए लाने पड़ते थे, और जागीरदारों को निर्धारित संख्या के दो–तिहाई भाग की पूर्ति तुर्की और याबू घोड़ों से करनी पड़ती थी।

जात पद के अन्तर्गत अपेक्षित जानवरों के समूह का निरीक्षण करने के लिए भी दाग–प्रथा लागू की गयी थी। 5,000 जात और उसके ऊपर के मनसबदारों के लिए दाग का यह नियम लागू नहीं होता था, किन्तु इस पद के नीचे के सभी मनसबदारों को इस नियम का पालन करना पड़ता था। औरंगजेब ने 25वें राजकीय वर्ष में एक आदेश इस आशय से जारी किया कि 5,000 जात पद तक के दक्कन में कार्यरत सभी मनसबदार अपने घोड़ों को (जात पद के अनुसार निर्धारित संख्या में) दगवाने के लिए लायें।

जो मनसबदार निर्धारित संख्या में सैनिकों को नहीं रखते थे उनके प्रति कठोर रूख अपनाया जाता था। उदाहरणार्थ, एक अवसर पर औरंगजेब को यह सूचना दी गयी कि सआदत खाँ के अन्तर्गत सौ बन्दूकधारियों को नियुक्त किया गया था किन्तु निरीक्षण करते समय केवल 65 उपस्थित थे और शेष 35 बाद में आए। सम्राट ने आदेश दिया कि उसे उपस्थिति प्रमाण–पत्र न दिया जाए। जिस मनसबदार के सैनिक निर्धारित संख्या से कम हुआ करते थे उसकी पदावनति करके या उस पर जुर्माना करके दण्डित किया जाता था और प्रायः उसकी जागीर घटा दी जाती थी।

इसके विपरीत, विशेष परिस्थितियों में सम्राट किसी भी मनसबदार के निर्धारित सवारों को घटा भी सकता था। उदाहरणार्थ, 38वें राजकीय वर्ष में औरंगजेब ने हमीद खाँ की सैनिक टुकड़ी को 1/4 से घटा कर 1/5 कर दिया। 1685 ई0 में जब फिरोज जंग बहादुर को इस आशय का आदेश दिया गया कि वह रसद की ओर एक बड़ी सेना को साथ लेकर बीजापुर में शहजादा आजम की मदद करे, तो सम्राट ने दरबार में तैनात 100 से 400 तक के मनसबदारों को 'एक बटा तीन नियम' के अन्तर्गत दाग–सम्बन्धी नियमों के पालन करने से मुक्त कर दिया ताकि शाही अधिकारी उनके घोड़ों को खरीदकर शहजादे के रिसाले को परिपूर्ण कर दें। कभी–कभी सम्राट ऐसे मनसबदार को, जिसकी प्रतिबन्धित पदोन्नति की गयी हो, प्रतिबन्धित पदोन्नति की सीमा तक ही दाग के लिए छूट दे दिया करता था। कुछ उदाहरणों में सम्राट सीमित काल के लिए मनसबदार को दाग से छूट दे दिया करता था– जैसे, 38वें राजकीय वर्ष में औरंगजेब ने शाहजहाँनाबाद के कोतवाल और फौजदार बाकी खाँ को दाग से छूट दे दी थी। औरंगजेब के आठवें राजकीय वर्ष में जब मीर अजीज ने हज जाना चाहा तो हज से वापस लौटने तक उसको दाग से मुक्त कर दिया गया।

मनसबदारों की भर्ती एवं पदोन्नतिः

यह बात सर्वविदित है कि साम्राज्य का सर्वेसर्वा मुगल बादशाह स्वयं था। सम्पूर्ण शक्तियाँ उसमें निहित होती थी। इसलिए सैद्धान्तिक रूप से सभी नियुक्तियाँ एवं पदोन्नतियाँ बादशाह के द्वारा होती थी लेकिन उसने ये शक्तियाँ अपने प्रतिनिधि को सुपुर्द कर रखी थीं। मुगल साम्राज्य में मीर बख्शी नामक अधिकारी के द्वारा यह कार्य होता था। उसका यह दायित्व होता था कि वह भर्ती के लिए इच्छुक व्यक्तियों को बादशाह के सम्मुख प्रस्तुत करे। इसके अतिरिक्त एक अन्य तरीका भी था कि साम्राज्य के प्रमुख अमीर, प्रान्तों के सूबेदार एवं सैनिक अभियानों के सेना–नायक बादशाह को किसी विशेष व्यक्ति की नियुक्ति के लिए सिफारिश किया करते थे। साधारणतया उनकी सिफारिशें मान ली जाती थी एवं सिफारिश किए हुए व्यक्तियों की मनसबदार के रूप में नियुक्ति हो जाती थी। तीसरा तरीका शाहजादों की सिफारिश पर भी नियुक्ति होने का था।

मनसब प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को आवश्यक रूप से जमानत देनी पड़ती थी। इसमें किसी प्रकार की छूट नहीं दी जाती थी। इटालियन यात्री मानूची ने लिखा है कि इस नियम में कोई अपवाद नहीं था। सभी बड़े एवं छोटे सेना–नायकों को जमानत देने के लिए बाध्य किया जाता था। ऐसा न करने पर उनको मनसब नहीं दिया जाता था।

पदोन्नति के लिए भी प्रक्रिया वही थी जो नियुक्ति की थी। इसमें भी साधारणतः शाहजादे एवं सूबेदार अपने अधीनस्थ मनसबदारों की पदोन्नति की सिफारिश करते थे। पदोन्नति का मुख्य आधार योग्यता होता था। किसी भी मनसबदार द्वारा सैनिक अभियानों में वीरता प्रदर्शन पदोन्नति का आधार होता था। पदोन्नति का समय सामान्यतः राजकीय वर्ष के प्रारम्भ एवं बादशाह के जन्मदिवस का अवसर होता था। लेकिन कभी–कभी सैनिक सफलताओं के विशेष अवसर पर भी मनसबदारों एवं अन्य अधिकारियों की पदोन्नति होती थी।

मनसबदारी व्यवस्था के गुण

एक, मनसब प्राप्त करने का आधार योग्यता था इसलिए सभी वर्गों एवं क्षेत्रों के योग्य व्यक्तियों को मुगल सेवा में अवसर मिलने की सम्भावना रहती थी।

दो, मुगल साम्राज्य के विस्तार में मनसबदारों का अभूतपूर्व योगदान रहा।

तीन, साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

चार, मनसबदारों ने विशाल एवं विस्तृत साम्राज्य को एकता के सूत्र में बांधा जिससे व्यापार एवं वाणिज्य की वृद्धि के लिए वातावरण बना।

पाँच, मनसबदारों में बादशाह के प्रति स्वामिभक्ति की भावना बढ़ी क्योंकि उनकी पदोन्नति बादशाह की कृपा पर निर्भर करती थी।

छह, मनसबदारी व्यवस्था में सेवा शर्तें काफी आकर्षक थीं। वेतन काफी अधिक था इसलिए योग्यतम व्यक्तियों ने इस सेवा में प्रवेश को अपना गौरव समझा। इस सेवा में भर्ती के लिए विदेशी व्यक्तियों को भी आकर्षण अत्यधिक था।

व्यवस्था के दोष

एक, मनसबदारों के वेतन काफी हुआ करते थे जिसके कारण से राजस्व का भारी अपव्यय हुआ।

दो, उनके निर्वाह के लिए किसानों से राजस्व की काफी वसूली की गई जिससे खेती का विकास करने के लिए किसानों के पास कुछ भी नहीं बचा था।

तीन, मनसबदारों द्वारा निश्चित संख्या में सैनिक न रखने एवं प्रशिक्षित सैनिकों के स्थान पर आम लोगों को जाँच के लिए प्रस्तुत किए जाने से सेना की कुशलता पर बुरा प्रभाव पड़ने लगा।

चार, मनसबदारों के अधीन सैनिकों की भर्ती एवं उनके वेतन का भुगतान स्वयं उसके द्वारा किया जाता था इसलिए उनकी स्वामिभक्ति मुगल बादशाह के प्रति न होकर मनसबदार के प्रति अधिक होती थी।

पाँच, मनसबदारों में आपसी सामंजस्य की कमी थी जिसका सेना के चरित्र पर प्रभाव पड़ा। उनके द्वारा भर्ती किए गए सैनिकों की ट्रेनिंग की भी कोई विशेष व्यवस्था नहीं थी।

छह, बादशाह की कृपा पदोन्नति के लिए मुख्य तथ्य था इसलिए सभी मनसबदार एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते रहते थे। एक दूसरे के विरुद्ध षडयन्त्र करते रहते थे।

सात, मनसब सिर्फ मनसबदार के लिए व्यक्तिगत होता था। उसकी मृत्यु के पश्चात् मनसब समाप्त हो जाता था एवं उसकी सम्पत्ति भी जब्त हो जाती थी। इस कारण वह अपने जीवन में ही सारा धन खर्च कर देता था।

आठ, औरंगजेब के अन्तिम समय में मनसबदारों को जागीरों की कमी के कारण से जागीर नहीं मिल पाती थी जिससे जागीर संकट उत्पन्न हो गया जो मुगल साम्राज्य के पतन का एक कारण बना।

मुगल सेना के अंग

मनसब व्यवस्था सीधे तौर पर मनसबदारों द्वारा रखे जाने वाले सैनिकों से सम्बन्धित थी जो मुगल सैन्य व्यवस्था के [illegible] मुगल सेना के विभिन्न अंगों के बारे में जानकारी इसीसे सम्बन्धित है। मुगल इतिहास के विद्यार्थियों के लिए मुगल सेना [illegible]

आवश्यक है जिसका एशिया में सर्वप्रथम स्थान था। मुगलों द्वारा रखी जाने वाली सेना के पाँच भाग थे घुडसवार सेना, पैदल सेना, हाथियों की सेना, तोप–खाना एव नौसेना। डॉ0 बी0एल0 गुप्ता एवं डॉ0 पेमाराम ने संक्षेप में अपने ग्रन्थ में लिखा है।

(1) घुड़सवार सेना

घुड़सवार सेना मुगलों की सेना का सर्वश्रेष्ठ भाग था। बाबर ने जिस तुलुगमा पद्धति का प्रयोग कर युद्धों में विजय प्राप्त की थी वह घुड़सवारों की गतिशीलता पर ही आधारित थी। इसमे मुख्यतया दो प्रकार के घुड़सवार सैनिक थ– बारगीर (जिसे घोड़े, अस्त्र–शस्त्र एवं वस्त्र राज्य से मिलते थे) और सिलेदार जो स्वयं इन चीजों की व्यवस्था करता था। घोड़ों की संख्या एवं किस्म के आधार पर भी घुड़सवारों का वर्गीकरण कर रखा था। जैसे जिस सैनिक के पास दो घोड़े होते थे वह 'दु–अस्पा' और तीन घोड़े वाले को 'सिह–अस्पा' कहा जाता था। घोड़ों के हिसाब से सैनिकों का वेतन भी अलग–अलग होता था। इसके अतिरिक्त घुड़सवारों को घोड़ों के हिसाब से भी ऊँची–नीची श्रेणी का माना जाता था। श्रेष्ठता के क्रम में अकबर के समय में घोड़ों को सात भागों में विभक्त किया गया था– अरबी, फारसी, मुजन्नस, तुर्की, यांबु, ताजी और जंगला। मुगलों की सेना में इनमें से तुर्की और ताजी घोड़ों की बहुतायत थी। अकबर के समय में तुर्की घोड़ा रखने वाले सवार को 20 रूपया मासिक तथा ताजी घोड़ा रखने वाले सवार को 15 रूपया मासिक वेतन दिया जाता था।

घुड़सवारों के विषय में भी उनके अलग–अलग 6 वर्ग बने हुए थे। (1) अहदी– ये घुड़सवार सम्राट के व्यक्तिगत सैनिक होते थे और पृथक् सेनापति के अधीन रखे जाते थे और जो साम्राज्य में सर्वश्रेष्ठ होते थे। बादशाह की तरफ से इनकी भर्ती, वेतन, शिक्षा, शस्त्र, घोड़े आदि की व्यवस्था की जाती थी। इनकी संख्या निश्चित नहीं थी परन्तु अकबर के समय में इनकी संख्या 1,20,000 तक थी। इनको वेतन 500 रूपये तक दिये जाने के उदाहरण मिलते हैं क्योंकि ये बादशाह के सबसे योग्य और वफादार सैनिक माने जाते थे। (2) दाखिली– इन सैनिकों की भर्ती भी सम्राट की तरफ से की जाती थी और उनके घोड़ों पर सरकारी दाग लगाया जाता था। इन घुड़सवारों को उन मनसबदारों की सेवा में रखा जाता था जो अपने निजी सैनिक नहीं रखते थे। (3) कुमकी– कुछ मनसबदारों को उनके सैनिकों के अतिरिक्त कुछ अस्थायी सैनिक दे दिये जाते थे, उनको कुमकी कहते थे। (4) मनसबदारी– मनसबदार स्वयं अपने घुड़सवार सैनिक रखता था तथा जिन पर दाग, हुलिया, निरीक्षण आदि के नियम लागू थे। (5) बारावर्दी– कुछ धनाभाव के कारण अच्छे घोड़े नहीं रख पाते थे। अतः इनके घोड़े के लिए दाग का नियम नहीं था। इनका उपयोग लगान की वसूली, चोर–डाकुओं के दमन तथा थानादारी में किया जाता था। (6) करद– राजाओं और जमींदारों द्वारा भेजे जाने वाले सैनिक, जिनकी संख्या सन्धि के आधार पर निश्चित होती थी और उनके घोड़ों पर दाग की प्रथा लागू नहीं होती थी।

(2) पैदल सेना

पैदल सेनिकों में भी अनेक श्रेणियाँ थी, यद्यपि मुगल शासकों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया था। मोटे तौर पर इनमें तीन श्रेणियाँ थीं– (1) लड़ाकू– जैसे बन्दूकची और तलवारबाज, (2) अर्द्ध–लड़ाकू– जैसे संन्देशवाहक, दास, चौकीदार और (3) गैर–लड़ाकू– जैसे लुहार, तम्बू टांकने वाले, खनिक आदि। इन पैदल सैनिकों में कुछ अच्छे तीरन्दाज, बन्दूकची और तलवार चलाने वाले बहुधा खूब काम आते थे। दुर्गों की रक्षा में ये सैनिक विशेष उपयोगी सिद्ध होते थे। लेकिन जैसा बर्नियर ने लिखा है कि इन पैदल सैनिकों को बहुत कम वेतन मिलता था और बन्दूकचियों को भी बड़ी कठिनाई से जीवनयापन करना पड़ता था।

(3) हस्ति सेना

अकबर ने हाथियों की भी एक बड़ी सेना तैयार की थी। उसके समय में एक हजार शाही हाथी थे और बाद में सम्पूर्ण साम्राज्य में हाथियों की संख्या 50,000 तक पहुँच गयी थी। हाथी युद्ध करने तथा सामान ले जाने के काम में लाये जाते थे। हाथियों की भी श्रेणियाँ थी। सबसे अच्छा हाथी 'मस्त' होता था और सबसे निकृष्ट 'मोकल' कहलाता था।

(4) तोप-खाना

भारत में बाबर ने सर्वप्रथम तोप–खाने का उपयोग किया था, तब से तोप–खाना मुगल सेना का एक मुख्य अंग बन गया था। अकबर ने इसे और भी व्यवस्थित किया। उसने पीतल और लोहे से मिश्रित धातुओं की बड़ी–बड़ी तोपें तैयार करवाई जिनकी क्षमता 1.25 मन तक वजन का गोला फेंकने की थी, परन्तु इसके साथ–साथ उसने इतनी छोटी–छोटी तोपों का निर्माण भी करवाया जिसे हाथी अथवा ऊँट की पीठ पर रखकर ले जाया जा सकता था। इन विभिन्न प्रकार की तोपों को चलाने वाले तोपची तथा बन्दूकची तोप–खाना विभाग के अन्तर्गत समझे जाते थे और मीर आतिश नामक अधिकारी की देख–रेख में यह विभाग काम करता था।

(5) **नौसेना**

मुगल सैनिक शक्ति का यह सबसे कमजोर अंग था। अकबर ने सबसे पहली बार इस ओर ध्यान दिया था। [illegible] मीर–ए–बहर की अध्यक्षता में एक अलग विभाग स्थापित किया था। लेकिन इसके अन्तर्गत नदियों पर जल–बेड़ा ही रखा जाता था जहाँ नावों पर छोटी तोपें रहती थीं तथा उनका मुख्य कार्य शाही परिवार के सदस्यों व सैनिकों को एक किनारे से [illegible] पहुँचाना था। बिहार व सिन्ध में ऐसी नावों का बेड़ रखा जाता था। मुगलों ने सामुद्रिक नौ–सेना की ओर ज्यादा ध्यान नहीं दिया था और इसलिए उनकी नौ–सेना कभी भी यूरोपीय जातियों से समुद्र पर मुकाबला करने की स्थिति में नहीं थी।

मुगलों की सैनिक व्यवस्था, उनकी नियुक्तियाँ एवं दुर्गों का महत्त्व

सम्राट की सेना का सबसे उत्कृष्ट अंग राजधानी में रहता था और साधारणतया सम्राट के साथ ही बाहर जाता था। राजधानी की रक्षा का भार भी उच्च कोटि के सैनिकों के सुपुर्द रहता था। इसके अलावा बाकी सेना साम्राज्य भर में फैली रहती थी। सूबेदार के अधीन भी सेना रहती थी तथा जहाँ महत्वपूर्ण दुर्गों की रक्षा का जिम्मा भी सेना पर ही रहता था। सेना का काफी बड़ा अंश सीमान्त चौकियों की रक्षा के लिए भी तैनात रहता था। जब विजय कार्य, विद्रोह–दमन अथवा विदेशी आक्रमण को विफल करने के लिए बड़ी सेनाओं की आवश्यकता होती थी तब स्थान व समय का ध्यान रखते हुए मीरबख्शी विभिन्न मनसबदारों तथा अधीनस्थ राजाओं को अपनी सेना सहित आकर उसमें सम्मिलित होने के लिए आदेश भेजता था। विशेष अवसरों पर अस्थायी सेना की भी भर्ती कर ली जाती थी और आवश्यकता न होने पर उनकी छुट्टी कर दी जाती थी।

मध्य–काल में दुर्गों का सैनिक दृष्टि से बड़ा महत्व था। इस कारण दुर्गों को सुदृढ़ करने तथा उनमें पर्याप्त मात्रा में आवश्यक सामग्री एकत्रित रखने की ओर पूरा ध्यान दिया जाता था। दुर्गों के चारों ओर जल से भरी खाइयाँ बनायी जाती थीं और किले की दीवारों पर तोपें लगायी जाती थीं तथा बन्दूकचियों और तीरन्दाजों के लिए किले की चार–दीवारी में छेद किये जाते थे। कुछ किलों जैसे ग्वालियर, असीरगढ़, दौलताबाद का उपयोग प्रधान राजनीतिक बन्दियों को रखने के लिए भी किया जाता था।

मुगलों की कुल सैनिक शक्ति कितनी थी? इसका अन्दाजा लगाना बड़ा मुश्किल है। मोटे अनुमान के अनुसार 8,000 के आसपास अहदी, 45,000 के आसपास बन्दूकची और मनसबदारों व राजकुमारों के अधीन 2 लाख से 4 लाख के बीच सैनिक थे। औरंगजेब के समय में मनसबदारों की संख्या प्रायः 14,500 हो गयी थी तो सैनिकों की संख्या में भी अवश्य काफी वृद्धि हुई होगी और सैनिकों की संख्या लाखों में पहुँच गई होगी।

मुगल सेना की कमियाँ

मनसबदारी प्रथा के दोषों के अलावा मुगलों की सैनिक व्यवस्था में कुछ अन्य दोष भी थे। प्रथम तो मुगल साम्राज्य के विस्तार और उसकी आवश्यकताओं को देखते हुए केन्द्रीय स्थायी सेना नहीं थी। सभी संकटों के अवसरों पर सम्राट को अपने मनसबदारों पर निर्भर रहना पड़ता था। दूसरा, सैनिकों को शाही कोष से वेतन देने के बावजूद उन पर सम्राट का पूरा नियन्त्रण नहीं रहता था। इससे न तो उनको ठीक सैनिक शिक्षा मिलती थी, न उनके घोड़े तथा हथियार उच्च कोटि के रहते थे और न उनको समय पर पूरा वेतन मिल पाता था। फिर मुगल शासकों ने पैदल सेना की उपेक्षा की, जिससे उसका स्तर गिरता गया। इसी प्रकार मुगल का तोपखाना भी समय के अनुकूल नहीं बदल सका। उनके तोपची निम्न कोटि के थे और उनकी तोपों में समुचित गतिशीलता नहीं थी। मराठों के छापामार पद्धति के सामने तो मुगलों का तोपखाना बिल्कुल बेअसर रहा। फिर मुगलों की नौ–सैनिक शक्ति बड़ी कमजोर थी, जिसके कारण यूरोपीय जातियों को समुद्र पर अपना अधिकार करने तथा अपनी शक्ति बढ़ाने का मौका मिला। कुल मिला कर इन दोषों के कारण औरंगजेब के बाद अयोग्य शासकों के समय मुगल सेना अपनी शक्ति पूर्णतः खो बैठी और मुगल साम्राज्य की रक्षा नहीं कर सकी, जिसके कारण मुगल साम्राज्य का पतन होना स्वाभाविक था।

अध्याय-9

जमींदार वर्ग एवं मुगलों के साथ उनके सम्बन्ध

जमींदारों का मुग़ल राजस्व व्यवस्था में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुगल साम्राज्य में सामाजिक रूप से वे विभिन्न प्रकार के लोगों का समूह था। उनके अधिकारों एवं दायित्वों में स्थानों के अनुसार काफी अन्तर थे। मुगल प्रशासन के सीधे अधीन क्षेत्रों अथवा ख़ालिसा में मुगल राजस्व व्यवस्था के मुख्य अंग थे लेकिन दूसरे क्षेत्रों में पेशकश देने वाले से थोड़ा अलग थे एवं स्वयं अपने खजाने के लिए किसानों से लगान वसूल करते थे।

मध्यकाल में जमींदार वर्ग की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति को समझने से पूर्व उसके अर्थ के बारे में जानना अत्यावश्यक है। यह शब्द ज़मींदार संस्कृत बूमी या भूमि से निकला है जिसका अर्थ होता है जमीन या भूमि। इसका शाब्दिक अर्थ है 'वह व्यक्ति जो जमीन का स्वामी है' वह ज़मींदार कहलाता है। मध्यकाल में प्रथम बार यह शब्द दिल्ली सल्तनत काल में चौदहवीं शताब्दी में उपयोग में लिया गया लेकिन बाद में मुगल काल में इसका व्यापक उपयोग होने लगा। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में इस शब्द के समानार्थी अन्य शब्द भी प्रचलन में थे जैसे खोती, मुकद्दम, बिसवी एवं भोमिया या भोमी आदि।

मुगल काल में यह शब्द ऐसे लोगों के लिए उपयोग में लिया जाता था जो किसी गाँव या कस्बे की भूमि के मालिक थे एवं उस पर खेती करते थे। प्रोफेसर इरफान हबीब ने इस शब्द की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "ज़मींदारी से तात्पर्य उस अधिकार से था जो ग्रामीण वर्ग से भिन्न वर्ग में निहित था जो कृषक वर्ग के ऊपर होता था।" इसी अर्थ में यह शब्द मुगल काल में प्रयुक्त होता था।

इसके अतिरिक्त यह शब्द एक अन्य वर्ग के लिए भी मुग़लों द्वारा कभी–कभी उपयोग में लाया जाता था, वह था स्वायत्तशाषी राजाओं एवं मुखियाओं का वर्ग। प्रो0 सतीश चन्द्र के अनुसार ऐसा सम्भवतः उनके निर्भर स्तर को दर्शाने के लिए किया जाता था। यह एक ऐसा वर्ग था जो अपने क्षेत्र का स्वायत्त शासक होता था एवं वह मुगल शासकों को निश्चित मात्रा में नकद रकम देता था एवं समय समय पर पेशकश देता था। इसके बदले में वह अपने क्षेत्र में स्वायत्त अधिकारों का उपयोग करता था एवं इन्हीं अधिकारों के अन्तर्गत वह किसानों पर लगान निर्धारित करता था एवं उनसे वसूली करता था।

जमींदारों का उद्भव

जमींदार शब्द तो चौदहवीं सदी में प्रचलन में आया लेकिन इसका तात्पर्य यह कत्तई नहीं है कि जमींदार या उससे सम्बन्धित अधिकार इसी समय उत्पन्न हुए थे। इनका उद्गम इतिहास के लम्बे दौर में हुआ था। इनकी उत्पत्ति के विषय में सीधे साक्ष्य तो नहीं मिलते लेकिन स्थानीय परम्पराओं के अध्ययन के द्वारा यह कहा जा सकता है कि जमींदारियों की उत्पत्ति में अलग–अलग स्थानों पर किसी जाति या गौत्र की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही थी। यही जातियां खेती योग्य भूमि की तलाश में इधर–उधर घूमते–घूमते ऐसी जगह पर पहुँचे होंगे जहाँ पहले से दूसरी जाति या गौत्र के लोग थे। बाहर से आई जाति या गौत्र के लोगों ने उनसे वह जमीन छीन ली होगी एवं वहाँ अपना अधिकार जमा लिया होगा। इसी प्रकार भारत में भिन्न–भिन्न इलाकों में जमींदार अस्तित्त्व में आए होंगे।

इसके अतिरिक्त यह बात भी सत्य है कि भारत में भूमि पर स्वामित्व की प्रथा अति प्राचीन समय से रही है। यह अधिकार पैतृक था। इसके अतिरिक्त जाति के मुखिया को अपने क्षेत्र के लोगों से लगान वसूल करने का अधिकार मिल गया था ताकि वह अपने गाँव एवं उसके निवासियों की रक्षा कर सके। यही लोग लम्बे समय में उस क्षेत्र के शासक बन गए जो राजा, राव एवं राणा नाम से पुकारे जाने लगे। मुग़ल इतिहासकारों एवं फारसी साहित्य में ऐसे ही लोगों को जमींदार कहा जाने लगा।

विजयों या गाँव बसाने के अतिरिक्त कुछ जमींदारों का उद्भव जमींदारी खरीदने के माध्यम से भी हुआ। इसके अतिरिक्त मुगल शासकों ने भी कई लोगों को जमींदारी अधिकार प्रदान करके ज़मींदारों को पैदा किया।

जमींदारों के प्रकार

जमींदार एक प्रकार के नहीं होते थे इनमें भी विभिन्न प्रकार के अधिकार वाले सम्मिलित होते थे। नोमान अहमद सिद्दिकी के अनुसार जमींदार वर्ग में स्वयं में स्तरीकरण था लेकिन एक वर्ग के रूप में उनका स्तर किसानों से उत्कृष्ट था। इसके प्रकार जमींदार शब्द

एक ढ़ीला–ढ़ाला शब्द था जो विभिन्न शर्तों पर भूमि रखने वाले लोगों पर लागू होता था। इसमें निम्न श्रेणी के जमींदार सम्मिलित थे। जैसे –

प्रथम, यह ऐसे जमींदार पर लागू होता था जिसके पास पेशकश भुगतान करने की शर्त पर पैतृक् क्षेत्र या जमींदारी था।

द्वितीय, यह ऐसे व्यक्ति पर भी लागू होता था जो पैतृक् जमींदारी पर पेशकश का भुगतान नहीं करता लेकिन वह केन्द्रीय सत्ता में अपने ओहदे के अनुसार तनख्वाह के बदले जागीर के रूप में प्राप्त करता था।

तृतीय, ऐसे किसी व्यक्ति के पास उसके पद के साथ जमींदारी भी हो सकती थी जिसको शाही आदेश के अनुसार कोई नया क्षेत्र जमींदारी के रूप में दे दिया जाता था जिस पर वह पैतृक् अधिकार का दावा नहीं कर सकता।

चतुर्थ, जमींदार शब्द ऐसे व्यक्ति के लिए भी प्रयुक्त होता था जो भूमि पर अधिकारों का उपयोग कर सकता था जिसमें विस्तृत राजस्व निर्धारण के पश्चात् निश्चित लगान भुगतान कर देता था। पंचम्, इसमें जो ताल्लुकेदार हैं वे भी जमींदार में सम्मिलित हैं

प्रो0 इरफान हबीब मोटे तौर पर दो प्रकार के जमींदारों का वर्णन करते हैं। एक, जो ग्रामीण वर्ग से भिन्न था एवं उन पर विशेष अधिकारों का उपयोग करता था एवं दूसरा, स्वायत्तशाषी जमींदार जो मुगल बादशाह को पेशकश देकर अपने क्षेत्र में स्वायत्त तरीके से किसानों पर लगान निर्धारण एवं वसूली करता था। प्रो0 नुरूल हसन ने मुगल काल के जमींदारों को मोटे तौर पर तीन भागों में बाँटा है। प्रथम, प्राथमिक जमींदार; द्वितीय माध्यमिक एवं तृतीय स्वायत्तशाषी जमींदार, सरदार अथवा राजा। इनमें से कोई भी ऐसा नहीं था जिसका अपना अधिकार क्षेत्र पूर्णतः उसका होता था। उसमें दूसरे की उपस्थिति निषेध नहीं थी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सभी के अधिकार क्षेत्र मिले–जुले थे। उदाहरणार्थ स्वायत्तशाषी जमींदार या राजा के अधीन क्षेत्र में केवल खिराजी (मुगल शासकों को खिराज देने वाले) जमींदार ही मिलते थे बल्कि उसके क्षेत्र में माध्यमिक एवं प्राथमिक जमींदार भी मिलते थे। एक तरफ माध्यमिक जमींदारों के अधीन क्षेत्रों में प्राथमिक जमींदार भी होते थे। दूसरी तरफ यह बात भी सत्य है कि अधिकांश माध्यमिक जमींदार अपने क्षेत्र में प्राथमिक जमींदार भी होते थे। स्वायत्तशाषी जमींदार या राजा अपने पैतृक् अधिकार वाले वतन क्षेत्र का तो पूर्ण स्वामी होता था लेकिन इसके साथ–साथ प्राथमिक एवं माध्यमिक जमींदार के रूप में वह अपने अधिकारों का उपयोग दूसरे क्षेत्रों पर कर सकता था।

प्रो0 नुरूल हसन ने इन तीन प्रकार के जमींदारों के बारे में विस्तार से प्रकाश डालते हुए उनके अधिकार क्षेत्रों के बारे में भी बताने का प्रयास किया है। उनके अनुसार भारत की सम्पूर्ण कृषि भूमि एवं आवासीय भूमि पर प्राथमिक जमींदारों का पूर्ण अधिकार होता था। इसमें स्वयं कृषि कर्म करने या भाड़े के मजदूरों से खेती करवाने वालों के अतिरिक्त एक या अधिक गाँवों के स्वामी भी सम्मिलित होते थे। इस प्रकार की भूमि पर इनके अधिकार वंशानुगत एवं हस्तान्तरणीय होते थे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्राथमिक जमींदार का अपनी भूमि पर पूर्ण स्वामित्त्व होता था एवं इसलिए वे जिसे चाहे बिक्री या बंधक के द्वारा अपने से अलग करके किसी को भी दे सकते थे। इस प्रकार के अधिकारों के उपयोग के द्वारा भूमि बेचने के असंख्य उदाहरण बैनामे या विक्रय–पत्रों से मिलते हैं। इसके अतिरिक्त मुगल शासकों ने भी अपने आदेशों के द्वारा मदद–ए–माश भूमि प्रदान करके प्राथमिक जमींदारों को पैदा किया था। इनमें एवं वंशानुगत चले आ रहे प्राथमिक जमींदारों में अधिकार के मामले में कोई अन्तर नहीं था।

माध्यमिक जमींदार वे थे जो राज्य एवं प्राथमिक जमींदारों एवं किसानों के मध्य एक मध्यस्थ की भूमिका निभाते थे। इनका मुख्य कार्य प्राथमिक जमींदारों एवं किसानों से लगान वसूल करना था एवं इस प्रकार वसूले गए लगान को शाही राजकोष या जागीरदारों के खजाने में जमा करवा देते थे। इसमें थोड़ी भिन्नता थी। अगर खालिसा(मुगल प्रशासन के सीधे अधिकार का क्षेत्र) में माध्यमिक जमींदार राजस्व वसूली का कार्य करता था तब वह शाही राजकोष में जमा करवाता था लेकिन यही कार्य अगर वह जागीर(जागीरदारों के अधीन क्षेत्र) में करता था तो वह उसे जागीरदार के प्रतिनिधियों को दे देता था। कभी–कभी कुछ मामलों में वे इसे अपने पास भी रख लेते थे। इस श्रेणी में आने वाले ज़मींदार भारत के भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग पदनामों से जाने जाते थे जिनमें मुख्य थे:– चौधरी, देशमुख, देसाई, मुकद्दम, कानूनगो एवं भोमिया आदि।

स्वायत्तशाषी जमींदार या मुखिया अपने क्षेत्र के स्वामी होते थे जिनकी पद्वी राणा, राजा, राव एवं रावत आदि थी। इनके अधिकार वाले क्षेत्रों को फारसी में वतन कह कर पुकारा जाता था जिन पर इनका वंशानुगत अधिकार होता था। इनके वतन क्षेत्रों का तबादला नहीं हो सकता था। दूसरे अन्य दो प्रकार के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के जमींदारों से इनकी स्थिति भिन्न होती थी। इनके अधिकार क्षेत्रों की भूमि पर इनका वास्तविक कब्जा होता था जो काफी विस्तृत हुआ करते थे। इसके अतिरिक्त और भी बातें थीं जो उन्हें

प्राथमिक एवं माध्यमिक जमींदारों से अलग करती थीं। अपने वतन क्षेत्र में लगान वसूली के लिए वे राज्य को जवाबदेह नहीं थे बल्कि वे अपने क्षेत्र में कर निर्धारण एवं वसूलने में स्वतन्त्र थे। यहाँ तक कि अपने क्षेत्र से गुजरने वाले माल पर चुंगी वसूलने का अधिकार भी था। इस स्वायत्तता के बदले वे मुगल शासकों को नियमित पेशकश देते थे। डॉ0 नोमान अहमद सिद्दकी ने इनको पेशकशी जमींदार कहा है जिन पर वास्तविक जोती गई भूमि के विस्तृत निर्धारण लागू नहीं होते। वे बड़ी–बडी सेनाएं रखते थे जिससे इनकी शक्ति प्रदर्शित होती थी। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इनके वेतन क्षेत्र में प्राथमिक एवं माध्यमिक जमींदार होते थे जो इनके पूर्ण अधीन होते थे।

जमींदारों के कार्य एवं कर्त्तव्य :

मुगल काल में जमींदार वर्ग राज्य एवं ग्रामीण प्रशासन का एक महत्त्वपूर्ण अंग होता था। सम्पूर्ण साम्राज्य के खालिसा क्षेत्र के राजस्व–प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए वे एक अति आवश्यक अंग थे। दूसरे शब्दों में वे राजस्व प्रशासन की रीढ़ ही हड्डी एवं केन्द्रिय तंत्र होते थे। इनके भूमि में साम्पत्तिक अधिकार होते थे। इनका मुख्य कार्य सरकारी अधिकारियों द्वारा किसानों पर निर्धारित राजस्व वसूल करना था। इसके अतिरिक्त गाँव में अधिकतम खेती हो यह देखने का दायित्व भी उनका ही था। गाँव में कानून व्यवस्था की देख–रेख भी उनकी ही जिम्मेदारी के क्षेत्र में आता था। वह सैनिक अभियानों में भी राज्य की मदद कर सकता था। राज्य किसी पड़ोसी जमींदार के विद्रोह को देखने हेतु भी उनकी सेवाएँ ले सकता था।

गाँव में खेती को अधिकतम सीमा तक पहुँचाने के लिए वह किसानों को राजी करके या उन पर खेती करने के लिए दबाव डाल सकते थे। गाँव के लिए अजनबी होने के कारण सरकारी अधिकारी के लिए यह कार्य मुश्किल था लेकिन यही कार्य जमींदार के लिए आसान था क्योंकि उनके पूर्वज पीढ़ियों से गाँव में ही रहते आए थे, वास्तव में जमींदार की गाँव की कृषि में रुचि वास्तविक एवं महत्त्वपूर्ण थी। उनके लिए अधिक कृषि एवं सम्पन्नता का अर्थ है उनके एवं उनके परिवार के लिए आराम। इसलिए स्थानीय प्रशासन में उनकी भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। इन कार्यों के अतिरिक्त राजस्व से जुड़ा एक महत्त्वपूर्ण कार्य था जो भी उनकी जिम्मेदारी थी। राजस्व निर्धारण एवं उगाहने का पूरा ब्यौरा राज्य के अधिकारियों को देना होता था। ये सारे कार्य प्राथमिक एवं माध्यमिक जमींदारों से सम्बन्ध रखते थे। इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं था।

बड़े–बड़े क्षेत्रों के स्वामी, सरदार एवं राजा अपने क्षेत्रों में स्वायत्त होते थे। वे बादशाह को अपने ऊपर स्वीकारते थे एवं उन्हें पेशकश या नजराना देते थे। राज्य को नियमित सैनिक सहायता प्रदान करना इस प्रकार की ज़मींदारी व्यवस्था की मुख्य विशेषता थी।

सरकार द्वारा जमींदारों पर नियन्त्रण के उपाय

जमींदार अपने अधिकारों के प्रति बहुत सजग रहते थे। चूँकि उनके अधिकार पैतृक एवं वंशानुगत होते थे इसलिए वे उन्हें पवित्र मानते थे। वे उनमें किसी प्रकार की दखल सहन नहीं करते थे। ऐसा होने पर वे विद्रोह कर देते थे। प्रशासन के विरूद्ध उनके पास यही एक रास्ता था। उनको विद्रोह में अपनी बिरादरी के किसानों का समर्थन मिल जाता था जिससे साम्राज्य में अशान्ति एवं अराजकता का वातावरण बन जाता था। उनकी इस प्रवृत्ति के विरूद्ध सरकार को उन पर नियन्त्रण रखने के लिए कुछ कदम उठाने आवश्यक थे जिनका वर्णन डॉ० बी०एस० चयानी ने किया है।

मुगल पादशाओं की प्रशासन को केन्द्रीकृत करने की नीति के परिणामस्वरूप यह जरूरी हो गया कि जमींदारों पर अनेक प्रकार से नियन्त्रण रखा जाए। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिन इलाकों पर जमींदारों का आधिपत्य होता था, वे "खालिसा" या "जागीर" से अलग नहीं थे। जागीर और खालिसा में अन्तर मालगुजारी में राज्य की हिस्सेदारी के वितरण को लेकर ही था। अगर किसी क्षेत्र विशेष से प्राप्त मालगुजारी शाही खजाने में जमा होती थी तो उसे "खालिसा" कहते थे और यदि वह वेतन के तौर पर किसी अधिकारी को दी जाती थी तो उसे "जागीर" माना जाता था। इस प्रकार खालिसा और जागीर, दोनों ही में अनेक प्रकार की जमींदारियाँ होती थीं और जागीरदारों को एक शक्तिशाली केन्द्रीय और प्रान्तीय प्रशासनिक तन्त्र ही नियन्त्रण में रख सकता था। फौजदार और जागीरदार ही जमींदारों पर रौब रख सकते थे, क्योंकि उनके पास अधिक बेहतर फौजी ताकत होती थी, जिसके बल पर वे जमींदारों से उनकी देनदारी सजगता से वसूल कर सकते थे। जमींदारों के बीच जो झगड़े होते थे, उन्हें काजी निपटाते थे और फौजदार उनके न्यायिक निर्णयों को लागू करते थे।

निजी सम्पत्ति पर जमींदार के हक को राज्य से मान्यता मिली हुई थी लेकिन यदि वह मालगुजारी वसूल करने और उसे खजाने में जमा कराने की सेवा में चूक कर देता, तो उसे हटाया जा सकता था। जमींदारों के हक पैतृक होते थे फिर भी राज्य के पास

यह अधिकार रहता था कि वह उत्तराधिकार के मामले में दखल दे सके और अगर चाहे तो निजी सम्पत्ति का भी भाइयों और रिश्तेदारों में बँटवारा कर सके। बादशाह की नाराजगी की स्थिति में इन माध्यमिक जमींदारों में से कुछ को बर्खास्त या स्थानान्तरित भी कर दिया जाता था। अकबर के एक आदेश से यह पता चलता है कि उसने इलाहाबाद के एक चौधरी को केवल इस लिए बर्खास्त कर दिया था, क्योंकि वह त्रिवेणी संगम पर स्नान के लिए जाने वाले तीर्थ–यात्रियों को तंग किया करता था। कुछ मामलों में मुगल बादशाहों ने उन लोगों को भी जमींदारी अधिकार प्रदान किए जिन्हें कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए या कि मालगुजारी वसूल करने के लिए नियुक्त किया गया था। जैसा कि प्रो0 इरफान हबीब ने लिखा है, शाही प्रभाव–क्षेत्र में जमींदारों की हैसियत "पूरे तौर पर प्रशासन के अधीनस्थ कर्मचारियों" की थी। प्रशासन का सदा यह प्रयत्न रहता था कि वह उन्हें केवल लगान वसूलकर्ता के रूप में ही बनाए रखें। जमींदार अपने कार्य–क्षेत्र में मालगुजारी वसूल कर या तो शाही खजाने में जमा कराते थे या जागीरदारों को भेज देते थे। इस प्रकार प्रो0 इरफान हबीब के कथनानुसार जमींदारों को घुश्तैनी तौर पर अधिकारियों के लिए की गई सेवा का एक रूप भर माना जा सकता है। इस सेवा के बदले जमींदारों को एक निश्चित रकम मिलती थी।

हर क्षेत्र में कुछ जमीन तो सीधे जमींदारों के पास होती थी और शेष काश्तकारों के पास। ये काश्तकार जमींदार की 'रयत' कहलाते थे। इनके बीच कोई माध्यमिक जमींदार नहीं होते थे। इस तरह से इलाके जागीर के तौर पर दिए जाते थे, उनमें हर जागीरदार को काश्तकारों और जमींदारों, दोनों से निपटना पड़ता था। अतहर अली का कहना है कि हर जागीरदार की यह मनोवृत्ति होती थी कि वह जमींदार के कब्जे में आने वाली जमीन का सरसरी तौर पर कर–निर्धारण करके उनसे मालगुजारी वसूल करे। ऐसा करते समय काश्तकार सम्बन्धी वस्तु–स्थिति पर ध्यान नहीं दिया जाता था। जमींदारों द्वारा सरसरी तौर पर मालगुजारी निर्धारित करने और उसकी वसूली करने की प्रथा से जागीरदारों और उनके कर्मचारियों का काम निश्चय ही काफी हद तक हल्का हो जाना चाहिए था। पर, जैसा कि अतहर अली सही ही कहते हैं, जागीरदारों का सबसे कड़ा विरोध और शत्रुतापूर्ण व्यवहार वस्तुतः जमींदारों को ही झेलना पड़ा। यदि मालगुजारी का निर्धारण बहुत अधिक किया जाता तो हो सकता था कि जमींदारों को अपनी आमदनी से हाथ धोना पड़ता और तब उन्होंने कुछ मामलों में काश्तकारों के समर्थन से अपने सशस्त्र आश्रितों के भरोसे जागीरदारों को चुनौती दी होती। हिदायत–अल–कवायद जमींदारों को दो भागों में बाँटती है– एक, वे जो मालगुजारी अदा करने वाले थे दूसरे वे जो विद्रोही किस्म के (जोर तलब) थे। इसमें यह भी कहा गया है कि छोटे मनसब वाले जागीरदार को प्रायः विद्रोही प्रकृति वाले जमींदारों को दबाने में काफी कठिनाई होती थी।

स्वायत्तशासी जमींदारों या राजाओं के प्रति जो मुगलों ने नीति अपनाई वह पूर्व के दिल्ली सुल्तानों की नीति का अनुसरण था। मुगलों ने स्वायत्तशासी राजाओं की रियासतों को "वतन जागीर" मान कर उन्हें प्रशासन से जोड़ने का प्रयत्न किया। इसका अर्थ यह हुआ कि सैद्धान्तिक रूप से राजाओं की पद–स्थिति जागीरदारों की–सी थी और इस तरह से वे शाही राजस्व नियमों के अधीन थे। पर वे अपने अधीनस्थ क्षेत्रों पर अपने जागीरदारी अधिकारों का प्रयोग पैतृक उत्तराधिकारी के रूप में करते थे और इस प्रकार इनके अधिकार अहस्तान्तरणीय थे। प्रो0 नूरूल हसन का कहना है कि अपनी केन्द्रोन्मुखी राज्यनीति के फलस्वरूप मुगल बादशाह राजाओं द्वारा देय नजरानों पर करों को वास्तविक उत्पादन के आधार पर निर्धारित कर भू–राजस्व में परिवर्तित करने में एक उचित सीमा तक ही सफल हुए। जो भी हो, कुछ राजा फिर भी पेशकश देते थे लेकिन इस पेशकश की रकम निर्धारित करने के लिए मुगल प्रशासन काश्तकारी के अधीन आई जमीन के आँकड़े माँगता था। वह यह देखता था कि कब क्या फसल बोई जाती है। इस तरह अपने अधीनस्थ स्वायत्तशासी राजाओं द्वारा नियमों का सख्ती से पालन कराने के बारे में मुगल बादशाह अपने पूर्ववर्तियों की तुलना में अधिक सफल हुए। इन प्रशासनिक नीतियों और सैनिक अभियानों के बल पर मुगल बादशाहों ने अधिकांश राजाओं को अधीनस्थ बनाया और उन्हें मुगल प्रभुसत्ता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। कुछ राजाओं ने तो स्वयं ही वफादारी स्वीकार कर ली और मुगलों को सहयोग प्रदान किया। इससे मुगल साम्राज्य की राजनीतिक और प्रशासनिक एकता सुनिश्चित हो गई।

जमींदारों की आय एवं व्यय

जमींदारों का मुख्य कार्य कृषि योग्य भूमि पर खेतों का अधिकतम फैलाव करना अर्थात् ज्यादा से ज्यादा भूमि पर हल चलवाना था। किसानों पर निर्धारित लगान वसूल करना था। इन सेवाओं के बदले राज्य ने जमींदारों को कुछ अधिकार भी प्रदान कर रखे थे। ये अधिकार छिटपुट अधिकार की श्रेणी में आते थे जिनको फारसी में नानकार कहा जाता था। यह एक प्रकार का जीवन निर्वाह भत्ता था जो खेती करने के लिए उसे भूमि के रूप में दिया जाता था। वास्तव में यह लगान वसूली की सारी रकम पर कमीशन था जो भूमि या नकद रूप में दिया जा सकता था।

वास्तव में जमींदारों की आय कई मदों से होती थी : प्रथम, किसानों के उत्पादन में हिस्सा; द्वितीय, हुकूक–ए–जमींदारी एवं तृतीय, हक–ए–मिल्कियत आदि। जमींदारों की आय का मुख्य भाग किसानों से वसूले गए लगान एवं शाही राजकोष में जमा करवाई रकम के बीच का अन्तर होता था। नानकार के अतिरिक्त जमींदार भूमि में अपने सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों के लिए कुछ प्राप्त करता था जब इस पर खेती की जाती थी। इनके सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों से होने वाली आय को मालिकाना कहा जाता था। मालिकाना पाने का वह तब भी अधिकारी होता था जबकि वह लगान वसूल करने एवं उसके भुगतान का कार्य नहीं करता था। इसे भुगतान करने एवं इसके प्रतिशत में प्रत्येक सूबे में भिन्नता पाई जाती थी। इसे उत्तर भारत एवं बंगाल में मालिकाना या दो बिस्वी कहा जाता था जो कुल वसूले गए लगान का दस प्रतिशत होता था। गुजरात में इसे बाँट एवं दक्षिण में चौथ कहा जाता था। इसे नकद के बजाय लगान मुक्त भूमि के रूप में भी दिया जा सकता था।

प्रोफेसर शीरीं मूसवी ने अपने ग्रन्थ "इकॉनॉमी ऑफ द मुगल एम्पायर" में जमींदारी आय की प्रतिशत जानने का प्रयास किया है। उसके अनुसार जमींदार को अपने मालिकाना अधिकार के अन्तर्गत होने वाली आमदनी कुल लगान का दस प्रतिशत होता था। उसने नानकार एवं मालिकाना से होने वाली दोनों आयों को जोड़कर यह बताया है कि उत्तर भारत में उनकी आय का कुल अनुपात 15 से 20 प्रतिशत जबकि गुजरात में यह 30 से 35 प्रतिशत तक हो जाता था। हालांकि उनका यह अनुमान आँकड़ों के जादुई खेल पर आधारित है लेकिन जब तक कोई और ठोस साक्ष्य नहीं मिल जाता तब तक इसे ही मानना उपयुक्त होगा।

जमींदारों द्वारा किए जाने वाले व्यय के बारे में सीधे साक्ष्य अत्यन्त कम उपलब्ध होते हैं लेकिन फिर भी उनके जीवन स्तर को ध्यान में रखते हुए कुछ अनुमान लगाए जा सकते हैं। उनके द्वारा किए जाने वाले खर्चों के बारे में एक निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनके सारे खर्चे उपभोग से सम्बन्धित थे जिनमें निवेश का स्थान गौण था। अधिकांश जमींदार अपने रहन सहन एवं जीवन शैली को गौरवशाली एवं चकाचौंध एवं प्रदर्शन करने वाली चीजों पर अधिक खर्च करते थे। मध्यकालीन समाज व्यवस्था में अपने आस पास के लोगों एवं दूसरे समकक्ष अधिकारियों एवं जमींदारों पर एक प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक था। राजस्थान में मुगलकालीन जमींदारों के समकक्ष भोमिया वर्ग था जिनके जीवन स्तर के बारे में पर्याप्त साहित्य उपलब्ध होता है। उनके अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिन मदों पर वे खर्च करते थे, वे निम्न थे :– किले या गढ़ियों का निर्माण, कपड़ों जेवरातों, ऐशो–आराम की वस्तुओं, सैनिकों एवं विभिन्न नस्ल के घोड़ों आदि पर। विभिन्न मदों पर किए जाने वाले खर्चों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनके कारण से लोगों को रोजगार के साधन उपलब्ध हुए। दस्तकारी उद्योगों विशेषतः भवन निर्माण से सम्बन्धित विभिन्न दस्तकार, वस्त्र एवं धातु उद्योग को प्रोत्साहन मिला। सेना में भर्ती हेतु सैनिकों को रोजगार के अवसर मिले। लेकिन विभिन्न मदों में किए जाने वाले खर्चों के अनुपात के बारे में साक्ष्यों के अभाव में कुछ कह पाना मुश्किल है। प्रो0 शीरीं मूसवी ने इन मदों में से सिर्फ सैनिकों (उलुस) पर जमींदारों द्वारा किए जाने वाले खर्चे का अनुमान लगाने का प्रयास किया है। उसके अनुसार जमींदारों द्वारा अपने सैनिकों पर होने वाला न्यूनतम खर्च कुल अनुमानित आय(जमा) का 16 प्रतिशत था। सैनिक एवं अच्छी नस्ल के घोड़े रखना जमींदारों की जीवन शैली का एक महत्त्वपूर्ण अंग था। सैनिक रखने के पीछे राजनीतिक एवं आर्थिक कारण थे। लगान वसूली के अतिरिक्त आवश्यकता के समय मुगल साम्राज्य की सेवा के लिए भी ऐसा करना आवश्यक था। शीरीं मूसवी तो 16 प्रतिशत कुल अनुमानित आय का न्यूनतम खर्चा बताती है, वास्तव में खर्चा इससे कहीं अधिक होता था।

इसके अतिरिक्त प्रो0 मूसवी ने एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर भी संकेत किया। उसके अनुसार जमींदारों की कुल आय उनके खर्चों से दुगुनी थी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जमींदारों में बचत की प्रवृत्ति अत्यधिक थी। यह बचत संग्रहीत होकर तिजोरियों में ही रह जाती थी या बाहर निकल कर विकास के कार्यों पर लगती थी, इसके बारे में अभी कुछ कह पाना मुश्किल है।

जमींदारी अधिकारों से तात्पर्य एवं उनकी प्रकृति

साधारणतः जमींदारी अधिकारों का अर्थ गाँव की सम्पूर्ण भूमि पर जमींदार के स्वामित्त्व के रूप में लिया जाता है जो थोड़ा भ्रामक है। जमींदारों की स्थिति प्रो0 इरफान हबीब के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कथन से होती है। उनके अनुसार जमींदार का अर्थ भूमि पर स्वत्तवाधिकार या मालिकाना होना नहीं है बल्कि भूमि के उत्पादन से सम्बन्धित अन्य अधिकारों एवं हकों के साथ इसका सहअस्तित्तव था। दूसरे शब्दों में जमींदारी से दो अधिकारों का एक साथ पता चलता है : प्रथम, जमींदार की भूमि का टुकड़ा एवं द्वितीय, किसान उत्पादन के एक हिस्से पर जमींदार का अधिकार। प्रो0 हबीब ने किसानों के उत्पादन पर जमींदारी अधिकारों में निजी सम्पत्ति के लक्षणों की ओर संकेत किया है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

उपर्युक्त कथन में निजी सम्पत्ति के अधिकार में कई बातें सम्मिलित हैं। जमींदारी भूमि के साथ–साथ किसान के उत्पादन पर जमींदार के पैतृक अधिकारों की ग्रामीण समाज में जड़ें काफी गहरी थीं। जमींदारी अधिकारों ने चूँकि निजी सम्पत्ति का दर्जा हासिल कर लिया था इसीलिए जमींदारी भूमि एवं किसान के उत्पादन पर अधिकारों को जमींदार किसी अन्य को बेच या गिरवी रख सकता था। इसके अतिरिक्त वह किसी को भी यूँ ही मुफ्त में दे सकता था। निजी सम्पत्ति की श्रेणी में आने के कारण पैतृक सम्पत्ति के रूप में इस अधिकार का विभाजन भी एक सामान्य बात थी। इन अधिकारों की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता थी कि यह जमींदार की व्यक्तिगत सम्पत्ति थी इसलिए उसके उपयोग एवं उपभोग की बात उसकी व्यक्तिगत इच्छा पर निर्भर थी इसका विभाजन उत्तराधिकार कानून या परम्परा के अनुसार होता था।

जमींदारों एवं कृषकों में जातीय सम्बन्ध

जमींदारों एवं किसानों में जाति, कुल एवं जनजातीय सम्बन्ध काफी गहरे थे, यह तथ्य सर्वविदित है। मुगल काल के दस्तावेजों के अध्ययन से इस बात की पुष्टि होती है। किसी भी क्षेत्र का जमींदार अपने क्षेत्र का जातीय नेता भी होता था। यही कारण था कि उसको जमींदार के रूप में मान्यता मिलने की पृष्ठभूमि में अपने क्षेत्र में उसका जातीय आधार मुख्य होता था। इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि जमींदार के अपने जमींदारी क्षेत्र में उसकी ही बिरादरी एवं जाति के लोग निवास करते थे। यह जातीय आधार उसकी शक्ति भी थी। अपनी जाति के किसानों के साथ उसके नजदीकी सामाजिक सम्बन्ध हुआ करते थे। यही नजदीकी सामाजिक सम्बन्ध उसकी राजनीतिक शक्ति भी थी जिसका प्रदर्शन वे मुगल साम्राज्य के विरूद्ध विद्रोहों के समय कर चुके थे। औरंगजेब के काल में जितने किसान विद्रोह हुए, वे सब जमींदारों के नेतृत्व में हुए थे। यह बात नितान्त सही है कि जमींदार एवं मुगल साम्राज्य के मध्य आपसी हितों को लेकर अन्तर्विरोध थे। मुगल शासकों ने जब जब जमींदारों के आर्थिक हितों पर चोट करने का प्रयास किया तब–तब उन्होंने सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इन विद्रोहों में उनको जमींदारी क्षेत्र के उनको जाति के किसानों ने उनका साथ दिया जिससे विद्रोहों में व्यापकता आई। इसका सबसे अच्छा उदाहरण आगरा–मथुरा क्षेत्र में जमींदारों के विद्रोह है। इसी प्रकार जमींदार एवं कुलीय सम्बन्धों के बारे में भी एक दिलचस्प उदाहरण देखने को मिलता है। जोधपुर के राठौड़ जमींदार थे। औरंगजेब ने वहां के शासक महाराजा जसवंतसिंह के 1678 ई0 में स्वर्गवास के पश्चात् उसके क्षेत्र को सीधे अपने खालिसा क्षेत्र में मिला लिया। इस कारण से महाराजा की जाति एवं बिरादरी के लोगों ने मुगल सरकार के विरूद्ध विद्रोह कर दिया जो लगभग तीस वर्ष तक चला। अन्त में औरंगजेब की मृत्यु के बाद ही समझौता हो सका। उपर्युक्त उदाहरणों से जमींदार एवं किसानों के मध्य जातीय एवं कुलीय सम्बन्धों की गहराई का अनुमान लगाया जा सकता है

जमींदारों का सैन्य बल

जमींदारों को अपने कर्त्तव्यों एवं दायित्वों के निर्वाह हेतु सैनिक रखने पड़ते थे। मुगल साम्राज्य में लगान वसूल करने के लिए छोटी–मोटी सैनिक टुकड़ी रखनी होती थी क्योंकि यह कार्य अन्य मुश्किल कार्यों के समान था। इसके अतिरिक्त जमींदारों को अपनी की सेवा हेतु भी उन्हें सैन्य बल रखना होता था। राजनीतिक एवं सामाजिक आवश्यकता के कारण उन्हें किले बनवाने पड़ते थे जिन्हें स्थानीय एवं मुगल शब्दावली में गढ़ी कहा जाता था। जमींदारों की सेना में सैनिक उनकी अपनी जाति या बिरादरी के सम्बन्धित होते थे जिनको मुगल दस्तावेजों में उलूस कह कर सम्बोधित किया जाता था। इन जमींदारों की सैन्य शक्ति का अनुमान आईन–ए–अकबरी में दिए गए बारह सूबों के वर्णन में मिलता है। उसमें जमींदारों द्वारा रखे जाने वाले कुल घोड़ों एवं पदातियों की संख्या अंकित की गई है। इसके अनुसार अकबर के काल में 3,04,558 सवार; 42,77,057 पैदल सैनिक, 1,863 हाथी एवं 1,280 तोपें थीं। इसमें सभी प्रकार के जमींदार सम्मिलित हैं। वास्तव में कुल मिला कर यह एक विशाल सेना थी जो मुगल साम्राज्य के लिए कभी भी खतरा बन सकता थी, लेकिन ऐसा सम्भव नहीं था। प्रो0 सतीश चन्द्र के अनुसार जमींदार बिखरे हुए थे कि कभी भी एक स्थान व समय पर वे इसे मुकाबले के लिए खड़ा नहीं कर सकते थे। यह बात तथ्यात्मक रूप से भी बिल्कुल सही है क्योंकि मुगल साम्राज्य के किसी भी दौर में किसी भी प्रकार का संयुक्त प्रयास नहीं किया गया। इसका सबसे बड़ा कारण था उनका बिखरे होना था एवं दूसरा यह कि सभी जमींदारों के हित भी एक दूसरे से नितान्त भिन्न थे। सम्भवत जमींदारों के ये तत्त्व इस प्रकार की एकता में बाधक हुआ करते थे। लेकिन एक बात इन आँकड़ों से प्रमाणित होती है वह है जमींदारों की सैन्य शक्ति इस शक्ति की अनदेखी करना असम्भव था।

जमींदारों एवं मुगलों के साथ सम्बन्ध

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ गाँवों एवं उससे बड़ी इकाईयों के स्तर पर एक नए वर्ग का उदय हुआ जिनको मुगल काल में संयुक्त रूप से जमींदार नाम से पुकारा जाने लगा। इसका यह तात्पर्य नहीं हुआ कि जमींदारी व्यवस्था को दिल्ली सुल्तानों ने प्रारम्भ किया। यह संस्था तो प्राचीन काल से चली आ रही थी लेकिन इस नाम की जगह किसी अन्य नाम से जानी जाती थी। दिल्ली सल्तनत के समय से इस वर्ग में पूर्व शासकों के अलावा गाँव में किसानों से लगान वसूल करने वाले लोग थे जिनका मुख्य कार्य राज्य एवं किसानों के मध्य एक मध्यस्थ की भूमिका निभाने का होता था। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कि जमींदार मुगल राजस्व व्यवस्था की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कड़ी थे जिसको दूसरे शब्दों में रीढ़ की हड्डी कहा जा सकता है। जमींदारों के किसानों के साथ गहरे सम्बन्ध थे जिनकी ऐतिहासिक जड़ें काफी गहरी थीं। इन सम्बन्धों की घनिष्ठता का एक मुख्य कारण किसानों के साथ उनका जातीय एवं बिरादरी के सम्बन्ध होना था। इन सबके ऊपर उनका मजबूत आर्थिक आधार था। गाँव के प्राथमिक जमींदारों की मिल्कियत में साम्राज्य की सारी भूमि होती थी जिस पर उनके अधिकार पैतृक् एवं हस्तान्तरणीय अर्थात् बेचने या किसी को भी देने के अधिकार होते थे। इसी प्रकार माध्यमिक जमींदारों से लगान वसूलने एवं उसे शाही कोष में या जागीरदारों को देने के अधिकार थे। इसी प्रकार स्वायत्तशाषी जमींदार थे जिनके अधीन उनके वंशानुगत अधिकार वाले क्षेत्र थे। इस स्वायत्तता के बदले वे मुगल शासकों को पेशकश देते थे एवं उनकी सेना के लिए वे सैन्य बल भी रखते थे। अपनी राजनीतिक स्थिति एवं अपने क्षेत्र की सुरक्षा के लिए भी सेना रखना उनके लिए आवश्यक था।

उपर्युक्त वर्णन से एक तथ्य स्पष्टतः उजागर होता है कि जमींदार वर्ग का राजस्व एवं केन्द्रीय प्रशासन में होना। यह बात ऐतिहासिक रूप से सही है कि जमींदारों की संख्या असंख्य थी एवं यह एक शक्तिशाली वर्ग था जिनके पास सैन्य एवं धन बल दोनों थे इसलिए प्रशासन का उन पर नियंत्रण रखना साम्राज्य के अच्छे स्वास्थ्य के लिए आवश्यक था। लगान वसूली से लेकर स्वायत्ताशासी जमींदारों के मामले में उनका साम्राज्य द्वारा निर्धारित कानून की पालना करना आवश्यक था। इसलिए यह देखना एवं कानूनों की पालना करवाना एवं उन्हें अनुशासन में रखने के प्रयास करना मुगल प्रशासन का एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। मुगल शासकों की केन्द्रीकृत प्रशासन की योजना के अन्तर्गत यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। इस वर्ग पर पूर्ण एवं प्रभावी नियंत्रण के बिना केन्द्रीकृत संगठित प्रशासन असम्भव था। प्राथमिक एवं माध्यमिक जमींदारों की उपस्थिति खालिसा एवं जागीरी दोनों क्षेत्रों में होती थी इसलिए इनके नियंत्रण के लिए प्रशासन के प्रतिनिधि सेवकों की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। एक बात और सत्य थी कि इन पर नियंत्रण सदाशयता या मात्र मधुर सम्बन्धों के माध्यम से नहीं रखा जा सकता था बल्कि इसके लिए भय अत्यावश्यक था। भय सिर्फ सैन्य बल के प्रयोग के द्वारा पैदा किया जा सकता था। दूसरे शब्दों में सरकारी सेवक जैसे फौजदार एवं जागीरदार ही अपनी श्रेष्ठ सैनिक बल के आधार पर इन पर अंकुश लगा सकते थे।

जमींदारों का मुख्य कार्य किसानों से लगान वसूल करना एवं उसे राजकोष में जमा करवाना था। राज्य द्वारा जमींदारों से लगान वसूल करना आसान कार्य था। इनमें कुछ तो ऐसे थे जो नियमित रूप से बिना किसी प्रकार की कठिनाई खड़ी किए राजकोष में वसूला गया लगान जमा करवा देते थे लेकिन एक वर्ग ऐसा भी था जो बिना दबाव के ऐसा नहीं करते थे। इस प्रकार के जमींदारों को मुगल दस्तावेजों में जोरतलब जमींदार कह कर पुकारा जाता था। इस प्रकार के जमींदारों से सैन्य बल की सहायता से लगान वसूल किया जाता था। मुगल इतिहासकारों ने लिखा है कि जोरतलब जमींदारों से लगान वसूली किसी सैनिक अभियान से कम नहीं होती थी।

मुगल शासकों की जमींदारों के प्रति नीति प्रशासनिक आवश्यकताओं से उपजी थीं। इस वर्ग से सम्बन्ध स्थापित करने एवं मुगल राजस्व प्रशासन का अंग बनाने से पूर्व उन्होंने उनकी सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति का गहराई से निश्चित अध्ययन किया होगा। इस अध्ययन के माध्यम से शासकों ने जमींदारों एवं किसानों के मध्य जातीय एवं बिरादरी के सम्बन्धों की प्रवृत्ति को पूर्णतः समझ लिया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने इस वर्ग की ऐतिहासिक जड़ों की गहराई को भी आत्मसात कर लिया था। इसी समझ के आधार पर शासकों ने जमींदारों के भूमि एवं किसानों के उत्पादन में हिस्सेदारी के निजी सम्पत्ति के उनके अधिकार को पूर्ण मान्यता प्रदान कर दी थी। इस मान्यता के द्वारा शासकों एवं जमींदारों के मध्य सम्बन्धों की शुरूआत हुई। इसका तात्पर्य यह कत्तई नहीं था कि जमींदार प्रत्येक मामले में पूर्ण स्वतंत्र थे। इस मान्यता के साथ उनके कुछ कर्त्तव्य एवं दायित्व भी निर्धारित कर दिए थे जिनका पालन न करने पर उनको अपने जमींदारी अधिकारों से हाथ भी धोना पड़ सकता था। उनका मुख्य कार्य था किसानों से लगान वसूल करके राजकोष में जमा करवाना, लेकिन इस कार्य में वह किसी प्रकार की ढ़िलाई या बदनीयति करता था तो उसे अपने पद से हटा कर उसके सारे अधिकार जब्त कर लिए जाते थे। हालांकि जमींदारों के अधिकार पैतृक् होते थे लेकिन मुगल शासकों ने उनके उत्तराधिकार के मामले तय करने का अधिकार अपने पास रख छोड़ा था। वे जब चाहते उसमें दखल दे सकते थे। प्रो० इरफान हबीब ने जमींदारों की स्थिति के बारे में लिखा है कि बादशाह के अधीन क्षेत्रों में जमींदारों का दर्जा एक प्रकार से अधीनस्थ

कर्मचारियों के समान था। मुगल प्रशासन ने लगान उगाहने तक ही उनको सीमित कर दिया था जिसके बदले उनको नकद या वस्तु में भुगतान किया जाता था। इस सम्बन्ध में प्रो0 सतीश चन्द्र का कथन अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होता है। वे लिखते हैं कि जमींदारों को, जो कि परम्परागत रूप से शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार के शत्रु समझे जाते थे, मुगल सरकार ने ग्रामीण क्षेत्रों में केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में बदलने का प्रयास किया जिसके दूरगामी परिणाम हुए। लेकिन इसके साथ–साथ यह कई कॉन्ट्राडिक्शन्स से भी भरा था। इस विचार से थोड़ी भिन्न स्थिति भी थी जिसमें कुछ मामलों में जमींदारों का मुगल सरकार से सम्बद्ध होना अपरिहार्य नहीं था। इस बिन्दु की ओर प्रो0 इरफान हबीब ने अपने ग्रन्थ में संकेत किया है।

हालांकि मुगल सरकार ने जमींदारों को मुगल प्रशासन का अंग तो स्वीकार कर लिया था लेकिन उनको नियमित सरकारी नौकर के समान नहीं समझा जा सकता था। चूँकि उनकी ग्रामीण समाज में गहरी पैठ थी एवं उनके पास सैन्य बल भी था इसलिए मुगल सरकार सदैव उनसे आशंकित भी रहती थी। सरकार ने उन पर खालिसा एवं जागीर क्षेत्रों में अंकुश लगाने हेतु क्रमशः राजस्व अधिकारियों एवं जागीरदारों को सजग कर रखा था। जागीरदारों एवं जमींदारों में साधारणतः सम्बन्ध सामान्य नहीं रहते थे क्योंकि दोनों के मध्य लगान निर्धारण की मात्रा या अनुपात को लेकर सदैव तनाव रहता था। जागीरदारों का अपने अधीन क्षेत्रों में अधिकतम लगान निर्धारण में हित निहित था जिसका सीधा असर जमींदारों की आय पर पड़ता था। जमींदारों का हित इसमें था कि उनके क्षेत्रों से सामान्य निर्धारित दर से अधिक न वसूल किया जावे नहीं तो उनकी आय में कटौती हो जाती थी जो उनके लिए असहनीय था। इसी प्रकार की कमोबेश स्थिति खालिसा क्षेत्रों में भी थी। ऐसी स्थिति में जमींदारों के पास सशस्त्र विद्रोहों के अतिरिक्त कोई अन्यरास्ता नहीं था।

इन जमींदारों के अतिरिक्त स्वायत्तशाषी जमींदारों के साथ मुगलों के सम्बन्धों की प्रकृति ने अन्तर था। अकबर ने इन जमींदारों अर्थात् शासकों को विशेष सम्मान देते हुए भारतीय राजनीति में उनके महत्त्व को समझा। वह जानता था कि इनका इनके राज्य के लोगों के बीच अत्यधिक सम्मान है एवं यह सम्मान उन्होंने पीढ़ियों के शासन के पश्चात् हासिल किया है। इसके अतिरिक्त इनके पास एक विशाल सैन्य बल भी है। उनकी ऐतिहासिक गहरी जड़ों को देखते हुए ही अकबर ने उनको अपने शासन में बड़े–बड़े मनसब देकर अपने प्रशासन का अंग बना लिया। यह नीति मुगल साम्राज्य के लिए काफी लाभदायक रही। उन्होंने साम्राज्य विस्तार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। वे सदैव स्वामीभक्त रहे जिसके कारण एक विदेशी सत्ता को एक स्थानीय शक्तिशाली समर्थन मिल गया। इसी नीति का मोटे तौर पर अकबर के उत्तराधिकारियों ने भी अनुसरण किया। औरंगजेब ने जोधपुर के मामले में जब इस नीति से विचलित होने का प्रयास किया तो उसे राठौड़ों का तीस सालों तक प्रतिरोध–युद्ध झेलना पड़ा।

इन स्वायत्तशाषी जमींदारों को भी मुगलों के साथ सम्बन्धों का लाभ मिला। इन्हें अपने मनसब के मुताबिक इनके वंशानुगत क्षेत्र के अतिरिक्त साधारण जागीरें मिलीं। इनके मनसब के अनुसार जो जागीरें मिलती थीं उनमें उनकी वतन जागीर(पैतृक क्षेत्र) की अनुमानित आय(जमा) का समायोजन करने के पश्चात् शेष तनख्वाह के लिए उन्हें अपने वतन क्षेत्र से बाहर की जागीरें मिलती थीं जो साधारण तनख्वाह जागीरें होती थीं। इस प्रकार की साधारण जागीरों से होने वाली आमदनी शासकों की वतन जागीर से अधिक होती थी। प्रो0 बी0एल0 भादानी ने अपने ग्रन्थ (पिजेण्ट्स, आर्टिजन्स एण्ड एण्टरप्रिन्योर्स -- इकॉनॉमी ऑफ मारवाड़ - इन सेवण्टीन्थ सेन्चुरी) में जोधपुर महाराजा जसवन्त सिंह को दोनों प्रकार की जागीरों से होने वाली आय के आँकड़े दिए हैं। उनके अनुसार वतन जागीर से 16,30,125 रूपए की आमदनी होती थी जबकि साधारण जागीर से 20,95,989 रूपए बैठती थी जो कि की जागीर से काफी अधिक थी। इस अतिरिक्त आय से रेगिस्तानी राज्य की अर्थ–व्यवस्था को काफी सहारा मिला। यह मुगलों की नीति के कारण से सम्भव हो सका।

इन सेवाओं की स्वायत्तता का अर्थ मुगल साम्राज्य से उनकी पूर्ण स्वतन्त्रता से कदापि नहीं था। दूसरे शब्दों में यह नियन्त्रित स्वायत्तता' थी। मुगल बादशाह ने उनके उत्तराधिकार के मामलों में दखल देना आरम्भ कर दिया। इसके अलावा इन शासकों को पदवियाँ जैसे राजा, राणा या राव या महाराव भी बादशाह द्वारा निर्धारित की जाने लगी। ये एक प्रकार से अप्रत्यक्ष नियन्त्रण कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त जैसे इन शासकों को अपने वतन क्षेत्रों में मुगल मुद्राएं ही चलानी पड़ती थीं। वे कैसे भी स्थिति में अपनी मुद्राएं नहीं ढ़ाल सकते थे। अपने राज्यों की सीमा से गुजरने वाले शाही मार्ग पर सुरक्षा प्रदान उनको पूर्ण जिम्मेदारी अन्यथा उन्हें जुर्माना भरना पड़ता था। ऐसे राजाओं द्वारा पेशकश का भुगतान इस बात का द्योतक था कि उन्होंने मुगल सत्ता को स्वीकार कर लिया था। दूसरे शब्दों में उन्होंने अपनी अधीनस्थ स्थिति स्वीकार कर ली थी। अन्त में यह कहा जा सकता है कि मुगल शासकों ने अपनी नीति के कारण इन स्वायत्तशासी राजाओं को मुगल प्रशासन का अंग बना कर उनको अधीनस्थ बना लिया लेकिन इससे दोनों दलों को लाभ पहुँचा।

अध्याय-10

मुगलों का केन्द्रीय एवं प्रान्तीय प्रशासन

मुगल शासन व्यवस्था धीरे–धीरे नौकरशाही व्यवस्था के रूप में विकसित हुई। शासक इस व्यवस्था का सदैव आधार रहा। मुगलों ने निरंकुश शक्ति पर अपने राजतन्त्र की बुनियाद रखी। बाबर जिस क्षेत्र से आया था वहाँ की परिस्थितियां भारत से नितान्त भिन्न थीं। चंगेज खाँ एवं तैमूरलंग का खून उसकी रगों में था। इसके अतिरिक्त बाबर उनकी राजनीतिक विचारधारा से भी पूर्णतः परिचित था। तैमूर निरंकुश सत्ता में पूर्ण विश्वास करता था एवं सत्ता के अधिकार को अविभाजित मानता था।

इसी मूल भावना को बाबर ने आगे बढ़ाया। अपने शासन के अधिकार के लिए उसने किसी धार्मिक नेता की मान्यता को आवश्यक नहीं माना। उसने अपने आपको अब्बासी खिलाफत से जोड़ना जरूरी नहीं समझा। राजसत्ता के वंशानुगत एवं अविभाजित होने की बात बाबर की मृत्यु के पश्चात् हुमायूँ के बादशाह बनने से सिद्ध हो गई थी।

अकबर के समय मुगल साम्राज्य की जड़ें मजबूत होने के साथ सम्प्रभुता की अवधारणा भी परिपक्व हुई। इस सम्बन्ध में अकबर की धारणा को उसके प्रिय लेखक अबुल फज़ल ने व्यक्त किया है। उसके अनुसार राजा या बादशाह एक प्रकाश है जो ईश्वर से निकलता है एवं वह एक सूर्य की एक किरण है। अकबर भी राजा को दैवी चमत्कारी शक्तियों से पूर्ण मानता था एवं जिनको चुनौती नहीं दी जा सकती थी। चूँकि बादशाह में दैवी शक्ति समाहित होती है इसलिए वह सर्वज्ञाता होता है। वही सब बातों का कर्णधार होता है इसीलिए सारी गति–विधियों के केन्द्र में बादशाह स्वयं होता है। वही साम्राज्य की धुरी होता है। किसी भी इस्लामी राज्य में बादशाह पर शरीयत इस्लामी कानून का प्रतिबन्ध एक महत्त्वपूर्ण तथ्य था। अकबर ने अपने अधिकारों की पवित्रता के लिए उसके उल्लंघन में भी हिचकिचाहट नहीं दिखाई। बादशाह के अधिकारों को सर्वोपरि माना। इसी अभिधारणा ने केन्द्रीकृत नौकरशाही व्यवस्था को जन्म दिया। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुगल शासन बादशाह केन्द्रित एक अत्यन्त विकसित एवं विशिष्ट नौकरशाही व्यवस्था थी। लगभग सभी आधुनिक इतिहासकारों ने इसे इसी रूप में व्याख्यायित किया है।

प्रशासनिक व्यवस्था

मुगल प्रशासनिक व्यवस्था केन्द्र, प्रान्त एवं स्थानीय स्तरों पर संगठित व्यवस्था थी। तीन स्तरों पर व्यवस्थित होने के कारण से प्रशासन में काफी सजगता थी। इस प्रकार के संगठन का मुख्य कारण यह था कि ऊपर से लेकर छोटी से छोटी इकाई गाँव तक पूरी निगरानी एवं चौकसी रखी जा सके। दूसरा कारण विभिन्न स्तरों के अधिकारी एक दूसरे के कार्य-क्षेत्र पर सरकारी प्रतिनिधि के रूप में नजर रख सकें। प्रशासन की ऊपरी सतह पर केन्द्रीय ढ़ाँचा था। फिर साम्राज्य को सूबों में विभाजित किया गया था इसलिए इस स्तर पर भी एक सुगठित ढ़ाँचा खड़ा किया गया। इसी प्रकार सबसे नीचे स्तर पर स्थानीय एवं गाँव स्तर का संगठन था जो सम्पूर्ण ढ़ाँचे का आधार था। इसी आधार पर मुगल प्रशासन विकसित होता रहा लेकिन जिसको प्रारम्भ करने का श्रेय अकबर को जाता है।

केन्द्रीय प्रशासन

मुगल प्रशासन का वास्तविक रूप से जन्मदाता अकबर था। हालांकि अकबर को ऐसा प्रशासनिक ढ़ाँचा मिला था जो दिल्ली सल्तनत काल में विकसित हुआ था एवं शेरशाह सूरी ने उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण सुधार किए थे। उसके पूर्व उसके दादा बाबर एवं बाद में पिता हुमायूँ को प्रशासन की तरफ ध्यान देने का समय ही नहीं मिल पाया था। अकबर ने शासन की बागडोर सम्भालने के बाद उजबेकों एवं मिर्जाओं की समस्या से निबटने के पश्चात् प्रशासन को सुगठित किया। उसके द्वारा स्थापित व्यवस्था मोटे तौर पर आगे भी जारी रही।

बादशाहः बादशाह ईश्वर का प्रतिनिधि है एवं शासन के अधिकार भी उसी से प्राप्त होने के कारण से सर्वोपरि है। ये अधिकार अविभाजित एवं वंशानुगत है। इस मत ने उसे मुगल प्रशासन की केन्द्रीय धुरी बना दिया था। इसलिए बादशाह राज्य का प्रधान था और शासन की समस्त शक्तियाँ उसमें निहित थीं। वही राज्य का अन्तिम कानून–निर्माता, प्रशासक, व्यवस्थापक, अन्तिम न्यायाधीश और सेनापति था। एक तरह से वह शासन की धुरी था। प्रत्येक बात में अन्तिम निर्णय मुगल बादशाह का होता था, यद्यपि वह अपने कार्य में सहायता लेने के लिए मंत्री, सलाहकार तथा अनेक अन्य अधिकारियों की नियुक्ति करता

था। अकबर के समय तो बादशाह को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाने लगा था और महजर की घोषणा करके धार्मिक मामलों में श्रेष्ठता प्राप्त करने से तो उसकी स्थिति सर्वोच्च और शक्ति असीमित हो गयी थी। मुगल बादशाहों के अपने कुछ विशेषाधिकार थे और उनका कोई उपयोग नहीं कर सकता था, जैसे– झरोखा दर्शन एवं नक्कारा बजाना आदि। दरबार में बड़े से बड़े अमीर भी बादशाह के सामने खड़े रहते थे। इस प्रकार सम्पूर्ण शक्तियों को केन्द्रित करते हुए तथा देवता का अंश अपने में मानकर मुगल बादशाह पूर्णतया निरंकुश थे। परन्तु मुगल बादशाह स्वेच्छाचारी अथवा अत्याचारी नहीं थे बल्कि हम उन्हें उदार निरंकुश शासन कह सकते हैं। वे अपनी प्रजा की भलाई के लिए कठोर परिश्रम करते थे और प्रातःकाल से लेकर देर रात्रि तक अपना समय राज–कार्य में लगाते थे। कार्य की अधिकता की वजह से मुगल अपने अमीरों तथा अधिकारियों की सलाह को भी महत्त्व देते थे और इस तरह उनका प्रभाव बादशाह पर होना स्वाभाविक था।

उत्तर मुगल काल में स्थिति में अन्तर आया। इस समय बादशाह की शक्ति क्षीण हो गई। उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर युद्ध एवं अन्तर्कलह ने उनको कमजोर बना दिया। ऐसे में अमीरों एवं दरबारियों ने भी इसका लाभ उठाया। ऐसे में बादशाह, दरबारियों के हाथों के खिलौने बन गए और उनकी प्रतिष्ठा घटी। अनेक मुगल बादशाहों को तो उनके दरबारियों ने, विशेषकर सैयद बन्धुओं ने, गद्दी से उतार कर अपमानित किया एवं उनकी हत्या भी की। इसके बावजूद सिद्धान्ततः सम्राट ही प्रशासन का प्रधान होता था लेकिन इतने विस्तृत एवं विशाल साम्राज्य का प्रशासन चलाना अकेले बादशाह के लिए सम्भव नहीं था। इसलिए उसकी सहायता के लिए एक परिषद् की आवश्यकता थी जिसे मुगल शब्दावली में विजारत कहा जाता था इससे यह बात प्रमाणित हो जाती है कि एक पूरी परिषद् बादशाह की सहायता के लिए नियुक्त की जाती थी जिसकी अधीनस्थ स्थिति होती थी।

वकील : अकबर के समय वकील के पद का महत्त्व बढ़ गया लेकिन बाबर के समय वजीर की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। यही स्थिति उसकी हुमायूँ के समय में भी रही। बाबर के समय का वजीर निजामुद्दीन ख्वाजा था जबकि हुमायूँ के समय अमीर बैरम एवं हिन्दू बेग रहे। ये सभी वजीर अत्यन्त शक्तिशाली थे। हुमायूँ की मृत्यु के बाद वजीर की स्थिति में परिवर्तन हो गया एवं उसका स्थान वकील ने ले लिया। राज्यारोहण के समय अकबर नाबालिग था इसीलिए बैराम खाँ की नियुक्ति बादशाह के वकील एवं अतालिक के रूप में हुई। वह अत्यन्त शक्तिशाली व्यक्ति था एवं वह सम्पूर्ण विभागों की देख–रेख करता था। अधिकारियों की नियुक्ति एवं उनकी बर्खास्तगी का कार्य उसने अपने हाथ में ले लिया। यहाँ तक कि वह मन्त्रियों को मृत्यु दण्ड भी देने लगा। इस तरह वजीर का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गया। प्रो0 सतीश चन्द्र के अनुसार बैराम खाँ ने सर्वशक्ति वजीर के सारी शक्तियों का उपयोग किया। बैराम खाँ ने अपनी शक्ति के नशे में बादशाह की अवहेलना भी शुरू कर दी। यही नहीं उसने अकबर के निजी मामलों में दखल देना प्रारम्भ कर दिया।

बैराम खाँ की यह स्थिति नौजवान होते अकबर को असहनीय लगने लगी। उसने अपने वकील को हटाने का मन बना लिया और अन्त में 1560 ई0 में उसको हटा दिया गया। लेकिन मुगल बादशाह ने वकील के पद के महत्त्व एवं उसकी शक्ति को कम करने का मन बना लिया था। उसने बाद में ऐसे कदम उठाए जिनसे वकील अन्य राज्य अधिकारियों की तरह सामान्य अधिकारी रह गया।

मुनीम खाँ को वकील के पद पर नियुक्त किया गया लेकिन उसके पास वे शक्तियां नहीं रह गई थीं जो बैरम खाँ के पास थी धीरे–धीरे राजस्व एवं वित्तीय मामलों को वकील से अलग कर दिया गया। 1567 ई0 में मुनीम खाँ को इस पद से हटा कर इसे जैतपुर का सूबेदार बना दिया। इसके पश्चात् अगले सात वर्षों तक इस पद पर किसी की नियुक्ति नहीं की गई। प्रो0 सतीश चन्द्र के अनुसार 1595 ई0 में मुजफ्फर खाँ को वकील बनाया गया लेकिन वास्तव में वकील एवं दीवान के पद को सम्मिलित कर दिया। चार वर्ष बाद उसकी बंगाल में नियुक्ति के पश्चात् इस पद को फिर खाली छोड़ दिया गया।

इसके लम्बे समय के पश्चात् 1595 ई0 में मिर्जा अजीज कोका को वकील के पद पर नियुक्त किया गया जो अकबर के अन्त तक इस पद पर रहा। हालांकि वह एक प्रभावशाली व्यक्ति था लेकिन प्रशासन में उसकी कोई भूमिका नहीं थी। वह एक मात्र सम्मान का पद रह गया था।

अकबर के उत्तराधिकारियों ने भी वकील के पद के मामले में उसी की नीतियों का पालन किया और बहुत कम समय के लिए इस पर नियुक्तियां की गईं। जहाँगीर ने इस पद पर नियुक्ति में कोई रूचि नहीं दिखाई। शाहजहाँ ने आसफ खाँ को इस पद पर नियुक्त किया जो इस पद पर लगभग चौदह वर्ष तक रहा। अन्त में 1642 ई0 में इस पद को ही हमेशा के लिए समाप्त कर दिया गया।

वास्तव में इस पद के महत्त्व एवं प्रभाव को तो अकबर ने ही समाप्त कर दिया था। उसने वकील के अधिकारों को ही विभाजित करके अलग–अलग विभाग एवं उससे सम्बन्धित अधिकारी नियुक्त कर दिए थे।

दीवान : अबुल फजल के अनुसार आय–व्यय के विभाग का अध्यक्ष वजीर होता था जिसे दीवान भी कहा जाता था। उसे ही दीवान–ए–आला भी कहा जाता था। मुगल काल में वह मुख्यतः वित्तीय मामलों में बादशाह का मुख्य सहायक होता था। वह शाही खजाने का अधीक्षक एवं साम्राज्य के सारे हिसाब किताब की जाँच भी करता था। इब्न हसन ने वजीर–दीवान के बारे में लिखा है कि "राजस्व विभाग के अध्यक्ष के नाते वह उस प्रत्येक अधिकारी पर निगरानी रखता था जो जागीर से तनख्वाह पाते थे। राजस्व विभाग के साथ ही उस पर राज्य के मुख्य कार्यकारी अधिकारी का भी दायित्व था। इस प्रकार सूबे के सूबेदारों से लेकर अमीर एवं पटवारी तथा सभी सूबे के अधिकारियों पर उसका नियन्त्रण रहता था। वित्त मंत्री के नाते से खजाने की आय एवं व्यय पर उसकी पूरी निगरानी रहती थी।" अकबर के काल की सबसे बड़ी विशेषता थी कि उसने योग्यतम व्यक्तियों को इस पद पर नियुक्त किया लेकिन उन पर पूरा अंकुश रखा। उसने सदैव उनकी कार्य–कुशलता एवं स्वामीभक्ति का सम्मान किया लेकिन कभी भी अनुशासनहीनता को सहन नहीं किया।

इस प्रकार दीवान के कार्यों एवं उसके कार्य–क्षेत्र को संक्षेप में यँ उजागर किया जा सकता है– **वजीर**, दीवान होने के नाते वह राजस्व विभाग का सर्वोच्च अधिकारी था और साम्राज्य की सम्पूर्ण आय और व्यय की देखभाल करता था। भूमि कर, आयात–निर्यात कर अथवा आर्थिक सम्बन्धी सभी सुधार के प्रस्ताव वही पेश करता था और उनको सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने का भार उसीर पर रहता था। प्रान्तपतियों से वह सीधा सम्पक्र रखता था और उनसे उनके प्रान्तों के सम्बन्ध में बराबर सूचना माँगता तथा उनको सम्राट की ओर से आवश्यक निर्देश भेजता रहता था। साम्राज्य के भीतर सभी नियुक्तियों, पदोन्नतियों अथवा स्थानान्तरणों की सूचना उसी के कार्यालय से और उसी के हस्ताक्षरों से निकाली जाती थी। कुल मिला कर वजीर–दीवान सभी अन्य विभागों पर नियन्त्रण रखता था, सूबों से सूचनाएँ प्राप्त करता था और बादशाह के आदेशों को वहाँ भेजता था, राजनीतिक पत्र–व्यवहार करता था और सभी कार्यों का विवरण अपने कार्यालय में सुरक्षित रखता था। इस प्रकार बादशाह के पश्चात् शासन में प्रमुख स्थान वजीर–दीवान का होता था।

इसके अतिरिक्त इसके अधीन अन्य विभाग भी थे जिनके अलग अध्यक्ष होते थे जो निजी थे– दीवान–ए–खालिसा (खालिसा भूमि से सम्बन्धित), दीवान–ए–तन (नकद वेतन वालों के लिए), दीवान–ए–जागीर (राजस्व के रूप में जागीरों के दिए जाने वालों के लिए), दीवान–ए–बधुतात (कारखानों आदि के लिए) दीवान–ए– तबजिह (सेना के हिसाब–किताब के लिए), दीवान–ए–सादात (धार्मिक अनुदानों के मामले), खजाना मुस्तौफी (लेखा परीक्षक) एवं मुशर्रफ (मुख्य लेखपाल)।

मीर बख्शी : दिल्ली सल्तनत काल में बलबन के अधीन मीर बख्शी के कार्यों की प्रकृति के समान ही एक पद था जो दीवान–ए–अर्ज नाम से जाना जाता था। वजीर की शक्ति को विभाजित करने के लिए एक सैनिक विभाग की आवश्यकता महसूस हुई तभी मीर–बख्शी का पद अस्तित्व में आया। मीर बख्शी दीवान–ए–आरिज के सारे अधिकारों का उपयोग करता था लेकिन उसका प्रभाव उससे भी विस्तृत था। इसके कार्यों की सीमा काफी विस्तृत थी जिनको संक्षेप में यँ बताया जा सकता है– उसके कार्यों में सैनिकों की भर्ती करना, उनका हुलिया रखना, घोड़ों को दगवाना, सैनिकों के शस्त्रों, घोड़ों एवं रसद की व्यवस्था करना उसका कार्य था। मनसबदारी प्रथा की स्थापना के बाद जब राज्य के सभी कर्मचारी इस प्रथा के अन्तर्गत आ गये तब उनके वेतन आदि का लेखा–जोखा रखना भी इसी का जिम्मा हो गया था। मनसबदारों की नियुक्ति व उनकी मनसबों के आधार पर उनके सैनिकों की संख्या, वेतन, जागीर आदि की जाँच भी इसी का कार्यालय करता था। मनसबदारों को वही उनको सम्राट के सामने उपस्थित करता था। बाहर से आने वाले राजदूतों को भी बादशाह के सम्मुख वही प्रस्तुत करता था। प्रान्तों के वाकया नवीसों से वही सूचनाएं प्राप्त करके बादशाह तक पहुँचाता था। सारी पदोन्नतियां एवं राज्य के सर्वोच्च अधिकारियों जैसे– वकील, वजीर एवं सद्र आदि की नियुक्तियाँ भी उसी के कार्यालय के माध्यम से गुजरती थी। इन्हीं कार्यों के कारण से वह मुगल प्रशासन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली अधिकारी था। उसके कार्य की व्यापकता को देखते हुए ही दो अन्य बख्शी भी नियुक्त किए गए थे।

उसका प्रभाव इब्न हसन के कथन में स्पष्ट झलकता है। वह लिखते हैं कि "मीर बख्शी का प्रभाव उसके स्वयं के विभाग से काफी विस्तृत था एवं दरबार में बादशाह की समीपता ने उसकी प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा दिए थे।"

मीर सामान : यह एक शाही परिवार से सम्बन्धित विभाग था जिसका अध्यक्ष या इन्चार्ज मीर सामान होता था। यह पद न तो दिल्ली सल्तनत काल में था और न ही पश्चिमी एशिया के इस्लामी देशों में था। यह पद वजीर एवं मीर बख्शी के समान था। प्रो0 सतीश

चन्द्र के अनुसार यह पद अकबर के समय में अस्तित्व में नहीं आया था बल्कि जहाँगीर एवं शाहजहाँ के समय में बना था। मीर सामान का मुख्य कार्य शाही परिवार से सम्बन्धित सदस्यों की आवश्यकताओं को पूरा करना था। वह बादशाह के परिवार, हरम महल और उसकी व्यक्तिगत तथा दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। शाही भोजन भण्डार, उपहार, नजराना आदि का भी वह देखभाल करता था। उसका एक मुख्य उत्तरदायित्व शाही कारखानों की देखभाल करना तथा उनके दरोगाओं और अन्य कर्मचारीयों की नियुक्ति करना, उनके लिए आवश्यक कच्चा माल खरीदना तथा उनके द्वारा तैयार की हुई वस्तुओं का संग्रह करना और आवश्यकतानुसार उनका राजकीय कार्यों में उपयोग करना आदि सभी कामों को करना था। इस कारण साम्राज्य के उच्च अधिकारीयों में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान था। शाही फरमानों में उसकी मुहर, वजीर–दीवान और मीर बख्शी के मुहर के साथ ही रखी जाती थी। राजमहल और राज दरबार के सभी कर्मचारियों पर भी वह नियन्त्रण रखता था। राज दरबार व महल से सम्बन्धित सभी भण्डार और कोष उसके निरीक्षण में रहते थे। उपहार में दी जाने वाली वस्तुओं का भी वह संग्रह रखता था। सम्राट को दी जाने वाली भेंटों का मूल्यांकन व संग्रह भी यही करता था। शाही हरम की देख–रेख और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति भी यही करता था। सम्राट की रूचि का ध्यान रखना और ठीक समय पर उसकी पूर्ति करना भी उसी का काम था।

मीर सामान के अधीन कार्य करने वाले अधिकारी एवं कर्मचारी भी पर्याप्त मात्रा में थे क्योंकि उसका कार्य–क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। इसके अधीन कार्य करने वाले मुख्य अधिकारी थे – दीवान–ए–बयूतात (इस पर विभाग के वित्तीय कामों को देखने की जिम्मेदारी थी), मुशर्रफ (मुख्य लेखपाल), दरोगा (कारखानों की देख–रेख करने वाला), तहवीलदार (कारखानों के नकदी एवं माल का इन्चार्ज)। इतने महत्त्वपूर्ण कार्यों का इन्चार्ज होने के कारण उसकी महत्ता अत्यधिक बढ़ गई थी, इसीलिए इस पद पर नियुक्ति सदैव बादशाह के किसी विश्वासपात्र की होती थी।

सद्र : उलेमाओं के मुखिया को सद्र कहा जाता था। वह मूलतः शरीयत को लागू एवं उसकी व्याख्या करने से सम्बन्धित मामलों में बादशाह को सलाह देता था। यह पद इस्लामी देशों की परिस्थितियों में पैदा हुआ था। वहाँ के शासक मूलतः योद्धा होते थे एवं उन्हें इस्लामी धार्मिक सिद्धान्तों का पूर्ण ज्ञान नहीं था इसीलिए उनकी सहायता के लिए एक अलग से विभाग बनाया गया जिसमें शरीयत के जानकार विद्वानों की नियुक्ति की गई एवं इसका अध्यक्ष सद्र कहलाता था।

भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् यह पद यहाँ भी अस्तित्व में आया। मुगल शासकों ने इस धार्मिक विभाग को व्यवस्थित तरीके से चलाने के लिए सभी प्रान्तों एवं सरकारों में सद्रों की नियुक्तियाँ की गईं लेकिन केन्द्रीय स्तर पर नियुक्त सद्र को सद्र–उस–सुदूर या सद्र–ए–कुला कहा जाता था। इसका मुख्य दायित्व शिक्षा, विचारों एवं जनता के चरित्र पर दृष्टि रखना होता।

सद्र की मुख्य जिम्मेदारी विद्वानों, सन्तों एवं अमीरों के परिवार की स्त्रियों एवं कमजोर वर्गों के जीवन–निर्वाह हेतु लेकिन मदद–ए–माश अनुदान की भूमि प्रदान करना था। वह छात्र–वृत्तियां भी प्रदान करता था। लेकिन उन अनुदानों के दुरूपयोग को रोकना भी उसकी जिम्मेदारी थी। इस धार्मिक अनुदान के लिए उपयुक्त व्यक्तियों की सूची एवं उनके प्रार्थना–पत्र बादशाह के सम्मुख प्रस्तुत करता था एवं उन्हें आदेशानुसार धार्मिक अनुदान दिए जाते थे।

इसके अतिरिक्त वह न्याय विभाग का भी प्रमुख होता था इसलिए इस जिम्मेदारी के कारण वह काजी–उल–कुज्जात कहलाता था लेकिन इस क्षेत्र में उस पर बादशाह का अंकुश था। वह सभी प्रान्तों में काजियों की नियुक्ति करता था। शरीयत के अनुसार फैसले सुनाता था। लेकिन अन्तिम अपील का न्यायालय बादशाह स्वयं होता था। वह मुफ्ती की सहायता से मामलों की सुनवाई करके निर्णय देता था।

भारत में मुगल शासन में इस पद की गरिमा में धीरे–धीरे पतन हो गया क्योंकि मुगल बादशाह स्वयं इसमें अधिक रूचि नहीं लेते थे। इस्लामिक देशों में सद्र का जो प्रभाव एवं वर्चस्व था वह यहाँ नहीं रहा।

प्रान्तीय प्रशासन

अकबर को, मुगल साम्राज्य को प्रान्तों में विभाजित करके उन्हें संगठित स्वरूप प्रदान करने का श्रेय जाता है। [illegible] दिल्ली सल्तनतकाल में साम्राज्य इक्ताओं में विभक्त था जिसके धारकों को मुक्ती कहा जाता था। इनके पास सैनिक शक्तियां [illegible] थीं एवं इनका मुख्य दायित्व इन क्षेत्रों से राजस्व वसूल करना एवं कानून–व्यवस्था स्थापित करना था। इस काल में [illegible] एक प्रशासनिक इकाई के रूप में स्थापित हो पाई थी। प्रो0 सतीश चन्द्र के अनुसार अकबर ने उसी व्यवस्था को 1580 ई. में [illegible]

साम्राज्य का सूबों में गठन :

अकबर ने 1580 ई0 के पश्चात् सम्पूर्ण साम्राज्य को सूबों में विभाजित करके प्रशासन में चुश्ती लाने का प्रयास किया। अकबर के दरबारी इतिहासकार अबुल फज़ल के अनुसार सम्पूर्ण साम्राज्य को प्रारम्भ में बारह सूबों में विभाजित किया गया। विभाजन के पीछे प्रशासनिक सुविधा ही मुख्य आधार था। बारह सूबे थे-- आगरा, इलाहाबाद, अजमेर, अवध, बंगाल, दिल्ली, गुजरात, मालवा, बिहार, लाहौर, मुल्तान एवं काबुल। इसके बाद दक्षिण की विजय के पश्चात् खान देश, बरार एवं अहमदनगर को तीन नए सूबों की मान्यता दे दी जिससे कुल सूबों की संख्या बढ़कर पन्द्रह हो गई। अकबर ने अपने समय में थोड़ा परिवर्तन किया। उदाहरणार्थ उड़ीसा विजय के पश्चात् बंगाल सूबे का अंग बना दिया गया एवं इसी तरह कश्मीर को काबुल का हिस्सा बना दिया गया। इन परिवर्तनों के अलावा सूबों की संख्या में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। जहाँगीर के समय भी सूबों की संख्या यथावत रही। उसने कांगड़ा विजय के पश्चात् उसे सूबा लाहौर का भाग बना दिया। शाहजहाँ ने कोई नया क्षेत्र विजित करके उसे सूबे का स्तर प्रदान नहीं किया बल्कि उसने सूबों का पुनर्गठन करके सूबों की संख्या पन्द्रह कर दी। उसने कश्मीर, थट्टा एवं उड़ीसा को दूसरे सूबों से अलग करके सूबों का स्तर प्रदान कर दिया। औरंगजेब के काल में साम्राज्य के दक्षिण में फैलाव के कारण से गोलकुण्डा एवं बीजापुर को नए सूबे बना दिए जाने से सूबों की संख्या बीस हो गई। इन प्रान्तों का क्षेत्रफल स्थायी नहीं था और केन्द्रीय सरकार की जरूरत के अनुसार इसमें परिवर्तन होता रहता था। साधारणतया सभी प्रान्त या सूबे बराबर समझे जाते थे, किन्तु सुरक्षा और सामरिक महत्त्व की दृष्टि से कुछ सूबों पर अधिक ध्यान दिया जाता था तथा कभी--कभी एक से अधिक प्रान्तों के लिए एक ही सूबेदार नियुक्त कर दिया जाता था। उदाहरण के लिए दक्षिण के सभी मुगल सूबों का एक ही सूबेदार नियुक्त किया जाता था। इसी प्रकार बंगाल और उड़ीसा दोनों प्रान्तों में भी एक ही सूबेदार नियुक्त किया जाता था। इन छोटे--मोटे अन्तरों को छोड़कर अन्य सभी बातों में सभी प्रान्तों का संगठन एक जैसा ही किया गया था।

सूबों के पदाधिकारी:

प्रान्तों या सूबों के प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए कई अधिकारियों की आवश्यकता थी जो बादशाह के प्रतिनिधि के तौर पर यहाँ का शासन चला सकें। इनमें मुख्य पदाधिकारी थे– सूबेदार, प्रान्तीय दीवान, बख्शी, वाकिया नवीस एवं सद्र आदि। इनके सारे अधिकार एवं कार्य--क्षेत्र अलग--अलग थे, सबके निश्चित कार्य थे। बादशाह ने सब अधिकारियों को विस्तृत अधिकार प्रदान कर दिए थे। इसके अतिरिक्त मुगल बादशाहों ने अधिकारियों की नियुक्ति के समय में इस बात का विशेष ध्यान रखा कि सबके अधिकारों को सन्तुलित करने के लिए एक अधिकारी दूसरे पर नियन्त्रण एवं निगरानी रख सके। इस सजगता से प्रशासन चुस्त दुरूस्त एवं सभी प्रकार की मुसीबतों से बचा रहता था। उदाहरणार्थ अकबर ने प्रान्तीय दीवान को विस्तृत अधिकार दिये थे और 1596 ई0 से उसे सूबेदार के नियन्त्रण से मुक्त करके केन्द्रीय दीवान के अधीन कर दिया था। इसमें सम्राट का उद्देश्य सूबेदार की शक्तियों को दीवान की शक्तियों से सन्तुलित करके सूबों में विद्रोह की सम्भावना को समाप्त करना था। परन्तु उत्तर मुगलकालीन सम्राटों के दुर्बल होने पर कभी--कभी निजामत (सूबेदारी) और दीवानी (दीवान) के अधिकार एक ही व्यक्ति को दे दिये गये थे जिससे उनका स्वतन्त्र होना और भी सुगम हो गया।

सूबेदार :

अकबर के समय प्रान्त का सर्वोच्च अधिकारी प्रारम्भिक समय में सिपहसल्हार कहलाता था लेकिन बाद में सूबेदार नाम से पुकारा जाने लगा। इसके पश्चात् कभी--कभी उसे निजाम भी कहा जाने लगा था। वह प्रान्तों में बादशाह का प्रतिनिधि होता था। वह सूबे में प्रान्तीय सेना का सेनापति होता था, सूबे में उसके विस्तृत अधिकार थे जो बादशाह द्वारा प्रदान किए हुए थे। दूसरे शब्दों में वह सूबे का सर्वशक्तिमान अधिकारी होता था। इसीलिए सामन्यतः यह पद राजवंश के सदस्यों अथवा बड़े मनसबदारों को ही दिया जाता था। सामान्यतः उसकी तनख्वाह का भुगतान जागीर के रूप में होता था एवं उसकी जागीर भी उसी प्रान्त में ही होती थी। सूबेदारों का स्थानान्तरण एक नियमित प्रक्रिया थी जिससे वे स्थानीय स्तर पर अपनी जड़ें न जमा सकें। इनका कार्य क्षेत्र काफी विस्तृत था फिर भी संक्षेप में उसके अधिकार एवं कर्तव्य निम्न थे :--

एक, सूबे की सेना का सेनपति होता था इसीलिए सूबे की कानून व्यवस्था की जिम्मेदारी।

दो, सामान्य प्रशासन का सुचारू रूप से संचालन का दायित्व।

तीन, जन सामान्य के कल्याण एवं समृद्धि के बारे में लगातार प्रयास करना।

चार, अधीनस्थ अधिकारियों पर पूर्ण नियन्त्रण एवं निगरानी रखना।

पाँच, दोषी अधिकारियों की गलतियों को सजा देना लेकिन मृत्यु दण्ड का अधिकार नहीं

छह, पुलिस एवं गुप्तचर विभाग में ईमानदार एवं योग्य लोगों की भर्ती करने का अधिकार।

सात, सूबे के व्यय पर अंकुश रखना एवं यह देखना कि किसी भी स्थिति में आय से अधिक खर्च न हो।

आठ, सूबेदार की आज्ञा का पालन न करने वाले जागीरदारों को दण्डित करने का अधिकार।

नौ, जमींदारों से पेशकश वसूल करने एवं उन पर पूरी नजर रखना उनके द्वारा विद्रोह किए जाने पर सजा देना।

दस, प्रान्तीय दीवान को लगान वसूली में पूर्ण सहायता देना।

ग्यारह, प्रान्तीय दीवान के खेती के विस्तार के प्रयास, तालाबों, कुँओं, नहरों, सरायों एवं बागों आदि जैसे जनहित कार्यों में सहायता देना

बारह, सूबे की गतिविधियों के बारे में सूचनाओं का संकलन एवं उन्हें बादशाह तक पहुँचाना।

इतने विस्तृत अधिकारों से लैस होने के कारण वह सूबे का सर्वशक्तिमान अधिकारी था। लेकिन इन सबके बावजूद उस पर कुछ अंकुश भी थे। वह बादशाह के अनुरूप सूबे में कोई काम नहीं करेगा। उसे सूबे में दरबार लगाने, अधीनस्थों को पदवियां देने एवं झरोखा दर्शन आदि जैसे कार्य न करने की बंदिश थी। लेकिन जैसे–जैसे मुगल शासन कमजोर हुआ तब उन्होंने इन अंकुशों का त्याग करके बादशाह की तर्ज पर सारे कार्य करने लगा।

प्रान्तीय दीवान :

सूबा में सूबेदार के पश्चात् वही सर्वाधिक शक्तिशाली अधिकारी था। प्रो0 सतीश चन्द्र के अनुसार प्रारम्भ में सूबेदार को अपनी सहायता के लिए दीवान नियुक्त करने की इजाजत थी लेकिन 1595 ई0 के पश्चात् सम्भवतः केन्द्रीय दीवान की सिफारिश पर उसकी नियुक्ति होने लगी। इसलिए इसके पश्चात् वह सूबेदार का अधीन अधिकारी नहीं रह गया बल्कि उसका एक सहयोगी अधिकारी हो गया। लेकिन सूबेदार प्रशासन का मुखिया रहा। अकबर के काल के पश्चात् उपलब्ध दस्तावेजों के आधार पर दीवान के कर्तव्यों का पता लगाया जा सकता है। उसके निम्न मुख्य कार्य थे –

एक, पन्द्रह दिन में दीवान को प्रान्त के वित्तीय मामलों एवं नकद रूपयों की कोष में मात्रा का पूरा विवरण केन्द्रीय दीवान को भेजना होता था।

दो, उसका कार्य प्रान्त में राजस्व वसूल करना तथा राजस्व वसूली के लिए अधिकारियों एवं कर्मचारीयों की नियुक्ति [illegible] सबंधी विवादों को निपटाना एवं प्रान्त की आय–व्यय का हिसाब रखना आदि होता था

तीन, उसका अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य खेती का विस्तार करना एवं सरकार के आमिलों की मदद से कृषि सुधारों को लागू करना

चार, उसका यह भी कर्तव्य था कि वह अन्य सभी आमिलों और तहसीलदारों के विषय में ठीक जानकारी रखे, उन्हें सरकारी रूपये खा जाने का अवसर न दे, तथा गड़बड़ करने पर नौकरी से हटा दे।

पाँच, धार्मिक अनुदान में दी गई भूमि का भी वह निरीक्षण करता था।

छह, जागीरों के वित्तीय मामलों की देख–भाल करना भी उसके कार्यों का अंग था।

सात, प्रान्तीय अफसरों के वेतन निश्चित करना एवं उन्हें समय वितरित करना भी उसका कार्य था।

आठ, अकाल के समय सरकार द्वारा किसानों को दिए गए तकावी ऋणों की वसूली करना दीवान का काम था।

नौ, प्रान्त के विभिन्न विभागों के व्यय पर निगरानी रखना एवं उसके निर्धारण करने का कार्य दीवान का ही था।

इतने विस्तृत कार्य–क्षेत्र को देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वित्तीय मामलों में दीवान सूबेदार के [illegible] तरह दीवान के केन्द्र से नियन्त्रित होने के कारण प्रान्त में द्वैध शासन प्रणाली के समान व्यवस्था स्थापित हो गई थी। इस व्यवस्था के पीछे मुगल बादशाह का उद्देश्य प्रान्त के बड़े अधिकारियों पर पारस्परिक नियन्त्रण स्थापित करना था। इसमें एक हद तक सीमा तक सफलता मिली।

बक्शी :

प्रान्तीय बक्शी की तरह केन्द्र सरकार में भी इसी नाम का अधिकारी होता था। मोटे तौर पर उनका कार्य केन्द्र के बख्शी के समान ही था। उसकी नियुक्ति केन्द्रीय मीरबख्शी की सलाह से की जाती थी। प्रान्त के सभी सैनिकों की देख–रेख तथा उनको ठीक दशा में रखना तथा रसद की व्यवस्था करना एवं सरकारी निर्देशों का पालन कराना उसका मुख्य कर्तव्य था। वही सब प्रान्त के पदाधिकारियों के वेतन का हिसाब रखता था। वह प्रान्त के मनसबदारों की सूची भी रखता था तथा यह देखता था कि प्रत्येक मनसबदार निर्दिष्ट संख्या में सैनिक रखता है या नहीं। कभी–कभी उसे वाकियानवीस का काम भी सौंप दिया जाता था तब वह सूबे की सूचनाएँ केन्द्रीय सरकार को भेजता था। कभी–कभी केन्द्र में उसके द्वारा गवर्नर के विरूद्ध भेजी गई सूचना के कारण से सूबेदार एवं उसके मध्य तनाव पैदा हो जाता था। इसके कारण से सभी अधिकारी सजग रहते थे। सूबेदार, दीवान तथा बख्शी के सजग और कर्तव्यपरायण रहने पर प्रान्त की शासन व्यवस्था बहुत सुचारू रूप से चलती रहती थी क्योंकि वे बाकी अन्य प्रदाधिकारीयों को कर्तव्य पथ पर रखने में सफल हो जाते थे।

वाकिया नवीस :

यह सूबे के गुप्तचर विभाग का अध्यक्ष होता था। वह अपने अधीन गुप्तचरों और संदेशवाहकों की नियुक्ति करता था और उनसे सूचनाएँ प्राप्त करता था। सूबे के शासन की प्रत्येक सूचना वहाँ तक कि सूबेदार और दीवान के कार्यों की सूचना भी वह केन्द्रीय सरकार को भेजता था। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार अलग से भी सवानी नवीस या खुफिया–नवीसों की प्रान्तों में नियुक्ति कर वहाँ से सूचनाएँ मँगवाती थी। इनकी नियुक्ति दारोगा–ए–डाक करता था। वे गुप्त रूप से महत्त्वपूर्ण सूचनाएं भेजते थे। बाद में वे डाक अधिकारियों के रूप में कार्य करते थे। इससे प्रान्तीय वाकिया–ए–नवीस चौकस रहते थे और प्रान्त की सही सूचनाएँ केन्द्र को भेजते थे।

सद्र :

सद्र धार्मिक अनुदानों के लिए नामों की सिफारिश करता था। धार्मिक और न्याय कार्य हेतु प्रान्त में सद्र और काजी का पद, साधारणतया एक ही व्यक्ति को प्रदान किया जाता था जिसकी नियुक्ति केन्द्र के सद्र–उस–सुदूर की सिफारिश पर सम्राट द्वारा की जाती थी और सद्र–उस–सुदूर के नियन्त्रण में अपना कार्य करता था। वह अपने क्षेत्र में इस्लाम धर्म के हितों के प्रति उत्तरदायी था। इस व्यक्ति को दोहरा कार्य करना पड़ता था। सद्र के नाते प्रजा के नैतिक चरित्र, दान–पुण्य तथा इस्लाम के कानूनों के पालन की व्यवस्था करता था तथा काजी की दृष्टि से न्याय करता था। अपने अधीन काजियों के कार्यों की देख–भाल और नियन्त्रण भी इसे ही करना पडता था।

इसके अतिरिक्त इस्लाम धर्म मानने वालों के धार्मिक हितों की रक्षा करना भी उसका महत्त्वपूर्ण कार्य था। धार्मिक अनुदानों में उठे विवादों को भी वह सुलझाता था। न्याय विभाग से सम्बन्धित होने के कारण से उनको काज़ियों के नामों की सिफारिश भी करनी पड़ती थी।

कोतवाल :

प्रान्त की राजधानी तथा बड़े नगरों की शान्ति और सुरक्षा के लिए कोतवाल होते थे। कोतवाल नगर का मुख्य पुलिस अधिकारी होता था और उसकी अधीनता में काफी सैनिक रहते थे। नगर में व्यवस्था और सफाई, यात्रियों की देख–भाल आदि के कार्य उसे ही देखने पड़ते थे।

उपर्युक्त अधिकारियों के अतिरिक्त किसी–किसी सूबे में दारोगा–ए–तोपखाना नामक अधिकारी भी होता था तथा मीर बहर भी नियुक्त किये जाते थे जो बन्दरगाहों, नदी के मुहानों तथा पुलों के निकट नावों की व्यवस्था तथा कर वसूल करने का कार्य करता था।

स्थानीय प्रशासन :

प्रशासन को चुस्त–दुरूस्त एवं सजग रखने के लिए प्रान्तों का सरकारों में विभाजन किया गया था। सरकारों के नीचे की श्रेणी परगना होती थी। परगनों का निर्माण गाँवों से होता था। ये सारे विभाजन प्रशासनिक थे लेकिन इनमें राजस्व एवं सेना के मामलों का दखल था।

सरकार :

डॉ0 बी0एल0 गुप्ता एव डॉ0 पेमाराम ने सरकार में नियुक्त अधिकारीयों पर रूचिपूर्ण तरीके से प्रकाश डाला है। ये लिखते हैं कि प्रान्त कई सरकारों अथवा जिलों में विभक्त थे। प्रत्येक सरकार में कई अधिकारी नियुक्त किये जाते थे जिसमें सबसे प्रमुख अधिकारी फौजदार होता था जो सम्राट द्वारा नियुक्त किया जाता था। सरकार में आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था का भार उसी पर होता था। इस कार्य में आवश्यकता पड़ने पर वह सूबेदार से भी सहायता ले सकता था और उसके नियन्त्रण में रह कर काम करता था। फौजदार अपने पास एक छोटी सेना रखता था जिसकी सहायता से वह विद्रोहियों तथा शान्ति भंग करने वालों का दमन करता था। वह कर वसूल करने में राजस्व अधिकारियों को सहयोग प्रदान करता था।

सरकार में दूसरा प्रमुख अधिकारी अमलगुजार होता था जो सरकार का राजस्व अधिकारी था। लगान वसूल करना कृषि की देख–भाल करना, किसानों की सुरक्षा तथा बेईमान और उपद्रवी किसानों के साथ कठोर व्यवहार करना सभी उसी के कार्य थे। सरकारी खजाने की देख–भाल भी उसी के अधीन थी। इसकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती थी और वह प्रान्तीय दीवान के अधीन रहकर कार्य करता था। अमलगुजार के अधीन बितिक्ची नामक अधिकारी काम करता था जो भूमि तथा लगान सम्बन्धी सभी कार्य करता था और किसानों को लगान वसूली की रसीदें देता था। इसके अतिरिक्त बड़े–बड़े नगरों मे न्याय करने के लिए काजी और शान्ति–व्यवस्था के लिए कोतवाल नियुक्त किये जाते थे।

परगनों का प्रशासन :

सरकार के नीचे शासन की छोटी इकाई परगना होती थी। प्रत्येक परगने में एक शिकदार एक आमील, एक फोतदार, एक राजा एक कानूनगो तथा अनेक लेखक होते थे। शिकदार का कर्तव्य परगने में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना तथा लगान वसूल करने में सहायता करना था। आमील परगने का वित्त अधिकारी था तथा किसानों से लगान वसूल करना उसका मुख्य काम था। फोतदार परगने का खजान्ची था तथा खजाने की सुरक्षा उसका मुख्य उत्तरदायित्व था। परगने में न्याय का कार्य काजी के सुपुर्द था तथा कानूनगो परगने के पटवारियों का प्रधान था। लगान, भूमि और कृषि सम्बन्धी सभी कागजों को देखना और तैयार करना उसके कर्तव्य था। परगने में अनेक लेखक कारकून भी थे जो लिखा–पढ़ी का कार्य करते थे।

गाँव : प्रशासन की लघुत्तम इकाई :

प्रत्येक परगने में अनेक गाँव थे। मुगलों ने गाँव के शासन का उत्तरदायित्व अपने हाथों में नहीं लिया था बल्कि परम्परागत ग्राम पंचायतें ही अपने गाँव की सुरक्षा, सफाई तथा छोटे–मोटे झगड़ों का निपटारा करती थी। गाँव के अधिकारियों में मुकद्दम पटवारी चौकीदार आदि प्रमुख थे। गाँव में सरकार की ओर से किसी भी कर्मचारी की नियुक्ति नहीं की जाती थी। मुकद्दम गाँव की शान्ति और व्यवस्था के लिए उत्तरदायी था। वही सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकारी था और वही गाँव एव शासन के बीच की कड़ी का काम करता था। उसी के माध्यम से ग्रामवासी सरकार तक अपनी शिकायतें पहुँचाते थे। पटवारी जमीन के लेखे रखता था और किसान से लगान वसूल करता था तथा चौकीदार गाँव की चौकीदारी करता था।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि ग्राम पंचायतें ग्रामीण प्रशासन का आधार थी जिसके आधार पर सम्पूर्ण प्रशासन टिका था। मुगलों ने एक प्रशासनिक व्यवस्था दी जो परिस्थितियों के अनुकूल बदलती रही, लेकिन इस व्यवस्था ने दो सौ साल तक मुगल राजवंश को थामे रखा।

इकाई-III

अध्याय-11

उत्तराधिकार का युद्ध एवं मुगल राज्य के चरित्रा में परिवर्तन

6 सितम्बर, 1657 ई0 का दिन मुगल साम्राज्य के भविष्य के लिए एक बुरा सन्देश लेकर आया, क्योंकि शाहजहाँ एकाएक अस्वस्थ हो गया। लेकिन मुगल बादशाह एक भाग्यशाली व्यक्ति भी था जिसके चारों पुत्र उसकी चहेती माँ मुमताज महल के पुत्र थे। इससे भी बड़ी खुशी की बात थी कि वे सब सभी प्रकार की बुराइयों से दूर थे। इससे भी बड़ी बात कि वे सभी योग्य थे एवं साम्राज्य के विभिन्न सूबों में प्रशासन का काम सम्भाले हुए थे। दारा सबसे बड़ा था एवं बादशाह के ज्यादा समय तक दरबार में समीप रहता था। यही ईर्ष्या का कारण बना। सबने भीतर ही भीतर दारा के विरुद्ध गुटबन्दी आरम्भ कर दी।

प्रो0 सतीश चन्द्र के अनुसार सब शहजादों की योग्यता ने उत्तराधिकार की समस्या को अधिक उलझा दिया। उनकी आपसी गुटबंदी एवं प्रतिद्वन्दिता ने उत्तराधिकार के प्रश्न को खूनी संघर्ष में परिवर्तित करने का खतरा बना दिया था। मुगलों में उत्तराधिकार की कोई स्पष्ट परम्परा नहीं थी। प्रारंभ में जनसामान्य की मान्यता पर बल दिया गया लेकिन बाद में शासक द्वारा उत्राधिकारी के नामांकन की परम्परा को सभी ने स्वीकार कर लिया। पुत्रों के मध्य साम्राज्य के विभाजन करने की तैमूरी परम्परा को भारत में मान्यता नहीं मिली थी। इसलिए यह कहा जा सकता है कि मुगलों में उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नहीं था। भारत में मुगल राजवंश की स्थापना के साथ ही उत्तराधिकार की समस्या बार–बार उठी। मुगलों में अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने अथवा साम्राज्य को विभिन्न दावेदारों (राजपुत्रों) के बीच बाँट देने की भी परम्परा थी; परन्तु इसे भी हमेशा व्यवहार में नहीं लाया गया। अतः उत्तराधिकार के निश्चित नियम के अभाव में तख्त का फैसला बहुधा तलवार के बल पर ही होता था। गद्दी के दावेदारों को तख्त अथवा तख्ता में से एक का चुनाव करना पड़ता था। मुगल यह भी मानते थे कि "राजतंत्र रक्त संबंध को नहीं मानता है।" इसलिए, पिता–पुत्र और भाई–भाई में युद्ध होते थे। स्वयं अकबर जैसे शक्तिशाली शासक को अपने भाई और पुत्र के विद्रोह का सामना करना पड़ा था। शाहजहाँ भी अपने अनेक भाइयों एवं अन्य दावेदारों की हत्या करवा कर रक्तरंजित तलावर के साथ गद्दी पर बैठा था। अपने जीवन के अंतिम चरण में उसे भी अपने पुत्रों के विद्रोह और आपसी संघर्ष का सामना करना पड़ा।

बादशाह की बीमारी की खबर से जनता में तरह तरह की अफवाहे फैलने लगीं। प्रो0 राम प्रसाद त्रिपाठी ने ठीक ही लिखा है कि बादशाह ही बादशाहत का प्रतीक था। शक्ति, शान्ति और व्यवस्था का स्रोत था। बादशाहत बदलने पर उत्तराधिकार का युद्ध होता जिससे प्रशासनिक मशीन रुक जाती थी। संघर्ष के कारण से सब अस्त–व्यस्त हो जाता था। शाहजहाँ ने लोगों को चिन्ता मुक्त करने के लिए कई बार झरोखा दर्शन दिए। अपनी शक्ति कमजोर होते देख शाहजहाँ ने दारा को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया एवं अमीरों से उसके आदेश मानने का अनुरोध किया।

उत्तराधिकारी की घोषणा से दारा की कठिनाइयां बढ़ गई। उसे दोहरे दायित्व का निर्वाह करना था। उसे बादशाह की अनुपस्थिति में सरकारी काम काज चलाना था तथा साथ ही अपने दावे को भी सिद्ध करना था। इस परिस्थिति से उसके अन्य भाइयों के कान खड़े होना स्वाभाविक था। वे सब गद्दी का दावेदार मान रहे थे इसलिए दारा की गतिविधियों एवं शासन में उसके बढ़ते प्रभाव से चिन्तित हो रहे थे। इसलिए वे जल्दी से जल्दी युद्ध के द्वारा राजगद्दी पर अपने दावों को साबित कर देना चाहते थे।

दारा :-

सभी भाइयों में दारा सबसे बड़ा था। दर्शन एवं तुलनात्मक धर्मो में उसकी रुचि ने ही उसको उदार दृष्टिकोण का बना दिया था। भारत जैसे विभिन्न धर्मो में दारा जैसा उदार दृष्टिकोण आवश्यक था। उसमें सहृदयता, दया, दानशीलता एवं पितृभक्ति जैसे गुण थे जिसके कारणे से वह जनता का चहेता था। शाहजहाँ भी उसे बहुत प्यार करता था। वह विद्वान्, उदार एवं दयालु था। धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपना कर, अनेक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर और विद्वानों को संरक्षण प्रदान कर उसने अच्छी ख्याति अर्जित कर ली थी। दारा में कुछ कमजोरियाँ भी थीं। उसे सैनिक अनुभव बहुत कम था। उसमें घमण्ड की मात्रा भी थी तथा वह अच्छे–बुरे की पहचान आसानी से नहीं कर पाता था। यद्यपि शाहजहाँ ने उसे पंजाब का सूबेदार एवं दिल्ली का प्रशासक नियुक्त किया था, परन्तु वह प्रशासनिक जिम्मेदारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर सौंपकर सदैव पिता के साथ राजधानी में रहता था। शाहजहाँ प्रशासन में दारा के परामर्श पर बहुत अधिक निर्भर करता था।

उसकी सबसे बड़ी कमजोरी सैनिक प्रशिक्षण का न होना था। प्रशासनिक एवं आध्यात्मिक अध्ययनों में व्यस्त रहने के कारण उसे सैनिक प्रशिक्षण नहीं मिल पाया। यही पक्ष उसका सर्वाधिक कमजोर था जिसका नुकसान उसे उठाना पड़ा।

शुजा :-

शुजा शाहजहाँ का दूसरा पुत्र था। वह बंगाल का गवर्नर था। वह कुशाग्र बुद्धि, साहसी एवं समझदार था लेकिन आलसी विलासप्रिय एवं सुस्त था। बंगाल के प्राकृतिक मौसम ने उसके चरित्र की इन कमजोरियों को उभार दिया था। इसका असर उसके स्वास्थ्य पर था।

औरंगजेब :-

यह शाहजहाँ का तीसरा पुत्र था। वह एक कट्टरपंथी मुसलमान था जिसका उसे राजनीतिक लाभ था लेकिन साथ–साथ में यही उसकी राजनीतिक कमजोरी भी था। वह दृढ़ प्रतिज्ञ एवं चरित्रवान व्यक्ति था। उसमें उद्देश्य को प्राप्त करने की लालसा नहीं प्रबल इच्छा शक्ति थी। अपने सभी भाइयों में चालाक, महत्वकांक्षी एवं कूटनीतिज्ञ औरंगजेब था। यद्यपि धार्मिक मामलों में औरंगजेब असहिष्णु प्रकृति का कट्टर सुन्नी मुसलमान था, परन्तु वह एक अच्छा संगठनकर्ता और कुशल सेनाध्यक्ष था। शाहजहाँ ने उसे दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया था।

औरंगजेब में एक योग्य सेनानायक के गुण थे। वीर एवं साहसी होने के साथ–साथ उसमें सावधानी एवं सजगता भी थी। उसकी कठोर नीति का लोगों पर अत्यधिक प्रभाव था एवं वे उससे भयभीत रहते थे। उसकी एक विशेषता और थी वह था दूसरों पर आसानी से विश्वास न करना। उसने प्रान्तीय प्रशासन से काफी ज्ञान अर्जित कर लिया था।

मुराद :-

शाहजहाँ का सबसे छोटा बेटा मुराद था। वह अत्यधिक भावुक प्रवृति का था। वह वीर, साहसी एवं उदार था लेकिन उसके इन गुणों पर विलासिता एवं आलस्य का दाग लगा हुआ था। इसके साथ ही साथ वह अन्य भाइयों की तरह कुशाग्र बुद्धि नहीं था बल्कि मूर्ख एवं अदूरदर्शी था। उसे राजनीति का ज्ञान नहीं था। कुछ उसकी युवा उम्र ने उसे झगड़ालु एवं हठी बना दिया था उस पर बचपना हावी रहता था जिसके कारण से वह सबसे झगड़ा करता रहता था। उसमें शासन एवं सैनिक मामलों में कोई रुचि नहीं थी। उसमें बादशाह बनने की सबसे अधिक जल्दी थी जिसके बारे में वह बढ़ चढ़ कर बात करता रहता था।

इनके अतिरिक्त शाहजहाँ के तीन पुत्रियां थीं– जहाँआरा, रोशन आरा एवं गौहर आरा। इसमें जहाँआरा ने दारा का पक्ष लिया जबकि रोशन आरा ने औरंगजेब का तथा गौहर आरा ने मुराद का पक्ष लिया।

डॉ0 बी0एल0 गुप्ता, डॉ0 पेमाराम ने इनके अतिरिक्त दो कारणों की ओर संकेत किया है। प्रथम कारण उन्होंने दारा के प्रति पिता के पक्षपातपूर्ण व्यवहार को माना है। शाहजहाँ के शासन के तीस वर्ष में दारा कभी भी दरबार से 15 महीने से ज्यादा दूर नहीं रहा और न ही उसने किसी युद्ध में कोई विशेष उपलब्धि हासिल की, फिर भी उसका मनसब 60,000 जात था जो कि सभी तीनों शहजादों के सामूहिक मनसब से भी अधिक था। दारा के पुत्रों यहाँ तक कि उसके नौकरों का भी ज्यादा महत्व दिया गया। इस प्रकार दारा के प्रति किया गया पक्षपात अन्य शहजादों के लिए ईर्ष्या का कारण बना। उनका कहना था कि पिता को जब सभी पुत्र समान होते हुए भी वह एक के प्रति ही इतना पक्षपात क्यों करता है?

दूसरा कारण औरंगजेब एवं मुराद के मध्य गुप्त सन्धि को माना है जिसने संघर्ष को और भी अवश्यम्भावी बना दिया था। इन तीन भाइयों ने सामूहिक रूप से दारा को अपना शत्रु घोषित किया था इस आपसी सन्धि का औरंगजेब आत्मा था और शुजा व मुराद को आपस में जोड़ने वाली कड़ी थी। दिसम्बर, 1652 ई0 में अपने पिता की इच्छा के विपरीत औरंगजेब और शुजा आगरा के आस–पास में मिले और तीन दिन तक एक–दूसरे के साथ रहकर सन्धि को मजबूत करने के लिए शुजा ने अपनी पुत्री का सम्बन्ध औरंगजेब के बड़े पुत्र सुल्तान मोहम्मद के साथ की। इस वैवाहिक सन्धि को शहाजहाँ सन्देह की दृष्टि से देखता था। सितम्बर, 1657 ई0 में बादशाह बीमार पड़ गया और उत्तराधिकार–युद्ध की सम्भावनाएँ बढ़ गयीं तब तो मुराद ने तेजी से औरंगजेब व शुजा से पत्र–व्यवहार करना शुरू कर दिया था और एक सामान्य सन्धि दारा के विरूद्ध तीनों भाइयों के बीच में हो गयी थी। औरंगजेब और औरंगजेब के बीच में तो लिखित में सन्धि हुई थी जिसमें लूट के सामान व साम्राज्य के विभाजन की स्पष्ट व्याख्या की गयी थी। सन्धि के अनुसार मुराद को युद्ध में विजय होने के बाद पंजाब, सिन्ध, काश्मीर और अफगानिस्तानके प्रदेश दिये जाने थे।

युद्ध के लिए परिस्थितियों का बनना :

शाहजहाँ की बीमारी ने उसके पुत्रों के मध्य संशय उत्पन्न करके युद्ध की नींव डाल दी थी क्योंकि बादशाह के सभी पुत्र सिंहासन के हकदार समझते थे। शाहजहाँ के अन्तिम वर्षों में दारा की तरफ उसके झुकाव ने अन्य पुत्रों के मन में संशय पैदा कर दिया था। इस प्रकार शाहजहाँ की बीमारी ने इस आने वाले संघर्ष को और भी निकट ला दिया। बीमारी के कारण से बादशाह एक सप्ताह तक दरबार में उपस्थित न हो सका तथा न ही झरोखा दर्शन दे सका। इस बीमारी के दौरान दारा व उसके दो तीन विश्वासपात्र व्यक्तियों के अलावा दारा ने किसी को भी सम्राट से नहीं मिलने दिया। इससे तेजी से यह अफवाह फैली कि बादशाह मर गया है और दारा अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए इस तथ्य को छिपा रहा है। 14 सितम्बर को बादशाह ने झरोखे से भीड़ को दर्शन दिये व दरबार किया। उसी दिन बादशाह ने अपने दरबारियों व उच्च अधिकारियों को बुलाया और अपनी अन्तिम इच्छा व्यक्त की और आदेश दिया कि दारा को वे बादशाह मानें और उसके आदेशों का पालन हर जगह और हर समय हो। इस समय दारा ने एक गलती यह की कि उसने दरबार से शाहजादों के पास जाने वाले पत्रों पर रोक लगा दी जिससे साम्राज्य भर में तरह–तरह की अफवाहें फैल गयीं और तीनों शहजादे– शुजा, औरंगजेब और मुराद, युद्ध के लिए तैयार होकर राजधानी की ओर बढ़ने लगे। यद्यपि कुछ महीनों बाद बादशाह पूर्णरूप से स्वस्थ हो गया था लेकिन उसने इस उत्तराधिकार के युद्ध को रोकने हेतु कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया।

शाहजहाँ के पुत्रों का आगरा की ओर प्रयाण : अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध का बिगुल :

शाहजहाँ युद्ध रोकने का प्रयास कर रहा था जिसमें उसे सफलता नहीं मिल पा रही थी। इसका कारण उसके तीन पुत्रों की युद्ध के लिए व्यग्रता थी। शुजा, औरंगजेब एवं मुराद तीनों शीघ्र युद्ध चाह रहे थे। इनमें औरंगजेब को छोड़कर अन्य दोनों भाई बादशाह बनने के लिए अत्यधिक जल्दी में थे। इसलिए जब सम्राट शाहजहाँ के मरने की अफवाह प्रान्तों में पहुंची जो यद्यपि सही नहीं थी, तो मुराद ने अपने को गुजरात में और शुजा ने अपने को बंगाल में स्वतंत्र बादशाह घोषित कर दिया। सर्वप्रथम शुजा अपनी सेनाओं को लेकर राजधानी की ओर बढ़ा। मुराद ने भी अपने दीवान अलीनकी को कत्ल कर दिया, सूरत को लूटा और फरवरी में आगरा की ओर रवाना हो गया। औरंगजेब भी बादशाह बनने में पीछे न था, परन्तु उसने जल्दबाजी न की। वह अपनी बहन रोशनआरा तथा गुप्तचरों से शाही दरबार की सारी सूचनाएं प्राप्त करता रहा तथा आगरा जाने का उद्देश्य अपने रोगी पिता के दर्शन करना बताया। उसने इस बात का प्रयत्न किया कि उसकी गतिविधियों की सूचना आगरा न पहुँचे, साथ ही वह मुराद से एक समझौता करने में भी सफल हुआ। जिसमें तय हुआ कि विधर्मी दारा को नष्ट करने के बाद मुराद को उत्तरी प्रान्त–पंजाब, अफगानिस्तान, काश्मीर तथा सिंध एक स्वतन्त्र शासक के रूप में प्राप्त होंगे और लूट के माल का 1/3 भाग भी मिलेगा। बाकी धन और साम्राज्य आरंगजेब को प्राप्त होगा और वह शुजा के साथ जैसा चाहे समझौता कर सकेगा।

बादशाह द्वारा शाहजादों के विरुद्ध सेनाएं :

शाहजहाँ ने इन विद्रोही सेनाओं का मुकाबला करने के लिए एक सेना दारा के पुत्र सुलेमान शिकोह तथा मिर्जा राजा जयसिंह के नेतृत्व में शुजा के विरुद्ध भेजी और दूसरी व तीसरी सेना क्रमशः राजा जसवन्त सिंह और कासिम खाँ के नेतृत्व में औरंगजेब और मुराद के विरुद्ध दक्षिण की ओर भेजी। इन सेनानायकों को आदेश दिये गये कि पहले वह शहजादों को समझा कर अपने सूबों में वापस जाने के लिए बाध्य करें और यदि युद्ध आवश्यक हो जाय तो शहजादों का जीवन नष्ट न किया जाय, इस बात का ध्यान रखें। सुलेमान शिकोह और मिर्जा राजा जयसिंह के नेतृत्व में भेजी गयी शाही सेना का मुकाबला शुजा से बनारस से 5 मील दूर बहादुरपुर नामक स्थान पर 24 फरवरी, 1658 ई0 को हुआ जिसमें शुजा की हार हुई और वह बंगाल की तरफ भाग गया। शुजा को हराना ज्यादा मुश्किल कार्य नहीं था क्योंकि वह सैनिक दृष्टि से कमजोर था। लेकिन औरंगजेब को परास्त करना अधिक मुश्किल कार्य था। इसलिए उसके विरूद्ध जोधपुर महाराजा जसवन्त सिंह को भेजा गया।

धरमत का युद्ध(२५ अप्रैल १६५८) : एक निर्णायक युद्ध :

शाह शुजा की पराजय की खबर मुगल बादशाह के पास पहुँची थी। महाराजा जसवंत सिंह की फौज औरंगजेब का सामना करने के लिए उज्जैन की ओर बढ़ी। शाहजहाँ ने मुराद और औरंगजेब के आक्रमण की सूचना पाकर उनके विरुद्ध भी एक सेना जोधपुर के राजा जसवंत सिंह और कासिम खाँ के अधीन भेजी। जसवंत सिंह को यह भी आदेश दिया गया था कि वह विद्रोही राजकुमारों को समझा–बुझा कर वापस लौटा दे जिससे राजधानी पर आक्रमण न हो। मालवा पहुँचने पर जसवंत सिंह ने औरंगजेब और मुराद

की सम्मिलित सेना को अपनी प्रतीक्षा करते हुए पाया। औरंगजेब ने जसवंत सिंह को युद्ध न करने और वापस लौटने की पेशकश दी, परंतु जसवंत सिंह ने वापस लौटना अपना अपमान समझा। अतः बिना पूरी तैयारी के ही वह विद्रोही राजकुमारों से भिड़ गया। 25 अप्रेल, 1658 को उज्जैन के निकट धरमत का निर्णायक युद्ध हुआ। जसवंत सिंह को पराजित और जख्मी होकर जोधपुर वापस लौटना पड़ा। इस युद्ध के परिणामस्वरूप औरंगजेब की शक्ति एवं प्रतिष्ठा अधिक बढ़ गई। उसे लूट में काफी सम्पत्ति और युद्ध सामग्री भी हाथ लगी। अब वह मुराद के साथ तेजी से राजधानी की ओर बढ़ा। चंबल नदी पार कर वह आगरा के निकट सामूगढ़ के समीप पहुँच गया।

धरमत युद्ध में मुगल सेना की पराजय शाहजहाँ के लिए अत्यन्त घातक थी इससे बादशाह की प्रतिष्ठा को जबरदस्त धक्का लगा अमीर वर्ग की डाँवाडोल स्थिति हो गई। दारा की स्थिति पर भी इसका बुरा असर पड़ा उसके भविष्य पर भी प्रश्नवाचक चिन्ह लग गया।

धरमत का युद्ध निर्णायक अवश्य था लेकिन अन्तिम नहीं था। इसलिए दोनों तरफ से अन्तिम युद्ध की तैयारी प्रारम्भ हो गई

सामूगढ़ का युद्ध(८ जून, १६५८) अन्तिम निर्णायक युद्ध :

धरमत का विजेता औरंगजेब मुगल सेना को तैयारी के लिए अधिक समय नहीं देना चाहता था। वह जल्दी से जल्दी विजय का सिलसिला जारी रखना चाहता था एवं मुगल तख्त पर जल्दी से कब्जा करना चाहता था। दूसरी तरफ दारा भी धरमत की पराजय को विजय में परिवर्तित करना चाहता था। लेकिन वह वहां की पराजय से पूर्णतः अपने को बाहर नहीं निकाल पा रहा था। इसी ऊहापोह में समय निकलता जा रहा था। इतने में औरंगजेब की सेना के आगरा के समीप पहुँचने की खबर पहुँचने पर अपने पिता से आज्ञा लेकर दारा अपने शत्रु भाई औरंगजेब का मुकाबला करने के लिए आगे बढ़ा। आगरा से 8 मील दूर सामूगढ़ नामक स्थान पर 8 जून, 1658 ई0 को दारा ने औरंगजेब और मुराद की सम्मिलित सेनाओं का मुकाबला किया। युद्ध का व्यापक अनुभव न होने के कारण दारा ने अनेक गलतियाँ कीं। उधर औरंगजेब ने अपनी कूटनीति से दारा के अनेक मुसलमान अफसरों को अपनी ओर मिला लिया जिनमें खलीलुल्ला खाँ मुख्य था। औरंगजेब के विरूद्ध सेना भेज देने से राजधानी एवं बादशाह की सुरक्षा कमजोर पड़ गई। स्थिति को देखते हुए दारा ने सुलेमान शिकोह को शीघ्र आगरा वापस आने की सूचना भेजी, लेकिन वह समय पर नहीं पहुँच सका। जसवंत सिंह और उदयपुर के महाराणा को भी सहायता के लिए आने को कहा गया, परंतु औरंगजेब ने उन्हें अपने पक्ष में मिला कर उन्हें युद्ध से तटस्थ रहने को राजी कर लिया। इस प्रकार दारा की स्थिति निःसहाय हो गई परंतु अपने धैर्य के साथ स्थिति का मुकाबला करने का निश्चय किया। अपने पुत्र सिपहर शिकोह, हाड़ा राजपूतों और बाढ़ा के सैयदों की सहायता से उसने युद्ध करने का निश्चय किया, लेकिन यहाँ भी उसने एक गलती की। उसने औरंगजेब की थकी हुई सेना पर तुरंत आक्रमण नहीं किया। दारा की यह भूल उसके लिए जानलेवा साबित हुई। 29 मई, 1658 ई0 को सामूगढ़ का अन्तिम निर्णायक युद्ध हुआ दारा ने बहादुरी से शत्रु का सामना किया परंतु संयुक्त सेना और औरंगजेब की सैन्य कुशलता के सामने वह नहीं टिक सका। दारा इस युद्ध में निर्णायक रूप से पराजित हुआ। वह अपने परिवार के साथ दिल्ली होते हुए लाहौर की ओर भाग गया एवं अपनी शक्ति संगठित करने का प्रयास करने लगा।

आगरा के किले पर आधिपत्य : औरंगजेब की अपने उद्देश्य में सफलता

धरमत एवं सामूगढ़ का विजेता अब अपने अंतिम लक्ष्य के बिल्कुल करीब था सिर्फ 8 कि0मी0 का फासला था। इस विजय पर मुगल बादशाह शाहजहाँ एवं उसके उत्तराधिकारी पुत्र दारा शिकोह की सारी प्रतिष्ठा धूल में मिल गई थी। अन्तिम युद्ध ने भी दारा के भाग्य पर हमेशा के लिए ताला लगा दिया था। उसके एवं उसके बादशाह पिता के सारे स्वप्न टूट कर बिखर गए थे। दूसरी ओर औरंगजेब के भाग्य का उदय हो गया था। सामूगढ़ के युद्ध की विजय ने उसके ललाट पर बादशाह अंकित कर दिया था। इस विजय से साम्राज्य की परिस्थितियों में तेजी से परिवर्तन आ रहा था। उसकी स्थिति दिन–प्रतिदिन मजबूत होती गयी। राज्य के अधिकारी और सेनापति उसकी ओर आ आकर मिलने लगे, यद्यपि विजय का सेहरा उसने मुराद के सिर बाँधा और घोषणा की कि मुराद बादशाह बना दिया गया है। दोनों शहजादों ने आगे बढ़ आगरा के किले का घेरा डाल दिया। यमुना नदी के पानी को किले में जाने से बंद कर दिया गया और शाहजहाँ को कुछ ही दिनों में किले के फाटक खोल देने के लिए बाध्य कर दिया। 18 जून 1658 ई0 को औरंगजेब ने आगरे के किले पर अपना अधिकार स्थापित कर शाहजहाँ को कैद कर लिया। इसके बाद औरंगजेब द्वारा आगरा के किले में एक शानदार दरबार लगाया गया तथा अपने पुत्र मोहम्मद को आगरा में छोड़ वह अब दारा का पीछा करने के लिए पंजाब की ओर रवाना हुआ। मार्ग में औरंगजेब ने चालाकी से मुराद को बन्दी बना लिया और ग्वालियर के दुर्ग में भेज दिया। इस प्रकार

मुराद को अपने रास्ते से हटा कर औरंगजेब दिल्ली पहुँचा। दारा अभी तक दिल्ली में एक बड़ी सेना एकत्र नहीं कर सका था। वह दिल्ली को छोड़ कर लाहौर चला गया और औरंगजेब ने सरलता से दिल्ली पर अपना अधिकार कर लिया। यहाँ औरंगजेब ने 21 जुलाई, 1658 ई0 को अपना राज्याभिषेक कराया और अपने आपको बादशाह घोषित किया। अब औरंगजेब ने एक सेना सुलेमान शिकोह का मुकाबला करने के लिए पूरब की ओर भेजी और स्वयं दारा का पीछा करने के लिए चल पड़ा। दारा लाहौर में भी औरंगजेब का सामना करने का साहस न जुटा सका। अतः वह मुल्तान और फिर भक्खर भाग गया। औरंगजेब ने मुल्तान तक उसका पीछा किया, तब उसे शुजा के राजधानी की ओर बढ़ने के समाचार मिले। अतः अपने सरदारों को दारा का पीछा करने के लिए छोड़कर वह दिल्ली वापस आ गया और तब शुजा का मुकाबला करने के लिए तैयारी करने लगा।

औरंगजेब का दारा सहित अपने दोनों भाइयों के अन्त के लिए अभियान :

आगरा पर आधिपत्य स्थापित करने के पश्चात् औरंगजेब ने दारा सहित अपने दो अन्य भाइयों के अन्त का निर्णय कर लिया एवं उसी के अनुसार उसने सारी योजना बना कर उस पर अमल प्रारम्भ कर दिया।

शुजा का अन्त(५ जनवरी, १६५८ ई०) :

शुजा अत्यन्त व्यग्र एवं उतावले स्वभाव का था एवं जल्दी से जल्दी मुगल साम्राज्य का बादशाह बनना चाहता था। जैसे ही औरंगजेब के आगरा से बाहर होने की खबर सुनी उसने राजधानी पर कब्जा करने की नीयत से उस ओर बढ़ना शुरू कर दिया। इसकी सूचना मिलते ही औरंगजेब ने तत्काल अपने पुत्र सुलेमान मोहम्मद को उसका रास्ता रोकने भेजा, जिसने खजवा नामक स्थान पर उसे रोक दिया। बाद में औरंगजेब भी राजा जसवन्त सिंह के साथ वहाँ पहुँच गया। जसवंत सिंह ने धर्मत के युद्ध की हार का बदला लेने तथा शाहजहाँ को कैद से मुक्त कराकर पुनः गद्दी पर बैठाने के लिए शुजा से गुप्त सम्बन्ध स्थापित किया और अपनी योजनानुसार औरंगजेब के डेरे पर रात्रि के तीसरे पहर धावा बोल दिया और उसको लूटता हुआ मारवाड़ के लिए रवाना हो गया। शुजा इस स्थिति का लाभ न उठा सका। दूसरे दिन 5 जरवरी, 1659 ई0 को दोनों सेनाओं के बीच युद्ध हुआ जिसमें औरंगजेब फिर विजयी हुआ और शुजा को युद्ध क्षेत्र छोड़ कर भागना पड़ा। बंगाल में मीरजुमला ने उसे वहां रहने नहीं दिया। अन्त में वहां से भाग कर अराकान पहुँच गया। जहाँ वर्मा में षडयंत्र के मामले में उसकी एवं उसके समस्त परिवार की हत्या कर दी गई। इस प्रकार औरंगजेब के एक शत्रु का अन्त हो गया।

देवराई का युद्ध एवं दारा का अन्त :

सामूगढ़ की विजय के पश्चात् औरंगजेब का ध्यान दारा को खत्म करने की ओर था। क्योंकि वह उसके लिए सबसे बड़ा खतरा था। उसके जीवित रहते शाहजहाँ को बल मिलता एवं गुटबंदी जोर पकड़ती। इस आशंका से मुक्त होने के लिए दारा का अंत होना जरूरी था। सामूगढ़ से पराजित होकर दारा अपने परिवार के साथ दिल्ली की ओर बढ़ा। वह दिल्ली पर नियंत्रण स्थापित कर, अपनी शक्ति संगठित कर, पुनः युद्ध करने की इच्छा रखता था, परंतु दिल्ली में उसे कोई सहायता नहीं मिली। अतः, वह लाहौर चला गया और अपनी स्थिति सुदृढ़ करने का प्रयास करने लगा। औरंगजेब ने उसका पीछा जारी रखा। औरंगजेब के भय से दारा लाहौर से सिंध, गुजरात होता हुआ अजमेर पहुँचा। उसकी स्थिति ठीक हुमायूँ जैसी हो गई थी। राजा जसवंत सिंह की सहायता से उसने पुनः औरंगजेब से भाग्य आजमाने का निश्चय किया, परंतु जसवंत सिंह ने उसे धोखा दिया। बाध्य होकर उसने अकेले ही औरंगजेब की सेना के साथ मार्च, 1659 ई0 में देवराई की लड़ाई लड़ी। औरंगजेब के साथ यह उसकी अंतिम मुठभेड़ थी। यहाँ भी दारा पराजित हुआ। उसने पुनः अहमदाबाद में शरण लेने का प्रयास किया, परंतु उसे निराशा ही हाथ लगी। अब वह अफगानिस्तान की ओर बढ़ा, परंतु मार्ग में बोलन दर्रे के निकट एक अफगान सरदार ने दारा एवं उसके छोटे पुत्र सिपहर शिकोह को गिरफ्तार कर दिल्ली भेज दिया। दिल्ली में दारा पर मुकदमा चलाया गया। उसे धर्मविरोधी ठहराया गया और उसके लिए मृत्युदंड की व्यवस्था दी गई। दारा और उसके पुत्र को अपमानित किया गया। दारा की हत्या कर दी गई। दारा के बड़े पुत्र सुलेमान शिकोह का भी दुःखद अंत हुआ। दारा की पराजय के पश्चात् वह भाग कर गढ़वाल चला गया था, परंतु वहाँ के शासक ने उसे गिरफ्तार कर औरंगजेब के पास भेज दिया। उसे भी ग्वालियर दुर्ग में कैद कर रखा गया और उसकी हत्या कर दी गई।

मुराद का अंत :

मुराद स्वप्नलोक में रहनेवाला व्यक्ति था उसे औरंगजेब की चालों का कुछ भी पता नहीं था। वह तो यह सोच रहा था कि अब मुगल ताज उसे मिलने ही वाला है। लेकिन उसके भाग्य में कुछ और ही लिखा था। उसके भाई औरंगजेब ने उसके लिए कुछ

और ही योजना बना रखी थी। औरंगजेब अपने भाई मुराद के साथ दिल्ली की ओर बढ़ा। उसका उद्देश्य दारा [illegible] था। मार्ग में ही उसे मुराद को भी समाप्त करने का अवसर मिल गया। मथुरा के निकट पहुँचते–पहुँचते मुराद और औरंगजेब में वैमनस्य पैदा हो गया। औरंगजेब ने वायदे के मुताबिक मुराद के साथ साम्राज्य का बँटवारा नहीं किया। इसके अतिरिक्त औरंगजेब की स्वेच्छाचारिता भी मुराद के लिए असहनीय बन रही थी। मुराद के इरादों को भाँपकर औरंगजेब ने धोखा देकर मुराद को गिरफ्तार कर लिया। उसे ग्वालियर के दुर्ग में कैद कर लिया गया। वहीं 1661 ई0 में मुराद की हत्या करवा दी गई। इस प्रकार गद्दी का एक और दावेदार और औरंगजेब का एक प्रतिद्वंद्वी समाप्त हो गया। मुराद की गिरफ्तारी के बाद दिल्ली पहुंच कर [illegible] जुलाई, 1658 ई0 को औरंगजेब ने अपने सम्राट् बनने की घोषणा कर दी, परंतु उसका विधिवत राज्याभिषेक जून, 1659 ई0 में हुआ।

इस प्रकार अपने सभी विरोधियों को समाप्त करके और अपने पिता को कैद करके औरंगजेब हिन्दुस्तान का बादशाह बना। इस युद्ध में औरंगजेब की सफलता के पीछे उसकी कूटनीतिक चतुराई, योग्य सेनापतित्व तथा चालाकी प्रमुख कारण थे। कुछ भी हुआ हो लेकिन मुगल इतिहास में यह प्रथम घटना थी बादशाह के जीवित रहते उसके ही पुत्र ने बादशाहत हथिया ली। शाहजहाँ इन परिस्थितियों में लगभग आठ साल जीवित रहा और एक बन्दी की जिन्दगी व्यतीत करता रहा। अन्त में 22 जनवरी, 1666 ई0 को इस संसार से विदा हो गया।

उत्तराधिकार के युद्ध में धार्मिकता की भूमिका :

शाहजहाँ के पुत्रों के बीच उत्तराधिकार का वह युद्ध, जिसने अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर मुगल साम्राज्य को हिला कर रख दिया, इतनी नाटकीय दिलचस्पी से भरा था कि एक के बाद एक उसके अनेक विवरण सामने आए, जिनमें विस्तृत सूचनाओं का संकलन है। इस युद्ध में धार्मिकता की भूमिका को लेकर आधुनिक इतिहासकार दो खेमों में बंट हुए हैं : एक वर्ग इसे धार्मिक सहिष्णुता और मुस्लिम धर्मान्धता के मध्य संघर्ष मानता है जबकि दूसरा इसे दो समुदायों के बीच जंग मानता है।

ब्रिटिश इतिहासकार लेनपूल इसे धार्मिक सहिष्णुता की पराजय मानते हैं जबकि प्रो० श्रीराम शर्मा इसे मुस्लिम धर्म की विजय मानते हैं। सर जदुनाथ सरकार की भी यही मान्यता है लेकिन औरंगजेब के राज्यारोहण के पश्चात् की नीतियों के आधार पर ऐसा कहा है। दूसरी तरफ वे इतिहासकार मध्यकालीन भारत के पूरे इतिहास को काफी हद तक दो समुदायों का संघर्ष समझते रहे हैं, उन्होंने इस उत्तराधिकार–युद्ध को एक निर्णायक मोड़ माना है। मौलाना शिबली, एम०ए० फारूकी एवं आई0एच0 कुरैशी जैसे इतिहासकारों ने अपनी पूरी विद्वता इसी तरह की व्याख्या में लगा दी : हिन्दू, जो अकबर की सहिष्णुता की नीति से फायदा उठा रहे थे, एक बोझ होते जा रहे थे, बल्कि मुसलमानों का उत्पीड़न भी कर रहे थे। दारा शिकोह इस्लामी राजनीतिक समुदाय का गद्दार था और उसने हिंदुओं को घुसपैठ की पूरी छूट देने की कोशिश की। इसलिए औरंगजेब ने मुसलमानों को एकजुट किया और [illegible] के लिए नहीं, बल्कि मूलतः मजहब के लिए लड़ा।

दूसरी ओर डॉ0 आर0पी0 त्रिपाठी जैसे इतिहासकार हैं जिन्होंने थोड़ा अलग से विचार किया है उन्होंने धर्म के उपयोग को [illegible] सीमा तक स्वीकार किया है जिस सीमा तक धर्म औरंगजेब–समर्थकों को युद्ध के लिए एकजुट करने में बना। उनके अनुसार यह भी आवश्यक समझा गया कि युद्ध के लिए एक असरदार नारा ढूँढा जाए और जो नारा बुलंद किया गया वह था दारा के धर्मद्रोही कारनामों से इस्लामी कानून की रक्षा, शाहजहाँ चाहे जीवित हो या न हो। सम्राट अगर जीवित मिला तो उसे उस मूर्तिपूजक के बंधनों और अत्याचारों से वे लोग मुक्त करा लेंगे। उन्होंने दंभपूर्वक अपने आपको इस्लाम के रक्षक का दर्जा दे डाला।

अलीगढ़ के प्रो0 एम0 अतहर अली ने इस पूरे प्रश्न पर दस्तावेजों के प्रकाश में विश्लेषणात्मक अध्ययन किया है जिसमें उन्होंने यह जानने का प्रयास किया है कि क्या औरंगजेब ने सचमुच राजसिंहासन हासिल करने के लिए 'इस्लाम खतरे में है' का नारा दिया था? उन्होंने अपने तर्कों को उत्तराधिकार युद्ध तक ही सीमित रखा है। विशेषतः शासक बनने के पश्चात् औरंगजेब की नीतियों को इससे अलग रखा है क्योंकि इसका उत्तराधिकार युद्ध से कोई सम्बन्ध नहीं था। उन्होंने यह जानने का प्रयास किया है कि क्या उत्तराधिकार युद्ध में औरंगजेब की कोई घोषित नीति थी जिसके लिए यह युद्ध लड़ा गया था।

प्रो0 अतहर अली ने एक निशान (शाहजादे द्वारा लिखा गया पत्र) का अध्ययन किया जिसे औरंगजेब ने मेवाड़ के राणा राज सिंह को भेजा था। इसमें उसकी हथेली की छाप है, और जाहिर है कि उसमें लिखी बातों को औरंगजेब बहुत अधिक महत्व देता था। राणा के प्रति अपनी सहानुभूति जताते हुए तथा मांडलगढ़ आदि जिन परगनों को शाहजहाँ ने उसके इलाके से अलग कर दिया था उन्हें उसे वापस देने का वचन देते हुए औरंगजेब ने निम्नलिखित घोषणा की :

"वह वफादार (यानी, राणा) हजारों शाही मेहरबानियों का हकदार बन गया है। चूँकि महान शासक ईश्वर की छाया होते हैं, इसलिए (शासकों के) इस श्रेष्ठ वर्ग का, जो उस महान (ईश्वरीय) दरबार के स्तंभ होते हैं, पूरा ध्यान इस पर होता है कि विभिन्न समुदायों और विभिन्न धर्मों के लोग शांति के साए में रहें और समृद्धि में अपने दिन गुजारें, और कोई भी किसी दूसरे के मामलात में दखल न दें। इस महिमामंडित समूह (अर्थात् शासक वर्ग) के किसी व्यक्ति ने भी अगर असहिष्णुता का सहारा लिया तो वह विवाद और टकराव तथा उस व्यापक जनता के लिए हानि का कारण बन गया जो कि वास्तव में ईश्वर से प्राप्त न्यास के समान है : वास्तव में ऐसे शासक ने ईश्वर की समृद्ध रचनाओं को तहस–नहस करने तथा ईश्वरीय संरचना की बुनियाद को नष्ट करने का कार्य किया, जो एक ऐसी आदत है कि उसे खारिज और समाप्त किया जाए। खुदा करे कि जब सच्चाई सामने आए और वफादार लोगों की इच्छाएँ पूरी हों (अर्थात् जब औरंगजेब तख्तनशीन हो) तो मेरे जो महान पूर्वज इबादतगुजारों के लिए इतने आदरणीय हैं, उनके श्रद्धायुक्त आचार–व्यवहारों तथा स्थापित नियमों के लाभ इस दुनिया को आबो–ताब बख्शेंगे।"

प्रो0 अतहर अली ने इस निशान की विषय–वस्तु के विश्लेषण के बाद लिखा है कि अगर यह निशान सत्ता के दावेदार की यह सफाई नहीं है कि वह अपने पूर्वजों की धार्मिक नीति को बदलने का कोई इरादा नहीं रखता, तो फिर और क्या है ? जो व्यक्ति उस समय धर्मयुद्ध के नारे दे रहा हो, क्या वह इतने जोरदार ढ़ंग से असहिष्णुता तथा धार्मिक भेदभाव के प्रयासों की निंदा कर सकता था? औरंगजेब ने यह घोषणा ईमानदारी से की या नहीं, यह अलग बात है। महत्व इस बात का है कि धर्म के सवाल पर जो देने के बजाय, वह खुद को स्थापित शाही नीति का तरफदार घोषित करके इस प्रश्न से बचना चाहता था।

इसके बाद प्रो0 अतहर अली ने सामूगढ़ युद्ध में दारा के विरुद्ध उठाए गए प्रश्नों का जवाब देते हुए लिखा है कि इस संबंध में यह जानना दिलचस्प है कि सामूगढ़ की लड़ाई में निर्णायक विजय से पहले औरंगजेब ने भी दारा शिकोह के खिलाफ धर्मद्रोह के आरोप को अधिक महत्व नहीं दिया था। यह सही है कि मुरादबख्श के साथ औरंगजेब के अहदनामे की भूमिका में दारा शिकोह की निंदा उसे 'धर्मद्रोहियों का सरदार' (रईसुल–मुलहिद) कह कर की गई है। एक इतिहासकार ने यह भी कहा है कि बुरहानुपर से कूच करने से पहले औरंगजेब ने बुरहानुपर के शैख अब्दुल लतीफ की दुआ इस आधार पर माँगी थी कि वह एक धर्मद्रोही से लड़ने जा रहा है। मगर ये सब औपचारिक घोषणाएँ थीं। अकील खान रजी जैसे औरंगजेब के समर्थक तक इन्हें गंभीरता से नहीं लेते। रजी अहदनामे की भूमिका का उल्लेख नहीं करता तथा कहीं भी अपने विवरण में दारा के धर्मद्रोह को युद्ध का कारण नहीं बतलाता। खुद औरंगजेब यह आरोप लगाते वक्त कितना गंभीर था, इसका पता उस पत्र से चलता है जो उसने धरमत की लड़ाई के बाद शाहजादी जहाँआरा से मिले पत्र के जवाब में लिखा था।

इस जवाब में दारा के द्वारा औरंगजेब के विरुद्ध किए जा रहे षडयंत्रों का जिक्र है। दारा किसी भी तरह से अपने विरोधी भाई को समाप्त कर देना चाहता था। प्रो0 अतहर अली के अनुसार दारा को धर्म विरोधी विशेषतः इस्लाम विरोधी घोषित किया जब उसकी हत्या करना आवश्यक था। उसकी हत्या ने औचित्य को सिद्ध करने के लिए ऐसा किया गया।

प्रो0 अतहर अली के अनुसार इतिहासकारों के उन तर्कों में भी कोई दम नहीं है जब वे कहते हैं कि अमीर वर्ग या राजसिंहासन के दावेदारों के व्यवहार से धार्मिक समुदायों में बँटे होने की पुष्टि होती है। ऐसे कोई प्रमाण नहीं मिलते जिससे यह प्रमाणित होता हो कि साम्राज्य के सारे मुसलमान औरंगजेब के साथ थे जबकि सारे राजपूत सरदार दारा की तरफदारी कर रहे थे। बल्कि प्रमाणों के अनुसार सभी धर्मों एवं कबीलों के अमीरों की भक्ति बंटी हुई थी। प्रो० अतहर अली ने पूरे आंकड़ों के अध्ययन के आधार पर यह बताने का प्रयास किया है कि 23 हिन्दू अमीर औरंगजेब के साथ थे जबकि 24 हिन्दू मनसबदार दारा का साथ दे रहे थे। उनके अनुसार धार्मिक आधार पर अमीर बंटे हुए नहीं थे।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उत्तराधिकार के युद्ध में धर्म के नारे का उपयोग नहीं किया गया था बल्कि विशुद्ध रूप से राजनीतिक युद्ध था एवं राजसिंहासन प्राप्त करने के लिए युद्ध था।

क्या उत्तराधिकार के युद्ध के कारण से राज्य के चरित्र में कोई अन्तर आया था ?

उत्तराधिकार के युद्ध के कारण से राज्य के चरित्र में कोई अन्तर नहीं आया था। इस कथन के समर्थन में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं। प्रथम, युद्ध के दौरान औरंगजेब द्वारा मेवाड़ के महाराणा राज सिंह को जो निशान लिखा गया था वह उसका वास्तव में घोषणा पत्र था जिसमें उसने बादशाह को ईश्वर की छाया बताया है एवं उसके दायित्वों में सभी समुदायों एवं विभिन्न धर्मों के लोगों को सुख शान्ति से जीवन गुजारने देना था।

द्वितीय, औरंगजेब ने शासक वर्ग के प्रतिनिधि द्वारा असहिष्णु नीति अपनाने का विरोध किया क्योंकि इससे टकराव की स्थिति बन सकती है जिससे जनता की हानि हो सकती है।

तृतीय, उसने अपने पूर्वज शासकों की नीति को जारी रखने का वादा किया। उसने महाराणा राजसिंह को स्थापित शाही नीति से न हटने का वचन दिया।

चतुर्थ, औरंगजेब ने युद्ध के दौरान किसी भी समुदाय के विरुद्ध कोई नारा नहीं दिया था इसीलिए दारा के साथ 24 हिन्दू अमीर की तुलना में उसके साथ 23 हिन्दू अमीर थे। इन मामलों में दोनों में लगभग समानता थी।

पंचम, सामान्यतः आधुनिक इतिहासकार औरंगजेब की राज्यारोहण के काफी सालों की बाद की नीतियों की (1680 ई0 क बाद) तुलना राज्यारोहण के तत्काल बाद की परिस्थितियों से करने की भूल करते हैं एवं इसी आधार पर राज्य के चरित्र में बदलाव की बात करते हैं। यह बात कुछ सीमा तक सही है कि सिंहासन हासिल करने की औरंगजेब की कोशिशों में किसी भी हिंदू–विरोधी या राजपूत विरोधी झुकाव का अभाव उन सभी को हैरान करता है जो उसकी बाद की धार्मिक नीति, मंदिरों का विनाश, जजिया 1680 ई0 में मारवाड़ और मेवाड़ के साथ युद्ध आदि पर ही ध्यान केन्द्रित करते हैं। पर उसके शासनकाल का कोई भी सजगतर छात्र इस पर अधिक ध्यान देगा कि उत्तराधिकार–युद्ध के फौरन बाद क्या हुआ था। जहाँगीर द्वारा 1606 ई0 में मानसिंह को बंगाल से वापस बुलाए जाने के बाद फिर कभी कोई अहम सूबेदारी किसी राजपूत को नहीं दी गई थी। औरंगजेब ने महाराजा जय सिंह को दक्कन का अस्थाई और वास्तविक वायसराय बनाया, जो कि समूचे साम्राज्य के संभवतः सबसे महत्वपूर्ण पदों मे स एक था जसवंत सिंह को दो बार गुजरात का सूबेदार बनाया गया। अकबर की मृत्यु के बाद कभी भी कोई हिन्दू मुगल साम्राज्य का दीवान (वित्त मंत्री) नहीं हुआ था। अब औरंगजेब ने राजा रघुनाथ को इस पद पर नियुक्त किया। बनारस का प्रसिद्ध फरमान जो राज सिंह के नाम भेजे गए उस निशान में दिए गए वचन के पालन का गवाह है, जिसके अनुसार कोई भी किसी के धर्म म दखल नहीं देगा।

औरंगजेब की नीति बाद में वर्षो में किन परिस्थितियों में बदली इसका अध्ययन आवश्यक है लेकिन इस प्रश्न से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उत्तराधिकार युद्ध के कारण से राज्य के चरित्र म तत्काल कोई बदलाव नहीं आया बल्कि अकबर द्वारा स्थापित नीतियों का ही पालन होता रहा।

उत्तराधिकार के युद्ध में अन्ततः औरंगजेब विजयी हुआ एव मुगल सिंहासन पर बैठा। हालाकि उसके विरुद्ध पूरी शाही शक्ति लगी हुई थी जिसमें साम्राज्य के बड़े–बड़े मनसबदार एवं स्वयं मुगल बादशाह सम्मिलित था। शाहजहाँ ने दारा को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करके उसके समर्थन में माहौल बना दिया था लेकिन फिर भी उसको पराजय का मुँह देखना पडा एव अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ा। इसलिए यह जानना अति आवश्यक है कि इस युद्ध में औरंगजेब को सफलता मिलन के पीछे क्या कारण थे डॉ0 कामेश्वर प्रसाद ने औरंगजेब की सफलता के कारणों को उजागर किया है जो निम्न है

एक, गद्दी के सभी दावेदारों में सबसे योग्य औरंगजेब ही था। कूटनीति, प्रशासनिक संगठन, राजनीति और सैन्य संचालन में वह अपने सभी भाइयों की अपेक्षा अधिक योग्य था। अपने प्रतिद्वंद्वियों को भुलावा देकर अपने जाल में फँसा लेने की कला वह बखूबी जानता था। उसकी बातों पर विश्वास कर ही मुराद ने उसका साथ देना स्वीकार किया था, परंतु अंत में उसे निराशा ही हाथ लगी। दक्षिण के सूबेदार के रूप में उसने प्रशासकीय एवं राजनीतिक अनुभव भी प्राप्त कर लिया था। वह स्वय साहसी और वीर तो था ही उसने अनेक सैनिक अभियानें के दौरान सैन्य संचालन और व्यूह रचना का पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर लिया था उसक सैनिक अनुभव धरमत और सामूगढ़ के युद्ध में उसे विजय दिलाने में निर्णायक सिद्ध हुए। औरंगजेब ने अपना प्रत्यक कदम सोच–समझ कर उठाया। उसने कभी भी यह प्रकट नहीं किया कि वह आगरा पर अधिकार करने जा रहा है उसने यही कहा कि वह अपने बूढ़े और बीमार पिता को देखने जा रहा है। उसकी इस घोषणा से राज्य के प्रभावशाली सरदारों का समर्थन और सहानुभूति उसे प्राप्त हो गई। किसी ने उसका विरोध नहीं किया। स्वयं शाहजहाँ भी धोखे में रहा। इस प्रकार, सब को भुलावे में रखते हुए औरंगजेब अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हुआ। औरंगजेब की सेना भी दारा की अपेक्षा अधिक सुसगठित थी।

दो, औरंगजेब को सफलता दिलाने में उसकी धार्मिक नीति ने भी सहयोग दिया। वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था। मुराद भी उसकी नीति का समर्थन करता था, इसलिए वह औरंगजेब से मिल गया। दारा उदार और धार्मिक सहिष्णु प्रवृत्ति का था। शिया मतावलंबी होते हुए भी वह अन्य समप्रदायों के प्रति उदार दृष्टिकोण रखता था। उसका हिंदुओं से भी घनिष्ठ संबंध था। शाहजहाँ की धार्मिक

नीति भी दारा से मिलती–जुलती थी। वह दारा का सदैव समर्थन करता था। इससे प्रभावशाली मुगल सरदारों और कट्टरपंथी मुसलमानों के बीच प्रतिक्रिया हुई। वे दारा को सम्राट् के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। इसलिए, उन लोगों ने औरंगजेब का ही साथ दिया। दारा को हिंदुओं का समर्थन प्राप्त था, परंतु उन लोगों ने उत्तराधिकार के मामले में विशेष दिलचस्पी नहीं ली। इसके विपरीत औरंगजेब कट्टरपंथियों की धार्मिक भावनाओं को उभार कर उन्हें अपने पक्ष में करने और उनका समर्थन प्राप्त करने में भी सफल हुआ था।

लेकिन डॉ0 प्रसाद द्वारा बताया गया यह तर्क सही प्रतीत नहीं होता। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि औरंगजेब ने अपनी नीति उदयपुर के महाराणा राज सिंह को लिखे गए निशान में स्पष्टतः रेखांकित कर दी थी। इस निशान में उसने साफ तौर लिखा था कि अगर वह सम्राट बनता है तो वह अपने पूर्वजों की नीति का पूर्णतः पालन करेगा। इसका सीधा अर्थ था कि वह अकबर द्वारा स्थापित धार्मिक नीति, जिसका अनुसरण जहाँगीर एवं शाहजहाँ ने किया, वह भी पालन करेगा। उसमें यह भी लिखा था कि वह सभी समुदायों एवं धर्मों का पूर्ण सम्मान करेगा। डॉ0 प्रसाद का यह तर्क भी सही नहीं लगता कि दारा की सहिष्णु नीतियों के कारण हिंदू अमीरों का उसे समर्थन प्राप्त था। इसके विपरीत औरंगजेब को भी लगभग उतने ही हिंदू जमींदारों का समर्थन प्राप्त था जितना दारा को था। इसके अतिरिक्त औरंगजेब को मुस्लिम कट्टरपंथियों के समर्थन की बात में भी दम नहीं है क्योंकि आँकड़ों से यह बात प्रमाणित नहीं होती। इसके अतिरिक्त राज्यारोहण के तत्काल पश्चात् लागू की गई नीतियों से यह बात प्रमाणित नहीं होती। यही तर्क प्रो0 अतहर अली ने अपने ग्रन्थ में दिया है।

तीन, औरंगजेब के सभी प्रतिद्वंद्वी– दारा, शुजा और मुराद– वीर और साहसी होते हुए भी राजनीतिक, प्रशासनिक अथवा सैनिक गुणों में औरंगजेब की बराबरी नहीं कर सकते थे। दारा उदार, धर्मसहिष्णु और विद्वान होते हुए भी सर्वथा अयोग्य, अदूरदर्शी, अनुभवहीन, दम्भी और क्रोधी था। अत्यधिक लाड़–प्यार और सदा चाटुकारों से घिरे रहने की वजह से वह कूटनीति और सैन्य–संचालन में निपुण नहीं था। वह औरंगजेब की तरह दूरदर्शी और कूटनीतिज्ञ भी नहीं था। घबड़ाहट में उसने अनेक कदम ऐसे उठाए जो अंततः उसी के लिए घातक सिद्ध हुए। धरमत और सामूगढ़ में दुर्बल सैन्य–संचालन के कारण ही उसकी हार हुई। औरंगजेब द्वारा आगरा पर अधिकार कर लेने के बाद वह स्वयं ही मैदान छोड़ कर भाग खड़ा हुआ। हिम्मत बटोर कर उसने मुकाबला करने का साहस नहीं जुटाया। इससे औरंगजेब की हिम्मत बढ़ गई। शुजा भी औरंगजेब का मुकाबला करने की स्थिति में नहीं था। वह अत्यधिक विलासी प्रवृत्ति का था। उसने अकेले ही तीनों भाइयों के विरुद्ध विद्रोह कर भूल की। अगर उसने दारा का साथ दिया होता तो परिस्थिति दूसरी रहती। पुनः आरंभिक पराजय के पश्चात् ही वह निष्क्रिय हो गया। उसने अपनी शक्ति संगठित करने का कोई प्रयास नहीं किया। मुराद, यद्यपि औरंगजेब के साथ था, परंतु अपनी नादानीवश उसने औरंगजेब की स्थिति मजबूत कर दी और अपनी स्थिति अत्यंत दुर्बल बना ली। एक साहसी और वीर सेनानायक होते हुए भी उसकी विलासिता, शराबखोरी और अदूरदर्शिता उसे ले डूबी। इस प्रकार, औरंगजेब के सभी प्रतिद्वंद्वी अपने व्यक्तिगत और चारित्रिक कमजोरियों तथा सैनिक भूलों के कारण उससे पराजित हुए।

चार, उत्तराधिकार के युद्ध में औरंगजेब की सफलता एवं दारा और शुजा की विफलता के लिए स्वयं शाहजहाँ भी जिम्मेदार था। बीमार पड़ने और अपनी मृत्यु को निकट देख कर उसने अपने प्रिय पुत्र दारा को अपना उत्तराधिकारी तो घोषित कर दिया, परंतु उसकी स्थिति को सुदृढ़ करने का कोई प्रयास नहीं किया। दारा ने भी इस अवसर पर समाचारों के बाहर जाने और आवागमन को रोक कर सभी प्रतिद्वंद्वियों में बेचैनी और आशंका फैला दी। उसने प्रशासन पर भी नियंत्रण स्थापित कर लिया। बीमारी से ठीक होने के बाद भी शाहजहाँ ने इन गलतियों को सुधारने का कोई प्रयास नहीं किया। इतना ही नहीं, उसने स्वयं प्रभावशाली ढंग से प्रशासन पर नियंत्रण करने एवं विद्रोही पुत्रों को दबाने का कोई प्रयास नहीं किया। अगर दारा के स्थान पर शाहजहाँ स्वयं राजधानी की सुरक्षा के लिए सेना लेकर तैयार हो जाता, तो संभवतः मुगल इतिहास की धारा दूसरी होती, परंतु अपनी निष्क्रियता और निराशा के वशीभूत होकर उसने स्वयं और मुगल साम्राज्य को भाग्य के हवाले कर दिया। शाहजहाँ ने स्वयं अपने लिए कैद एवं औरंगजेब के लिए राजसिंहासन स्वीकार कर लिया।

अध्याय-12

मुगल साम्राज्य का विघटन एवं पतन

साम्राज्य का उत्थान एवं पतन एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसकी तुलना व्यक्ति के जीवन से की जा सकती है। जिस प्रकार एक सामान्य बालक का जन्म होता है, वह जवानी की दहलीज को पार करके वृद्धावस्था तक पहुँच कर मृत्यु को प्राप्त करता है। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। फिर भी मृत्यु एक अवस्था है जिसके कई कारण हो सकते हैं। डॉक्टर उसकी मृत्यु का कारण कोई बीमारी बताते हैं जबकि परिवारजन मृत्यु के कई कारण बताते हैं। उसके साथी अलग प्रकार के कारणों की तलाश करते हैं। ठीक इसी प्रकार साम्राज्य का उदय, उत्थान एवं पतन होता है। विश्व भर में एक साम्राज्य के उदय एवं पतन के पश्चात दूसरे का उदय एवं पतन हुआ। इस प्रकार इतिहास के लंबे दौर में यह सिलसिला चलता रहा एवं असख्य साम्राज्यों का उदय एव अन्त हुआ। इसके पश्चात् इतिहासकारों का कार्य है कि वे किसी भी साम्राज्य के पतन के कारणों का पता लगाएँ। वे परिस्थितियों के विश्लेषण के द्वारा कई कारणों की खोज करते हैं। इस प्रकार पतन के कारणों को लेकर कई मत उभरते हैं। कई इतिहासकार व्यक्ति का पतन का कारण बताता है तो कोई इसके पीछे सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक कारण ढूँढता है। किसी का आधार व्यक्ति केन्द्रित तो किसी का वस्तुनिष्ठ होता है। समय के साथ–साथ नए–नए तक्र उभर कर सामने आते हैं एव इस प्रकार खोज का यह सिलसिला आगे बढ़ता रहता है।

मुगल साम्राज्य के पतन को लेकर आजादी पूर्व से लेकर अब तक इसके कारणों को लेकर इतिहासकारों के मध्य बहस चल रही हैं। मुगल साम्राज्य के पतन का प्रश्न अभी भी एक गंभीर विवाद बना हुआ है। कुछ इतिहासकार औरंगजेब को पतन के लिए जिम्मेदार ठहराते हैं तो कुछ इसके कारण आर्थिक परिस्थितियों में ढूँढ़ते हैं। मुगल साम्राज्य के पतन के लिए आधुनिक इतिहासकारों के विचार जानने से पूर्व साम्राज्य में पनप रही परिस्थितियों को जानना आवश्यक है जिन्होंने साम्राज्य के विघटन एव बिखराव की शुरूआत कर दी।

सन् 1681 ई0 के पश्चात् औरंगजेब दक्षिण अभियान पर गया एवं वहीं उलझ गया। साम्राज्य की विशाल सेना उसके साथ थी एवं मनसबदार उसकी सेवा में थे। दक्षिण की राजनीति अत्यन्त जटिल होती जा रही थी एवं मुगल बादशाह के लिए उत्तर भारत की ओर ध्यान देना मुश्किल हो रहा था। इसके परिणामस्वरूप उत्तर भारत का प्रशासन शिथिल पड़ गया एवं विभिन्न क्षेत्रों से विद्रोह के समाचार आने लगे जिनके कारण साम्राज्य की नींव कमजोर होती जा रही थी। उत्तर–पश्चिमी क्षेत्रों में अफगान कबीलों ने, पंजाब में सिखों, मथुरा में जाटों एवं नारनौल और मेवात में सतनामियों का विद्रोह हुआ। इसी प्रकार बुन्देलखण्ड में बुन्देलों, राजपूताना में राजपूतों एवं दक्षिण में मराठों ने लंबे समय तक मुगल सत्ता को चुनौती दी। सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि ये सभी विद्रोह औरंगजेब की नई धार्मिक नीति की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप एसं उसकी दक्षिण नीति के कारण हुए, परन्तु वास्तविकता कुछ अलग ही थी। सभी विद्रोहों का स्वरूप एवं उनके मूल कारण अलग–अलग थे। इनमें राजनीतिक कारण प्रमुख थे, धार्मिक नहीं। सभी विद्रोह क्षेत्रीय स्वरूप के थे। ये कभी व्यापक नहीं बन सके।

जाटों का विद्रोह

मथुरा एवं आगरा में जाट किसानों का बाहुल्य था। इस क्षेत्र में जाट जमींदार भी काफी संख्या में थे जिनके हितों की टकराहट जागीरदारों एवं मुगल अधिकारियों के साथ होती रहती थी। ये लोग अपने हितों के लिए अपनी बिरादरी के किसानों से सहयोग लेते रहते थें इन क्षेत्रों में किसानों के विद्रोह होते ही रहते थे। सन् 1669 ई0 में जाट किसानों ने तिलपत के जमींदार के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। इस क्षेत्र के सारे जाटों ने चारों ओर लूटमार करके आतंक का वातावरण पैदा कर दिया एवं मुगल फौजदार की हत्या कर डाली। उनके कार्यो से पूरे मथुरा क्षेत्र में अशांति व्याप्त हो गई। इसलिए, औरंगजेब को उधर ध्यान देना पड़ा वह स्वयं दिल्ली से मथुरा गया। मथुरा के नए फौजदार हसन अली खाँ के नेतृत्व में सेना ने जाटों का दमन आरंभ किया। तिलपत के नजदीक जाटों और मुगल सेना के बीच भीषण युद्ध हुआ जिसमें जाट पराजित हुए। उनका नेता गोकला पराजित होकर बंदी बना लिया गया। बाद में उसकी हत्या करवा दी गई। अनेक जाटों की हत्या कर दी गई। गोकला के परिवार के सदस्यों एवं

अन्य जाटों को अपना धर्म परिवर्तन करने के लिए बाध्य किया गया। इस प्रकार, कठोर उपायों का सहारा लेकर गोकला का विद्रोह दबा दिया गया।

जाटों के इस दमन एवं हत्याकाण्ड का उनकी गतिविधियों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। एक बार कुछ समय के लिए उनकी विद्रोही कार्यवाहियां दब अवश्य गई लेकिन सरकार के विरुद्ध उनकी भावनाओं में कोई कमी नहीं आई। विरोध की आग उनके भीतर सुलग रही थी। 1680 ई0 में वह आग फिर से भड़क गई। इस समय औरंगजेब के दक्षिण में व्यस्त होने का भी लाभ उठाया। इस बार उन्होंने पूरी तैयारी की। इस बार उनका नेतृत्व राजाराम एवं उसके भतीजे चूड़ामन के हाथ में था एवं विद्रोह के केन्द्र सिनसीनी एवं सौंधी क्षेत्र थे। उन्होंने जाटों को सैनिक पद्धति पर संगठित किया। जाट छापा मारकर, लूट–खसोट कर मुगलों को परेशान करने लगे। उन लोगों ने आगरा तक लूट–खसोट की तथा सिकंदरा स्थित अकबर के मकबरे को भी लूट लिया। औरंगजेब ने कछवाहा राजा बिशन सिंह को मथुरा का फौजदार बनाया। उसने जाटों का दमन करना आरंभ किया। 1688 ई0 में राजाराम और मुगल सेना में संघर्ष के दौरान राजाराम की हत्या कर दी गई एवं सिनसीनी पर 1690 ई0 में राजा बिशन सिंह का आधिपत्य हो गया। इसके एक साल बाद ही सौंधी पर भी उसका आधिपत्य हो गया। इसके बाद चूड़ामन के हाथों में पूर्ण नेतृत्व आ गया जिसने विद्रोह जारी रखा। औरंगजेब दक्षिण के कारण उधर बिलकुल ध्यान नहीं दे पाया एवं उसकी मृत्यु के बाद तो उनके हौसले बहुत बढ़ गए। अन्त में भरतपुर में जाट राज्य की स्थापना के रूप में जाटों को सफलता मिली। इस प्रकार जाट राज्य की स्थापना मुगल साम्राज्य के विघटन को दर्शानेवाली है।

इन विद्रोहों का कारण औरंगजेब की धार्मिक नीति तो निश्चित ही नहीं बल्कि इसके पीछे किसानों एवं जमींदारों का आर्थिक हित अधिक था। किसानों पर करों का बोझ अत्यधिक था जो उनके लिए असहनीय होता जा रहा था। दूसरी तरफ जमींदार वर्ग भी मुगल प्रशासन से नाराज थे क्योंकि भू–राजस्व में उनकी हिस्सेदारी घटती जा रही थी। इससे भी बड़ी बात इस समय की राजनीतिक परिस्थितियों का लाभ उठा कर वे अपनी जमींदारी क्षेत्रों का विस्तार करना चाह रहे थे। अपने हित साधन के लिए वे किसानों के असन्तोष को भड़का रहे थे। इससे मुगल साम्राज्य की नींव तो निश्चित ही हिल रही थी एवं साम्राज्य विघटन की ओर बढ़ रहा था।

सतनामियों का विद्रोह

सतनामियों का विद्रोह 1672 ई0 में हुआ जिसे कई इतिहासकारों ने इसे मुगलों के विरुद्ध हिन्दुओं का प्रतिरोध बताया है जो सही नहीं है। इसका कारण सतनामी सम्प्रदाय की प्रकृति है। इस सम्प्रदाय की स्थापना 1657 ई0 में नारनौल के एक निवासी ने की थी। ये लोग एकेश्वरवाद में विश्वास करते थे और जाति, कर्म–काण्ड आदि में उनकी कोई आस्था नहीं थी। इन लोगों को दूसरे के दान पर निर्भर रहना मना था। यद्यपि वे संन्यासियों की तरह रहते थे लेकिन या तो वे खेती करते थे या छाटे पैमाने पर व्यापार करते थे। वे स्वाभिमानी इतने थे कि किसी का अन्याय उनके लिए असहनीय था। एक समकालीन लेखक ने इस समुदाय के बारे में लिखा है कि "अपने पंथ के रिवाजों के अन्तर्गत वे मुसलमानों एवं हिन्दुओं को अलग नहीं करते और सूअर का मांस व अन्य अरुचिकर चीजें खाते हैं। वे सभी विद्रोहों में शामिल होते हैं, यहाँ तक कि प्रत्यक्षतः भी वे अधिकारियों के प्रति अधिक आज्ञाकारी नहीं थे।" 1672 ई0 में सतनामियों का विद्रोह एक ग्रामीण झगड़े से शुरू हुआ। एक सतनामी कृषक और एक मुगल सैनिक में झगड़ा हो गया। सैनिक ने सतनामी का सिर फोड़ दिया तब कई सतनामियों ने इकट्ठे होकर सैनिक को पीटा। जब नारनौल के फौजदार को यह खबर मिली तो उसने कुछ और सैनिक भेजे, जिन्हें सतनामियों द्वारा मार कर भगा दिया गया। नारनौल को सतनामियों ने लूट लिया। खतरे की गंभीरता को समझ कर औरंगजेब ने सेना की सहायता से सतनामियों का क्रूरतापूर्वक दमन किया। सतनामी मुगल सेना के समक्ष टिक नहीं सके। उन्हें आत्म–समर्पण करना पड़ा। हजारों सतनामी मारे गए। उनका विद्रोह कुचल दिया गया। लेकिन उनकी वीरता का वर्णन खाफी खाँ करता है। वह लिखता है कि यद्यपि सतनामियों के पास केवल तलवारें, भाले, तीर एवं लाठियां ही थीं लेकिन फिर भी वे ऐसी वीरता से लड़े कि उन्होंने महाभारत के प्रसिद्ध युद्ध के दृश्य दुबारा स्मरण करा दिये। करीब 2000 सतनामी युद्ध में मारे गये और बाकी सतनामियों ने आतंकित होकर आत्म–समर्पण कर दिया तथा नारनौल व बैराठ में उनकी शक्ति समाप्त कर दी गयी।

छत्रसाल बुन्देला का विद्रोह

बुन्देलों एवं औरंगजेब के मध्य संघर्ष अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने एवं साम्राज्य विस्तार के मध्य है। ओरछा बुन्देलखण्ड में एक छोटी सी रियासत थी जिस पर बुन्देलों का राज था। जहाँगीर के साथ इनके मधुर सम्बन्ध थे। धीरे–धीरे औरंगजेब के समय बिगड़ने

आरम्भ हो गए। वे अपने राज्य पर अपना वंशानुगत अधिकार कायम रखना चाहते थे एवं औरंगजेब उसको मुगल साम्राज्य का अंग बनाना चाहता था। तत्कालीन समय के शासक चंपतराय ने मुगल बादशाह के विरुद्ध विद्रोह करने का प्रयास किया लेकिन वे अपने ही लोगों से धोखा मिलने पर आत्म–हत्या कर ली।

इसके पश्चात् उसके पुत्र छत्रसाल बुन्देला के समय औरंगजेब के साथ संघर्ष का एक नया अध्याय शुरू होता है जिसके कारण से बुन्देलखण्ड में मुगल बादशाह को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। विद्रोह से पूर्व छत्रसाल ने बुद्धि से काम लिया उसने सबसे पहले मुगलों के विरुद्ध बुन्देलखण्ड में मोर्चा बनाने का प्रयास किया जिसमें सफलता न मिलने पर बुन्देला नायक छत्रशाल एवं उसके भाई अंगद ने मुगल सेवा स्वीकार कर ली। इसके पश्चात् उन्होंने 1665 ई० में बीजापुर आक्रमण में वीरता दिखाई लेकिन इस महत्वपूर्ण सेवा के बदले जो पुरस्कार मिला वह उनके स्तर के अनुकूल नहीं था। इसे उन्होंने अपना अपमान समझा। छत्रसाल मुगल सेवा त्यागकर शिवाजी के पास चला गया। लेकिन मराठा नायक की ही सलाह पर वह बुन्देलखण्ड लौट आया एवं औरंगजेब के विरुद्ध मोर्चा बनाने लगा। इस बार उसे सफलता मिली। अपने पिता के पुराने सेनानायक एवं अन्य लोग उसके साथ हो गए इस प्रकार उसने एक मजबूत संगठन बना लिया। उसने कई क्षेत्रों पर अपना आधिपत्य भी स्थापित कर लिया जिनमें पन्ना भी था पन्ना को उसने अपने राज्य की राजधानी बना लिया।

छत्रसाल की बढ़ती लोकप्रियता एवं उसकी विद्रोही गतिविधियों ने शीघ्र ही औरंगजेब का ध्यान आकर्षित किया एवं कई सैनिक अभियान भेजे। हालाँकि इन युद्धों में छत्रसाल की हार हुई लेकिन उसने कूटनीति का सहारा लेते हुए हर बार आत्म–समर्पण कर दिया। लेकिन फिर विद्रोह कर देता। अन्त में उसने मुगल सेवा स्वीकार कर ली एवं पन्ना को उसके मनसब में दे दिया गया उसे राजा की पदवी भी दी गई। 1731 ई0 में उसने अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की जिसकी राजधानी पन्ना थी।

छत्रसाल बुन्देला के विद्रोह की एक सबसे बड़ी विशेषता थी कि उसने इस क्षेत्र के सभी असन्तुष्ट जमींदारों का मुगलों के विरुद्ध संगठित कर लिया था। बुन्देलों के इस विद्रोह के कारण से मुगल साम्राज्य विघटन की ओर तेजी से बढ़ा।

सिक्खों का विद्रोह

औरंगजेब के काल में सिक्खों के विद्रोह से पूर्व इस विद्रोह की जड़ें जहाँगीर के काल तक पहुंचती है। सम्बन्धों में कड़वाहट का मुख्य कारण राजनीतिक था। जहाँगीर के विरुद्ध उसके पुत्र खुसरो के विद्रोह को सिक्खों के गुरू अर्जुन देव द्वारा सहायता दिया था। इस कारण से मुगल बादशाह सिक्ख गुरू से नाराज हो गया एवं इतिहासकारों के अनुसार उसको यातनाएँ दी गई जिस में उसका वध करवा दिया गया। इस हत्या के पीछे शुद्ध राजनीतिक कारण था क्योंकि कोई भी मध्यकालीन शासक राजा के विरुद्ध इस प्रकार की हरकत बर्दाश्त नहीं कर सकता था।

गुरू अर्जुन के पश्चात् उसका पुत्र हरगोविंद सिक्ख गुरू बना एवं उसने पिता के आदेश क अनुसार शस्त्र धारण कर लिए मुगल काल की यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। एक धार्मिक पंथ के गुरू का शस्त्रबद्ध होना उस पंथ के मूल चरित्र को ही बदलने वाला था। वह भी पंथ के गुरू की हत्या की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। इस प्रकार सिक्ख धर्म का यह एक नया जन्म था।

गुरू हरगोविंद ने अपने धर्म एवं पंथ की रक्षा के लिए शस्त्र एकत्रित करने प्रारंभ कर दिए। धीरे–धीरे उन्होंने एक सेना खड़ा कर ली। इसकी सूचना बादशाह को मिली। इसी सेना के बल पर मुगलों से संघर्ष की तैयारी चल रही थी। भूमि के विवाद को लेकर एक बार जालंधर के सूबेदार एवं सिक्खों की सेना में युद्ध हुआ जिसमें गुरू हरगोविंद की विजय हुई। इससे सिक्ख सैनिकों के हौसले तो बढ़ गए लेकिन मुगलों के साथ युद्ध की संभावनाएं भी तेजी से बढ़ गई। बाद में शाहजहाँ के समय में हरगोविंद और मुगल सैनिकों के बीच अमृतसर के निकट 1628 ई0 में युद्ध हुआ जिसमें वह अंततः पराजित हुआ। हरगोविंद ने भाग कर कश्मीर में शरण ली। वहीं उसकी 1645 ई0 में मृत्यु हुई।

गुरू हरगोविंद ने अपने स्वर्गवास के पूर्व अपने पोते एवं होने वाले उत्तराधिकारी हरराय को यह सीख दी कि उस हर समय अपने साथ एक घुड़सवार सेना रखनी चाहिए जो उसकी दुश्मनों से रक्षा करने में समर्थ हो। 1645 ई0 में गुरू हरराय बने। उत्तराधिकार युद्ध में पराजित दारा ने सिक्ख गुरू से सहायता की मांग की जिसका अनुकूल उत्तर मिला। सत्ता सम्भालने के साथ ही औरंगजेब ने सिक्ख गुरू को दण्ड देना चाहा। वह एक मननशील और शान्तिप्रिय गुरू थे। युद्ध में उन्हें विशेष रूचि नहीं थी वह एकान्तवासप्रिय और धार्मिक प्रवृत्ति के थे इसलिए, उनके समय में सामान्यतः शान्ति का वातावरण बना रहा। इस कारण से

शान्तिपूर्वक सुलझाने के लिए गुरू ने अपने पुत्र रामराय को औरंगजेब के पास बंधक के रूप में रखना पड़ा। 1661 ई0 में हरराय की मृत्यु हुई।

गुरू हरराय के स्वर्गवास के पश्चात् उसका अवयस्क पुत्र गद्दी पर बैठा लेकिन इस बार उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर सिक्खों में विवाद खड़ा हो गया। सिक्ख गुरू की गद्दी का दूसरा दावेदार रामराय था जिसने औरंगजेब से इस सम्बन्ध में सहायता की मांग की। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण कदम था। सिक्ख धर्म के मामले में एक ऐसे मुगल शासक को आमंत्रित किया जिनके साथ सम्बन्ध काफी कटुतापूर्ण थे। परिस्थितियों के कारण औरंगजेब सहायता नहीं कर पाया। इसी दौरान हरकिशन की मृत्यु 1664 ई0 में हो गई। औरंगजेब तत्काल ही सिक्खों के मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सका। उधर तेगबहादुर अधिकाँश सिक्खों का समर्थन प्राप्त कर गुरू की गद्दी पर आसीन हो गया। गुरू तेगबहादुर के समय परिस्थितिवश मुगल–सिक्ख सम्बन्ध पुनः कटु हो गए। इस कटुता के अनेक कारण थे। गुरू तेगबहादुर के गद्दी पर बैठने के बाद भी रामराय अपनी पराजय को भूला नहीं था। वह औरंगजेब को तेग बहादुर के विरुद्ध भड़काया करता था। गुरू तेग बहादुर की बढ़ती लोकप्रियता को भी औरंगजेब नजरअन्दाज नहीं कर सकता था। इसके साथ–साथ अफगानों के साथ मिलकर तेग बहादुर ने पंजाब में मुगलों के विरुद्ध उत्पात मचा रखा था। औरंगजेब इस प्रवृत्ति को बढ़ने नहीं देना चाहता था। अतः रामराय के दबाव में आकर उसने तेग बहादुर को दिल्ली दरबार में बुलवाया। राजा जय सिंह के व राजा रामसिंह के हस्तक्षेप के कारण औरंगजेब गुरू के विरुद्ध कोई कठोर कदम नहीं उठा सका। राम सिंह उसे अपने साथ आसाम ले गए जहाँ उन्होंने युद्ध में उसकी सहायता की। आसाम से वापस लौट कर उन्होंने आनन्दपुर को अपना निवास बनाया।

गुरू तेग बहादुर की गतिविधियों से औरंगजेब सशंकित हो गया। मुगल बादशाह उनकी गतिविधियों को राज्य के लिए खतरनाक मान रहा था। इन बातों को लेकर शीघ्र ही औरंगजेब और गुरू तेग बहादुर के सम्बन्ध पुनः कटु हो गए। इसका मूल कारण यह था कि गुरू ने काश्मीर के प्रान्तीय प्रशासक के धार्मिक अत्याचारों का विरोध किया और वहाँ के ब्राह्मणों को इस विरोध के लिए उत्साहित किया। यह भी कहा जाता है कि गुरू तेग बहादुर ने कुछ मुसलमानों को सिक्ख भी बना लिया। इससे औरंगजेब पुनः क्रुद्ध हो उठा। उसने गुरू को पकड़वा कर दिल्ली मँगवाया। उन पर इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए दबाव डाला गया। उनके इन्कार करने पर उन्हें उनके पाँच अनुयायियों सहित 1675 ई0 में मार डाला गया। सिक्खों का मुगलों के प्रति दृष्टिकोण और अधिक कठोर हो गया। वे बदला लेने के लिए सैनिक रूप में तेयारी करने में जुट गए।

यह बात निश्चित है कि गुरू तेग बहादुर की हत्या के पश्चात् मुगलों एवं सिक्खों में शत्रुता और अधिक बढ़ गई। हालांकि औरंगजेब ने गुरू की हत्या के पीछे राजनीतिक कारण बताने का प्रयास किया। उसके अनुसार सिक्खों को संगठित करना एवं उन्हें शस्त्रबद्ध करके सैनिक शिक्षा देना अपराध है लेकिन उसका यह तर्क सही नहीं प्रतीत होता। गुरू तेग बहादुर की हत्या के पीछे निश्चित ही धार्मिक कारणों की ज्यादा अहम भूमिका थी। इसमें मुगल बादशाह धार्मिक कट्टरता के अभियोग से बच नहीं सकता।

गुरू तेग बहादुर के बाद गोविन्द सिंह इसके गुरू बने। उन्होंने जाति–पाँति के भेदों को मिटा कर सिक्खों को एक कर दिया था। उन्होंने सिक्खों को यथा– केश, कृपाण, कच्छा, कड़ा और कन्धा धारण करने का आदेश दिया। अब सिक्खों को सैनिक सम्प्रदाय में परिवर्तित करके उसका नाम खालसा रखा तथा सिक्खों को सिंह कहा जाने लगा। उन्होंने चरणामृत पिलाने की प्रथा के स्थान पर अमृतपान की नयी रीति रखी जिसमें पानी को खंजर से हिला कर सिक्ख को पिलाने पर सिंह बन जाता था। थोड़े अर्से में ही उन्होंने अस्सी हजार अनुयाइयों की एक सेना इकट्ठी कर ली। इस प्रकार सिक्ख सम्प्रदाय में नानक का जो मोक्ष प्राप्त करने का आदर्श था, वह अब सत्ता प्राप्त करने के आदर्श में परिवर्तित हो गया। पहले जो उपासक थे अब वे राजनीतिक शक्ति की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हो गये। गुरू गोविन्द सिंह के नेतृत्व में अब सिक्खों ने अपने गुरू तेग बहादुर की हत्या का बदला लेने के लिए पूरी तैयारी कर ली। गुरू गोविन्द सिंह ने अपने अनुयाइयों को युद्ध करने एवं गरीब और असहायों की सहायता करने की शिक्षा दी गई। इसी खालसा दल के आधार पर गुरू ने एक सिक्ख राज्य की स्थापना की कल्पना की एवं मुगलों के अत्याचारों का सामना करने का निश्चय किया।

इसके अतिरिक्त गुरू गोविन्द सिंह अपने आस–पास के क्षेत्र में एक राजनीतिक शक्ति के रूप में भी उभरना चाहते थे इसलिए उन्होंने पड़ौसी पहाड़ी प्रदेशों के राज्यों के मामले में दखल देना प्रारम्भ कर दिया। इसके कारण से स्थानीय शासकों से अनेक बार संघर्ष करना पड़ा, परन्तु खालसा की सहायता से वे इन शासकों को परास्त कर अपनी धाक जमाने में सफल हुए। इन पराजित राजाओं ने गुरू के विरुद्ध औरंगजेब से सहायता माँगी।

दूसरी ओर उनकी बढ़ती सैनिक एवं राजनीतिक शक्ति से औरंगजेब भी परेशान था। गुरू की गतिविधियों पर अंकुश लगाना आवश्यक था इसलिए शीघ्रता से बढ़ती शक्ति से औरंगजेब स्वयं चिन्ता में था। वह गुरू पर नियन्त्रण रखना चाहता था। इसके लिए उसने लाहौर के प्रशासक तथा सरहिन्द के फौजदार को आदेश दिया कि वे पहाड़ी राजाओं की गुरू गोविन्द सिंह के विरुद्ध सहायता करें। मुगल सेना ने आनन्दपुर पर आक्रमण कर दिया। सिक्ख बड़ी बहादुरी से लड़े परन्तु मुगलों और पहाड़ी राजाओं ने मिलकर घेर कर उन्हें बाहर आने पर मजबूर कर दिया। बाहर आते समय मुगल सेना ने धोखे से सिक्खों पर पुनः आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण में गुरू के दो पुत्र बन्दी बना लिए गए, परन्तु, स्वयं गुरू बच निकले। उनके पुत्रों पर इस्लाम धर्म स्वीकार करने का दबाव डाला गया जिसे उन लोगों ने स्वीकार नहीं किया। अतः उनकी हत्या कर दी गई।

इस पराजय से गुरू के हौसले पस्त नहीं हुवे बल्कि उन्होंने मुगलों के विरुद्ध अपने संघर्ष को जारी रखा। संघर्ष के लिए उन्होंने चमकौर नामक स्थान चुना जहाँ पर उनका मुगलों के साथ संघर्ष हुआ जिसमें उनकी पराजय हुई एवं उनके दो पुत्र युद्ध में मारे गए। इसके बाद गुरू तलवण्डी चले गए। दक्षिण में बुरी तरह व्यस्त रहने के कारण औरंगजेब सिक्खों की ओर पूरा ध्यान देने में असमर्थ था। इसलिए, उसने लाहौर के प्रशासक को सन्धि करने का निर्देश भी दिया था। 1706 ई0 में गुरू गोविन्द सिंह औरंगजेब से मिलने के लिए दक्षिण गए, परन्तु उनके पहुँचने के पूर्व ही 1707 ई0 में बादशाह की मृत्यु हो गई। नए बहादुरशाह प्रथम ने गुरू गोविन्द सिंह से मैत्री कर ली और उन्हें अपने साथ दक्षिण ले गया। गुरू ने सम्राट् बनने में उसे सहायता भी दी थी। दक्षिण में ही नादिर नामक एक अफगान ने 1708 ई0 में गुरू की हत्या कर दी।

मुगल–सिक्ख संघर्ष के व्यापक राजनीतिक प्रभाव हुवे। बार–बार सिक्ख गुरूओं की हत्या ने एक धार्मिक पंथ को एक सैनिक एवं राजनीतिक शक्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया। मुगल शासकों विशेषतः औरंगजेब की सिक्ख विरोधी नीति ने मुगल साम्राज्य का एक जुझारू शत्रु खड़ा कर दिया। इस पूर्व आन्दोलन का बाद में सामाजिक आधार किसान हो गए एवं छोटे जमींदारों ने भी आन्दोलन को पूरा समर्थन दिया।

अन्त में इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप सिक्ख राज्य की स्थापना हुई। इस प्रकार सिक्ख विद्रोहों ने मुगल साम्राज्य के विघटन एवं बिखराव में महत्तवपूर्ण भूमिका अदा की।

मुगल-राठौड़ संघर्ष

अकबर ने भारत की महत्तवपूर्ण राजनीतिक शक्ति राजपूतों से सम्बन्ध स्थापित करके मुगल–राजपूत सम्बन्धों के एक नए अध्याय की शुरूआत की। हुमायूँ ने जब मुगल साम्राज्य खो दिया था एवं ईरान में एक निर्वासित जीवन गुजार रहा था। वहाँ के शासक की शरण में था तब वहाँ के शाह ने हुमायूँ को एक महत्तवपूर्ण सलाह दी थी कि अगर खोए हुए मुगल साम्राज्य को प्राप्त करके उसे स्थायित्व प्रदान करना चाहते हो तो उसे वहाँ के स्थानीय जमींदारों एवं शासकों से मित्रता कायम करनी चाहिए। बाद में हुमायूं अपने खोये हुए साम्राज्य का जब वापिस स्वामी बन गया तो वह इस नीति को लागू करना चाहता था लेकिन उसकी मौत ने उसे इसे लागू करने से रोक दिया। बाद में अपने पिता को दी गई सलाह को अकबर ने लागू किया। राजपूत राज्यों की शक्ति एवं उनके राजनीतिक महत्व को देखते हुए अकबर ने परिस्थिति के अनुसार मैत्रीपूर्ण एवं वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए विद्रोही राजपूत राज्यों को सैन्य बल के आधार पर भी साम्राज्य की छत्रछाया में लाने का प्रयास किया गया। राजपूतों ने मुगलों की सेना एवं प्रशासन में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्हें बड़े–बड़े मनसब दिए गए एवं उनके अधीन क्षेत्रों पर उनके वंशानुगत अधिकार को पूर्ण मान्यता एवं सम्मान दिया। उनके अधीन क्षेत्र को वतन नाम दिया गया। इसके अतिरिक्त भी उनको दूसरे क्षेत्रों में जागीरदारियाँ दी गईं एवं महत्तवपूर्ण सूबों का सूबेदार भी बनाया गया। अकबर द्वारा शुरू की गई इस नीति को जहांगीर एवं शाहजहाँ ने जारी रखा। उत्तराधिकार युद्ध के दौरान औरंगजेब ने भी अपने पूर्वजों की नीति को जारी रखने का वचन दिया था। राज्यारोहण के पश्चात् कुछ वर्षों तक पूर्व नीति की पालना की जाती रही। मेवाड़ के महाराणा राजसिंह को मनसब दिया गया। मारवाड़ के शासक महाराजा जसवन्त सिंह को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया। आमेर का मिर्जा राजा जय सिंह औरंगजेब का सर्वाधिक विश्वास पात्र था। उसे भी बड़ा मनसब प्राप्त था। लेकिन धीरे–धीरे मुगल राजपूत सम्बन्ध बिगड़ने लगे। औरंगजेब की नीतियों से राजपूतों में अविश्वास की भावना पैदा हुई। वे मुगलों से अपने–आपको स्वतन्त्र करने के प्रयास में लग गए। औरंगजेब को भी भय था कि कहीं राजपूत मराठों के साथ मिल कर मुगलों की सत्ता समाप्त नहीं कर दें। 1678 ई0 में जब जम्रूद

सेना–नायकों, आमेर के जय सिंह और मारवाड़ के जसवन्त सिंह की मृत्यु हो चुकी थी। इसलिए, औरंगजेब ने राजपूत राज्यों पर अपना शिकंजा कसने का अभियान आरम्भ कर दिया। औरंगजेब की इस अदूरदर्शी नीति ने मुगल–राजपूत संघर्ष की एक लम्बी परम्परा आरम्भ कर दी जो अन्ततः मुगल साम्राज्य के लिए अहितकर सिद्ध हुई।

इसी आक्रामक नीति को सर्वप्रथम मुगल बादशाह ने मारवाड़ पर लागू करने का निर्णय किया। वहाँ का शासक महाराजा जसवन्त सिंह था जो उसके साम्राज्य का बड़ा मनसबदार था। उसके पास राठौड़ों की एक शक्तिशाली सेना थी जो उसकी अपनी बिरादरी एवं कुल के थे। यहीं जसवन्त सिंह पूर्व में दारा के साथ थे एवं औरंगजेब के विरुद्ध धरमत के युद्ध में लड़े थे और जिन्होंने खजुवा में उसके डेरों को लूटा था। मिर्जा राजा जय सिंह की मृत्यु के बाद तो मुगल दरबार में यही एक मात्र प्रभावशाली शासक रह गया था। जैसा कि मनूची ने लिखा है कि औरंगजेब अपनी धार्मिक नीति को कार्यान्वित करने में तथा हिन्दुओं के प्रति कठोरता का व्यवहार करने में जसवन्त सिंह को अपने मार्ग में बाधा महसूस करता था। फिर मारवाड़ का अपना महत्तव था, जहाँ से होकर आगरा से अहमदाबाद और प्रसिद्ध बन्दरगाह केम्बे के लिए सीधा रास्ता जाता था। इसके अतिरिक्त बादशाह उत्तराधिकार युद्ध में महाराजा की भूमिका से भी नाराज रहा था इसलिए उसका बदला भी लेना चाहता था। इन कारणों से बादशाह मारवाड़ को अपने साम्राज्य में लेना चाहता था। इसलिए जब 10 दिसम्बर, 1678 ई० को अफगानिस्तान में जमरूद नामक स्थान पर जसवन्त सिंह की मृत्यु हो गयी तो औरंगजेब को बड़ी प्रसन्नता हुई क्योंकि अब इस राज्य को मुगल साम्राज्य में शामिल करना आसान हो गया। इसलिए उसने तत्काल राठौड़ों के राज्य को खालिसा करने का हुक्म दे दिया। पूरे राज्य में मुगल थाने स्थापित कर दिए गए। इसी बीच महाराजा जसवन्त सिंह का परिवार जब जमरूद से आ रहा था तो लाहौर में उसकी दो रानियों के फरवरी, 1679 ई० में दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें से एक तो जन्म के बाद ही मर गया और दूसरा अजीत सिंह जीवित रहा। रानियों और बच्चे के लिए आदेश हुआ कि उन्हें दिल्ली ले आया जाए। वे जून में दिल्ली पहुँचे। लेकिन उनके पहुँचने के पहले ही बादशाह औरंगजेब ने जसवन्त सिंह के बड़े भाई अमर सिंह के पुत्र इन्द्र सिंह को मारवाड़ का शासक घोषित कर दिया। इन्द्र सिंह को राजा बनाने का यह अर्थ था कि बादशाह जसवन्त सिंह के पुत्र के अधिकार को स्वीकार नहीं करता है। राठौड़ों ने इसे अपने वंशानुगत अधिकार वाले क्षेत्र (वतन) पर हनन का मामला माना जो उनके लिए अपमानजनक था। वे अपने वतन को अत्यन्त पवित्र मानते थे जिस पर किसी प्रकार के अतिक्रमण को अपने पर हमला मानते थे। लेकिन औरंगजेब के इस कार्य से एक बात बिल्कुल साफ हो गई कि वह मारवाड़ का विभाजन एवं राठौड़ों में फूट डालना चाहता था। जसवन्त सिंह के सारे अनुयाई अमर सिंह से सख्त नफरत करने लगे।

औरंगजेब इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ बल्कि उसने अजीत सिंह को दिल्ली में ही केद करने की मंशा से उस जगह को घेर लिया जिसमें राठौड़ सरदार नवजात महाराजा के साथ रुके हुए थे। वहाँ मुगल सैनिकों एवं राठौड़ सरदारों में भयंकर संघर्ष हुआ और वे वहाँ से निकल गए। अन्त में वे अजीत सिंह को सारे रास्ते लड़ते हुए मारवाड़ ले जाने में सफल रहे।

इन परिस्थितियों से औरंगजेब की मंशा साफ उजागर हो गई। तब राठौड़ों ने यह निश्चय कर लिया कि जब तक उनको अपना पैतृक राज्य वतन नहीं मिलता तब तक वे मुगल सत्ता के विरुद्ध संघर्ष जारी रखेंगे। इसी प्रश्न को लेकर राजपूत अगले तीस वर्षों तक मुगल सत्ता के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। इस संघर्ष में मारवाड़ के राठोड़ों को सीसोदिया एवं बीकानेर के राठौड़ घरानों का पूरा समर्थन मिला। इसका सीधा सा कारण था कि अगला कदम उनके राज्य के विरुद्ध हो सकता है। यही नहीं इसी संघर्ष को औरंगजेब के पुत्र अकबर से पूरा समर्थन मिला। उसने राठौड़ों के संघर्ष को उचित ठहराते हुए अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। यह मुगल बादशाह के लिए एक भयंकर सदमा था एवं उसके साम्राज्य के लिए भी एक खतरे की घण्टी थी।

इस संघर्ष की सबसे बड़ी विशेषता थी कि यह मारवाड़ के चप्पे–चप्पे पर लड़ा गया। इसमें राठौड़ों ने मुगल चौकियों पर लगातार आक्रमण करके मुगल अधिकारियों को परेशान किया एवं कइयों को मौत के घाट उतार दिया गया। दूसरी विशेषता सम्पूर्ण मारवाड़ के जन–समुदाय का अगाध समर्थन था। मुगलों के विरुद्ध लोगों में भयंकर नफरत हो गई। इसका कारण मुगल सैनिकों द्वारा बड़ी संख्या में मन्दिरों का तोड़ा जाना था। राठौड़ों ने छापामार युद्ध द्वारा मुगलों को परेशान किए रखा। औरंगजेब की मृत्यु तक यह युद्ध जारी रहा और उसे राठौड़ों की दोस्ती फिर नसीब नहीं हुई। अन्त में बहादुरशाह द्वारा अजीत सिंह को मान्यता प्रदान करने एवं उसका वंशानुगत क्षेत्र वापिस लौटाने पर ही संघर्ष समाप्त हुआ।

औरंगजेब की राठौड़ों के प्रति दुर्भावनापूर्ण नीति ही इस संघर्ष के लिए पूर्णतः जिम्मेदार थी। उसने साम्राज्य के एक मजबूत स्तम्भ राठौड़ों को खुद ही गिरा दिया। ये वे ही राठौड़ थे जिन्होंने मुगल साम्राज्य के विस्तार में महत्तवपूर्ण भूमिका अदा की थी। ऐसे विश्वसनीय समर्थक राठौड़ शक्ति को खोना साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुआ। इस युद्ध ने मुगल सत्ता को निश्चित ही कमजोर कर दिया।

सीसोदियों के साथ संघर्ष

मुगलों एवं मेवाड़ के सीसादियों के बीच संघर्ष की जड़े बाबर के समय तक जाती है। खानवा युद्ध में मेवाड़ की पराजय से उनके सम्मान को धक्का लगा था। हुमायूँ के समय में सम्बन्ध सामान्य रहे। अकबर ने मेवाड़ शासक को अपने अधीन बनाने के लिए चित्तौड़ विजय एवं हल्दी घाटी का युद्ध भी अकबर की मनोकामना पूर्ण नहीं कर पाया। मेवाड के महाराणाओं ने पराजय के पश्चात भी अधीनता स्वीकार नहीं की एवं मुगलों के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा। जहाँगीर को मेवाड के साथ सन्धि करने का श्रेय प्राप्त है लेकिन उनके स्वतन्त्रता प्रेम को जहाँगीर ने थोड़ा समझने का प्रयास किया। फिर काफी समय तक मुगल–सीसोदिया सम्बन्धों में मधुरता रही। फिर इन सम्बन्धों को कटु बनाने का कार्य औरंगजेब ने किया।

मारवाड़ के खालिसा कर लिए जाने से मेवाड़ के महाराणा भी अप्रसन्न थे। वहाँ के शासक ने राठौड़ों के मुगलों के विरुद्ध सहायता देने का निर्णय लिया। इस समर्थन का कारण यह था कि यदि उस समय बादशाह की इस नीति को स्वीकार कर लिया जाता तो भविष्य में इस सिद्धान्त को और राज्यों के सम्बन्ध में भी अपनाने का अधिकार मुगल बादशाह को मिल जाता था। इसलिए यह आवश्यक था कि इस खतरनाक नीति का कड़ा और स्पष्ट विरोध किया जाय। इसलिए यह युद्ध इस सिद्धान्त के पक्ष में था कि मुगल सरकार को किसी राजा की पैतृक सम्पत्ति (वतन) को खालसा में लेने का अधिकार नहीं है। फिर मेवाड़ को यह डर था कि इस समय राठौड़ों का साथ नहीं दिया गया और यदि राठौड़ों की एक महत्तवपूर्ण शक्ति नष्ट हो गई। तो इससे राजपूताना के सभी राज्यों के हितों को भारी हानि होने की सम्भावना थी और इसलिए मेवाड़ ने राठौडों का साथ दिया।

मेवाड़ ने इसी सिद्धान्त के समर्थन के कारण अजीत सिंह को अपने राज्य में शरण देकर औरंगजेब को नाराज कर दिया। इससे नाराज होकर ही मुगल बादशाह ने मेवाड़ पर जजिया लगा दिया जिसे महाराणा राज सिंह ने देने से मना कर दिया। परिणाम मेवाड़ पर आक्रमण के रूप में सामने आया। औरंगजेब ने हसन अलीखाँ को 7000 सवारों के साथ मेवाड़ पर आक्रमण करने भेजा और स्वयं भी उदयपुर की ओर चल पड़ा। राणा चित्तौड़ व उदयपुर शहर को खाली कर पहाड़ों में चले गये। मुगलों ने उदयपुर व चित्तौड़ पर सरलता से अधिकार कर लिया। उदयपुर में मुगलों द्वारा 173 मन्दिर व चित्तौड़ में 63 मन्दिर तोड़े गये। सम्राट ने हसन अली खाँ को राणा का पीछा करने भेजा जिसने जनवरी के तीसरे सप्ताह में राणा राजसिंह के डेरे को लूट लिया और रसद आदि पर अधिकार कर लिया। फरवरी के अन्त में बादशाह स्वयं चित्तौड़ आया। यह सोच कर कि राजपूतों का विरोध दबा दिया गया है, बादशाह अपने पुत्र अकबर को लगभग 12,000 सेना के साथ चित्तौड़ में छोड़ कर स्वयं 22 मार्च, 1680 ई० को अजमेर लौट आया। किन्तु बादशाह के जाते ही राजपूतों ने मुगल सेना पर अपना दबाव बढ़ा दिया। मुगल चौकियों पर हमले किए गए तथा रसद लाने वाले मुगल काफिलों को राजपूतों ने लूट लिया। राणा पहाड़ों से उतर कर बदनौर के क्षेत्र में स्थित मुगल थानों को समाप्त करने लगा और मई में अकबर के डेरे पर आक्रमण कर उसे भारी हानि पहुँचाई। थोड़े समय में ही राजपूतों ने मुगलों को कठिन परिस्थिति में डाल दिया। अब औरंगजेब ने अकबर को हटा कर शहजादा आजम को मेवाड़ में नियुक्त किया तथा शहजादा अकबर और शहजादा मुअज्जम को आजम के साथ कार्य करने का आदेश दिया। इस बार मेवाड़ पर तीन तरफ से आक्रमण किया गया। देबारी के मार्ग से आजम को, राजसमन्द के मार्ग से मुअज्जम को तथा देसूरी के घाटे से अकबर को आगे बढ़ना था ताकि राणा को घेर कर पकड़ लिया जाए या मार दिया जाए। आजम और मुअज्जम इस उद्देश्य में असफल रहे और अकबर की प्रगति बहुत धीमी रही। इससे नाराज होकर अकबर को मारवाड़ की ओर भेज दिया। यह युद्ध 1680 ई० में महाराणा राज सिंह की मृत्यु तक जारी रहा।

इससे नाराज होकर शाहजादा अकबर ने अपने पिता औरंगजेब के विरुद्ध बगावत कर दी एवं राठौड़ दुर्गादास के साथ मिल कर मुगल थानों पर आक्रमण कर दिया। मुगल बादशाह के लिए यह एक जबरदस्त धक्का था। अन्त में औरंगजेब की चालाकी से अकबर को राठौड़ों से अलग करने में सफलता मिली लेकिन उसे अपने पुत्र से हाथ धोना पड़ा।

अकबर का विद्रोह तो सफल नहीं हुआ था, परन्तु इससे मेवाड़ बच गया। औरंगजेब को मेवाड से तत्काल सेनाएं अजमेर बुलानी पड़ीं। अकबर के शम्भा जी से मिल जाने से बादशाह के लिए एक नई समस्या उत्पन्न हो गयी और बादशाह का ध्यान इस नए खतरे की ओर अधिक हो गया। इससे पहले कि अकबर मराठों से मिल कर राज्य के लिए संकट पैदा करे, बादशाह ने अजीत के राणा से सन्धि करना उचित समझा। नए राणा जय सिंह भी सन्धि के लिए तैयार हो गया। फलस्वरूप 24 जून 1681 ई० को मेवाड और मुगलों के बीच सन्धि हो गयी। इसके अनुसार राणा ने जजिया के बदले माण्डलगढ़ एवं बदनौर के परगने मुगलों को देना स्वीकार किया। बदले में मुगल बादशाह ने राणा को मेवाड़ का राजा स्वीकार कर लिया एवं उसे पॉच हजार की मनसब दी।

इस संघर्ष से भी मुगलों एवं मेवाड़ के सीसादियों में अविश्वास उत्पन्न हो गया जिसका मुगल साम्राज्य के स्थायित्व पर प्रभाव पडा। इसके बाद वह विश्वास फिर कभी नही लौटा। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राठौड़ों एवं सीसादियों के संघर्ष के कारण न केवल मुगल बादशाह ने सशक्त मित्र खो दिए बल्कि सम्पूर्ण राजपूत रियासतों को भी सजग कर दिया। इसलिए जब मुगल साम्राज्य का विघटन हो रहा था तब उन्होंने इसमें कोई रूचि नहीं ली।

दक्षिण के राज्यों के साथ संघर्ष

मुगल शासकों द्वारा दक्षिण की रियासतों के संघर्ष अकबर के समय से प्रारम्भ हुआ जो औरंगजेब के समय तक जारी रहा। इसका सीधा प्रभाव यह हुआ कि बीजापुर और गोलकुण्डा की विजय से दक्षिण का शक्ति–सन्तुलन बिगड़ गया और मराठों से सीधा संघर्ष शुरू हो गया। यदि औरंगजेब ने इन राज्यों को समाप्त न किया होता तो मराठों पर न केवल उनका दबाव बना रहता बल्कि वे दक्षिण की राजनीति में ही व्यस्त रहते और उन्हें मुगलों से संघर्ष करने तथा उनकी दुर्बलताओं को समझने का मौका ही न मिलता। इस दृष्टि से औरंगजेब की दक्षिण नीति अव्यवहारिक और अविवेकपूर्ण साबित हुई। फिर दक्षिण भारत को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में रखने के प्रयत्न में औरंगजेब उत्तरी भारत के प्रशासन की ओर ध्यान न दे सका जो उसके साम्राज्य की शक्ति का आधार था। दक्षिण भारत में 25 वर्षों तक उसके साम्राज्य की सम्पूर्ण आर्थिक शक्ति, योग्य अधिकारी, बादशाह स्वयं एवं उसके शहजादे तथा सम्पूर्ण सैनिक शक्ति लगी रही और उत्तर भारत का शासन मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों के हाथों में रहा जिससे कोई भी कार्य ठीक प्रकार से न हो सका और इस प्रकार औरंगजेब ने मराठों को छेड़ कर दक्षिण भारत को खोया ही, उत्तरी भारत को भी खो दिया। इस प्रकार औरंगजेब की दक्षिण–नीति मुगल साम्राज्य के विघटन का प्रमुख कारण बनी।

मराठों के साथ संघर्ष

दक्षिण की राजनीति के अन्तर्विरोधों से लाभ उठा कर शाहजी भोंसले एवं उनके पुत्र शिवाजी के नेतृत्व में एक नई मराठा शक्ति का उदय हुआ जो न केवल मुगल साम्राज्य के लिए खतरा बनी बल्कि उसके विघटन का एक महत्तवपूर्ण एवं उल्लेखनीय कारण बनी। शाहजी भोंसले ने जिस कार्य को शुरू किया था शिवाजी ने उसे आगे बढ़ाया। उसके पिताजी का मुख्य कार्य मराठा राज्य की स्थापना करना था। वह राजगढ़, कोंकण एवं जावली तथा पूना के आसपास के क्षेत्रों पर कब्जा करके मराठा शक्ति को आगे बढ़ाने लगा। उसने मुगल इलाकों पर आक्रमण करके वहाँ से चौथ वसूलना एवं उन्हें लूटना प्रारम्भ कर दिया। 1657 ई० तक स्थिति काबू से बाहर होती जा रही थी लेकिन मुगल शासक सम्भावित उत्तराधिकार के युद्ध के कारण से इस ओर ध्यान नहीं दे पा रहा था।

मुगलों की व्यस्तता का मराठों ने लाभ उठाया एवं शिवाजी ने दक्षिण में अपनी शक्ति संगठित कर ली। बीजापुर क्षेत्र के कई किलों को जीत कर, शाइस्ता खॉ पर पूना के किले में आक्रमण कर तथा सूरत को लूट कर शिवाजी ने अपनी शक्ति का अच्छा–खासा परिचय दिया था। यद्यपि पुरन्दर की सन्धि के द्वारा शिवाजी ने मुगल अधीनता स्वीकार कर ली थी और वह मुगलों के सहयोगी बन गये थे, परन्तु 1666 ई० में औरंगजेब द्वारा शिवाजी को कैद कर लेने पर वह मुगलों के घोर शत्रु बन गये थे। 19 अगस्त, 1666 ई० में वह आगरे से भाग गये थे। तीन वर्ष तक शान्त रहने के बाद 1670 ई० में शिवाजी ने मुगलों से पुनः युद्ध शुरू कर दिया था और पुरन्दर की सन्धि में खोए इलाकों को पुनः जीत लिया था। अब उन्होंने मुगल प्रदेशों में दूर–दूर तक जोरदार धावे शुरू कर दिये थे। फलस्वरूप औरंगजेब ने क्रुद्ध होकर बहादुर खाँ को शिवाजी के विरुद्ध भेजा। किन्तु पाँच वर्ष तक संघर्ष करने के बाद भी बहादुर खाँ कोई सफलता प्राप्त नहीं कर सका। शिवाजी ने अनेक बार मुगल प्रदेशों पर आक्रमण किए और विभिन्न स्थानों से चौथ वसूल की। 16 जून, 1674 ई० को रायगढ़ में शिवाजी ने अपना राज्याभिषेक करवाया और 'छत्रपति' की उपाधि धारण कर एक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की स्थापना की। 1677–78 ई० में शिवाजी ने कर्नाटक का महान् अभियान किया जिसमें शानदार सफलता प्राप्त हुई। लगभग एक वर्ष में ही शिवाजी ने 20 लाख हूण वार्षिक आय के प्रदेश को जीत लिया जिसमें जिंजी आदि कुल मिला कर 100 किले थे। किन्तु निरन्तर संघर्ष के कारण शिवाजी के स्वास्थ्य में गिरावट आती गयी और 14 अप्रैल, 1680 ई० को उनकी मृत्यु हो गयी।

डॉ० बी०एल० गुप्ता एवं डॉ० पेमाराम ने शिवाजी के पश्चात् मराठा शक्ति के उभार को रेखांकित करते हुए लिखा है कि शिवाजी के बाद उनके बड़े पुत्र शम्भाजी (1680–1689 ई०) छत्रपति बने और उन्होंने अपने पिता की दक्षिण में मुगल प्रदेशों पर आक्रमण की नीति को जारी रखा। इसी समय विद्रोही शहजादे अकबर के दक्षिण में आ जाने पर बादशाह स्वयं भी 1681 ई० के प्रारम्भ में बुरहानुपर पहुँच गया। उसने अपने पुत्र आजम के नेतृत्व में एक शक्तिशाली सेना अकबर का पीछा करने के लिए भेजी और

स्वयं ने शम्भाजी पर चारों ओर से आक्रमण किया। सम्राट को शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि उस शम्भाजी से ज्यादा खतरा नहीं है अतः उसके खिलाफ अपने कुछ सैनिक अधिकारियों को नियुक्त कर वह बीजापुर व गोलकुण्डा को विजय करने में लग गया। 1686 ई0 तक इन दोनों राज्यों को जीत लेने के बाद अब सम्राट ने अपना पूरा ध्यान मराठों की ओर लगाया और 11 फरवरी 1689 ई0 को संगमेश्वर नामक स्थान पर छत्रपति शम्भाजी को अपने मंत्री कविकलश तथा 25 अफसरों सहित कैद कर लिया। शम्भाजी से औरंगजेब की शर्तों को न मानने पर उसको कत्ल कर दिया गया।

शम्भाजी के कत्ल के पश्चात् औरंगजेब ने उसकी राजधानी रायगढ़ पर अधिकार कर लिया और शम्भाजी के सात वर्षीय पुत्र साहू सहित उसके परिवार को बन्दी बना लिया। 1690 ई0 तक ऐसे लगने लगा था कि जिस उद्देश्य के लिए सम्राट दक्षिण आया था वह पूरा हो गया है और सम्राट शीघ्र ही उत्तर भारत लौट जायेगा, क्योंकि इस समय तक बीजापुर व गोलकुण्डा को जीत कर मुगल साम्राज्य में मिलाया जा चुका था और मराठों के नेता को पकड़कर कत्ल कर दिया गया था। ऐसा प्रतीत होता था कि मराठा शक्ति सर्वदा के लिए समाप्त हो गया और औरंगजेब की दक्षिण विजय पूर्ण हो गयी।

परन्तु औरंगजेब का दुर्भाग्य रहा कि ऐसा नहीं हुआ। बल्कि अब सम्पूर्ण महाराष्ट्र की जनता औरंगजेब के खिलाफ उठ खड़ी हुई। पहले इस संघर्ष का नेतृत्व शम्भाजी के छोटे भाई राजाराम (1689–1700 ई0) ने किया जो एक साधु का वेश बनाकर जिंजी भाग गया और रामचन्द्र पंत आमात्य को हुकूमतपनाह बना कर विशालगढ़ में नियुक्त किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि इन दोनों के बीच मुगल सेना बिखर गयी। अब प्रत्येक मराठा सेनानायक अपने–अपने सिपाहियों सहित अपने–अपने ढंग से देश के विभिन्न भागों पर चढ़ाई करता था, जिससे औरंगजेब की कठिनाइयाँ बहुत बढ़ गई थीं। अब लड़ाई ने लोक युद्ध का रूप धारण कर लिया था। औरंगजेब इसका अन्त नहीं कर सकता था क्योंकि अब न तो मराठा सरकार थी, न राज्य की कोई सेना थी, न इनका कोई मुखिया था और न कोई इनका खास दुर्ग था, जिसको जीतने पर इनका अन्त हो जाता। अब यह सैनिक समस्या नहीं थी। अब तो प्रश्न यह था कि बादशाह दक्षिण की जनता से कब तक युद्ध कर सकेगा? 1700 ई0 में राजाराम की मृत्यु के बाद उसकी विधवा पत्नी तारा बाई (1700–1707 ई0) ने अपने तीन वर्षीय लड़के शिवाजी द्वितीय के नाम से इस युद्ध का नेतृत्व सम्भाल लिया और मुगलों के दाँत खट्टे कर दिये। इस संघर्ष की प्रकृति का वर्णन करते हुए खफीखाँ ने लिखा है,"औरंगजेब ने खूब याजेनाएँ बनायीं, संघर्ष किया और अपने जीवन के अन्त तक लड़ता रहा किन्तु मराठों की शक्ति फिर भी दिन प्रतिदिन बढ़ती गयी। भारी लड़ाई करके, शाहजहाँ के संगृहीत धन के खर्च से और लाखों आदमियों का बलिदान करके वह इस मनहूस (अशुभ) देश में घुसा था। उसने अनके कितने ही बड़े–बड़े किले जीते, घर बरबाद करके उनको जंगल में धकेल दिया तो भी मराठों का साहस बढ़ता ही गया। वे हवा की तरह पूरे दक्षिण में फैल गये, शाही इलाकों में घुस कर लूटते रहे और जहाँ पहुँचे, वहाँ विनाश करते रहे। बाद में तो मराठा का हौसला इतना बढ़ गया था कि वे शाही डेरे से दस–बारह कोस तक कारवाँ लूट लेते थे और शाही खजाने को भी लूटने का दुस्साहस करते थे।" औरंगजेब पूरा परिश्रम करके किसी मराठा किले पर अधिकार करता किन्तु उससे आगे बढ़ने पर मराठा उसे पुनः जीत लेते थे। इस प्रकार औरंगजेब के दक्षिण भारत के 25 वर्षों के युद्ध का अन्त हुआ। इस समय तक मराठों की स्थिति बहुत मजबूत हो चुकी थी। उनके पास तोपखाना और नियमित सेना की सभी सामग्री थी। जब सम्राट 1706 ई0 के प्रारम्भ में गम्भीर बीमार हो जाने पर मराठों के विरुद्ध अभियान को छोड़ कर अहमदनगर पहुँचा तो मराठों की एक बहुत बड़ी सेना शाही डेरे से चार मील दूरी तक आ पहुँची थी और अप्रैल, 1706 ई0 में बड़ी घमासान लड़ाई के बाद ही वहाँ से हटाई जा सकी थी। इस प्रकार कठिनाइयों और विपत्तियों में फँसे हुए औरंगजेब की 3 मार्च, 1707 ई0 में दक्षिण में ही मृत्यु हो गयी।

लेकिन मराठा संघर्ष यहीं नहीं थमा बल्कि इसके पश्चात् उनकी गतिविधियाँ और अधिक तेज होती चली गई। उसके पश्चात् पेशवाओं ने कमान सम्भाल ली एवं उनके अधीन मराठा शक्ति का विस्तार उत्तर–पश्चिम एवं दक्षिण की तरफ फैल गया। उधर औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार के युद्ध में केन्द्र की शक्ति कमजोर हो गई एवं इसके पश्चात् मुगल साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया शुरू हो गई। इस परिस्थिति का मराठों ने लाभ उठाया। इसके बाद उन्होंने दक्षिण में मुगल सूबों पर आक्रमण करने प्रारम्भ कर दिए एवं कुछ ही समय में मराठा, दक्षिण की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बन गए।

इसके पश्चात् पेशवाओं के समय में मराठों ने मुगलों के सम्पन्न क्षेत्रों पर सैनिक अभियान प्रारम्भ किए एवं उन क्षेत्रों से मुगलों को उखाड़ कर अपने पैर जमाए। इन क्षेत्रों में मालवा, बुन्देलखण्ड एवं गुजरात मुख्य थे। ये कृषि एवं वाणिज्य की दृष्टि से बहुत अधिक धनी क्षेत्र थे। इन पर प्रभाव स्थापित हो जाने से मराठों की शक्ति में काफी बढोत्तरी हुई। इस प्रकार उनकी शक्ति में वृद्धि का सीधा अर्थ था मुगलों की शक्ति में गिरावट आना। प्रो0 सतीश चन्द्र के अनुसार मराठा आन्दोलन मुगलों की केन्द्रीयकरण की नीति

क्षेत्रीय प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। यह बात सही है लेकिन वास्तव में वे एक मराठा राज्य की स्थापना करना चाहते थे जो मुगल सत्ता के लिए एक चुनौती था। मराठों ने न केवल दक्षिण से मुगलों का सफाया किया बल्कि उनके महत्त्वपूर्ण इलाकों को तबाह कर दिया। इसके बाद वे उत्तर भारत की राजनीति में एक शक्ति बन कर उभरे एवं उन्होंने पूरे उत्तरी प्रदेशों को रौंद डाला। यह सब मुगल साम्राज्य के विघटन के लिए काफी था जिसमें मराठों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

उत्तर मुगल काल में मुगल साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया में तेजी

यह बात काफ़ी हद तक सही है कि औरंगजेब के समय में जो विद्रोह हुवे उनके कारण से एक राजनीतिक एवं आर्थिक बिखराव नजर आने लगा था। इसके अतिरिक्त राजपूतों जैसे शक्तिशाली समर्थकों के साथ लम्बे संघर्षों ने साम्राज्य की प्रतिष्ठा को भी आघात पहुँचाया। साथ ही भविष्य में उनसे सहायता मिलने की सम्भावना को भी घटा दिया। साम्राज्य की प्रतिष्ठा में आखिरी कील मुगल बादशाह की दक्षिण राजनीति ने ठोक दी। दक्षिण युद्धों के परिणामस्वरूप मराठों का उदय हुआ जिसने केन्द्रीयकरण के विरुद्ध क्षेत्रीयतावाद का नारा दिया। मराठा शक्ति का सम्पूर्ण उत्तरी भारत में प्रसार हुआ और मराठा शक्ति हिन्दुस्तान की सर्वोच्च शक्ति बन गई। इसलिए यह ठीक ही कहा गया है कि अंग्रेजों ने भारत का साम्राज्य मुगलों से नहीं बल्कि मराठों से प्राप्त किया था।

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् तो मुगल साम्राज्य की स्थिति दयनीय एवं शक्तिविहीन होती ही चली गई। 1707 ई0 के पश्चात् का भारत का इतिहास ऐसे संघर्षों, दुर्घटनाओं, कुचक्रों, षड़यन्त्रों और विरोधी शक्तियों की राजनीतिक प्रतिस्पर्धा का रहा था जिसमें मुगल बादशाह बिल्कुल नगण्य बन गये थे। पूर्व मुगल बादशाहों का गौरव नष्ट हो गया था तथा उनके उत्तराधिकारी स्वार्थी अमीरों के हाथों में कठपुतली बन कर नाम मात्र के शासक रह गये थे। 1707 ई0 से लेकर 1857 ई0 तक मुगल साम्राज्य एक बीमार और दुर्बल व्यक्ति की भाँति घुट–घुट कर समाप्त हुआ। सिर्फ साम्राज्य की सांसे चल रही थीं लेकिन जीवन्तता बिल्कुल नहीं बची थीं।

यह सत्य है कि कुछ हद तक औरंगजेब भी मुगल साम्राज्य के विघटन के लिए जिम्मेदार था, परन्तु यदि औरंगजेब के बाद भी योग्य शासक हुए होते तो वे स्थिति को सम्भाल सकते थे। इसलिए औरंगजेगब के अलावा अन्य कारण जिनसे मुगल साम्राज्य के विघटन में तेजी आई। इन कारणों को डॉ0 बी0एल0 गुप्ता ने उजागर किया है जो निम्न थे :–

एक, मध्ययुगीन साम्राज्य मात्र सम्राटों की योग्यता पर टिका रहता था। यदि सम्राट योग्य और चरित्रवान् होता था तो साम्राज्य को स्थायित्व प्राप्त होता था। किन्तु दुर्भाग्यवश औरंगजेब के बाद के मुगल सम्राट न तो योग्य थे और न चरित्रवान्। वे अब तलवार से अधिक स्त्री और शराब को प्यार करने लगे थे। औरंगजेब का उत्तराधिकारी बहादुरशाह 'शाह–ए–बेखबर' कहलाता था। जहाँदारशाह तो अपनी प्रेयसी 'लाल कुँवर' के साथ खुले आम प्रेम–प्रदर्शन करता था और दस माह में ही अपना राज्य खो बैठा। अहमदशाह चार वर्ग मील लम्बे चौड़े रनिवास में कई–कई सप्ताह तक पुरूष का मुख देखे बिना ही विलास में डूबा रहता था। फर्रूखसियार को सैय्यद भाइयों ने जनान–खाने से खींच कर बाहर निकाला और बाद में गला घोंट कर मार डाला। मुहम्मदशाह 'रंगीला' के नाम से विख्यात हुआ और नादिरशाह के सामने उसे प्राणों की भीख माँगनी पड़ी। अहमदशाह, आलमगीर द्वितीय और शाहआलम द्वितीय ऐसे बादशाह हुए जो अपने सरदारों अथवा मराठों के हाथों में कठपुतली की तरह रहे। ऐसी स्थिति में मुगल साम्राज्य का विघटन होना स्वाभाविक था।

दो, साम्राज्य के अधिकांश अमीरों ने भी अपने मालिक–स्वामी का अनुसरण किया। चरित्र एवं नैतिकता के मामले में अमीरों ने मुगल बादशाह का रास्ता अपनाया। निःसन्देल मुगल सामन्त अपने बादशाहों का अनुकरण कर रहे थे जिनके जीवन में शराब, स्त्री, षडयन्त्र, स्वार्थ, पद लोलुपता आदि ही प्रमुख रह गये थे। धन, आराम ओर विलासिता की अधिकता ने उनके चरित्र को गिरा दिया। उनके रनिवासों में स्त्रियों की भीड़ रहा करती थी। वे खूब शराब पीते और युद्ध क्षेत्र में पालकियों में बैठ कर जाने लगे थे। मुगल सामन्त बड़ी तीव्र गति से पतित हो रहे थे। फिर जब मुगल सम्राट कमजोर हो गये तो मुगल सामन्तों की बन आयी और उन्होंने अपने–अपने अलग राज्य स्थापित कर लिये। इस तरह मुगल साम्राज्य विभक्त हो कर पतन को प्राप्त हो गया।

तीन, मुगल सैनिक संगठन एवं शक्ति की प्रतिष्ठा सम्पूर्ण एशिया एवं मध्य एशिया में थी। इसी सैन्य संगठन के बल पर मुगल शासकों ने मुगल पताका फहराई। भारत मे ही नहीं अफगानिस्तान एवं मध्य एशिया तक को हरा कर मुगल साम्राज्य का अंग बना लिया था। घुडसवार सेना एवं तोपखाना उसकी शक्ति के स्रोत थे। मनसबदारी व्यवस्था पर आधारित यह एक सर्वश्रेष्ठ सैन्यबल था। लेकिन औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् सैन्यबल एवं संगठन में शिथिलता आती ही चली गई जो अन्त में मुगल साम्राज्य के विघटन

एवं पतन का कारण बनी। एक समय तो यह आया कि वह उसके मातहत राज्यों की सेना से भी कमजोर [illegible] धन का अभाव था। मुगल शासकों की शराबखोरी एवं अय्याशी के कारण स धन की बर्बादी होने लगी। सेन [illegible] न ध्यान देना ही छोड़ दिया। राजकोष खाली हो चुका था और मनसबदारों एवं सैनिकों को देने के लिए तनख्वाह [illegible] औरंगजेब के बाद मुगलों की मनसबदारी सैनिक व्यवस्था गड़बड़ा गयी। मनसबदारों को वतन के बदले में [illegible] उसका संकट पैदा हो गया। समस्या इतनी गम्भीर हो गयी कि भीमसेन के अनुसार बहादुरशाह ने अपने अफसरों [illegible] के लिए राजपूतों को उनके राज्य से जागीरें देने के लिए मनाया। आनन्दराम मुखलिस के अनुसार, "फर्रूखसियर के समय में जागीर प्रदान करना केवल कागजी कार्यवाही रह गयी। इसके बाद तो 'एक अनार और सौ बीमार' वाली कहावत जागीरों [illegible] गयी। जागीरों के लिए संघर्ष व गुटबाजियाँ शुरू हो गयीं और सारी सैनिक व्यवस्था गड़बड़ा गई। सम्राट की कोई सुदृढ़ [illegible] नहीं रह गयी और सामन्त अपने स्वार्थ में अपनी सेना का इस्तेमाल करने लगे। परिणामतः मुगल साम्राज्य का पतन हुआ।

चार, औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर राज्य–सिंहासन के दावेदारों के मध्य युद्ध एक नियम सा बन गया था जिसका कारण मुगल साम्राज्य में उत्तराधिकार पाने के लिए कोई निश्चित नियम नहीं था जिससे शान्ति के साथ राज्यारोहण हो सके। प्रत्येक बादशाह की मृत्यु के बाद सिंहासन के लिए गृह–युद्ध व भ्रातृ–घातक युद्ध हुआ करते थे। 'तख्त या तख्ता अर्थात् सिंहासन या मृत्यु वाला सिद्धान्त अपनाया हुआ था। सम्राट के मरते ही मुगल दरबार में दलबन्दियाँ और षड़यन्त्र शुरू हो जाते और थोड़े–थोड़े समय बाद साम्राज्य की नींव हिल जाया करती थी। शाहजहाँ के समय में तो सम्राट के जीवन काल में ही उसके पुत्रों में इतना भीषण युद्ध हुआ कि वह दो वर्ष तक चला और बादशाह को स्वयं कैदी का जीवन व्यतीत करना पड़ा। औरंगजेब के बाद तो उत्तराधिकार के लिए संघर्ष करना एक परम्परा ही बन गयी और सम्राट जो अमीर उसे सिंहासन पर बैठाते उनकी कठपुतली बन गये। दरबार में विरोधी और षड़यन्त्रकारी दल बन गये और मुगल सरकार की शक्ति क्षीण हो गयी। देश के सम्मुख गम्भीर समस्याओं के विषय में सोचने वाला कोई नहीं रहा और सब लोग अपनी–अपनी स्वार्थ–सिद्धि में लग गये। एक–दूसरे को लड़वाने के प्रयत्न किये जाते रहे। ऐसी स्थिति में मुगल साम्राज्य का पतन स्वाभाविक था।

पाँच, इस प्रकार धीरे–धीरे मुगल साम्राज्य जर्जरित हो गया था। साम्राज्य सिर्फ नाम मात्र का रह गया था। इसका अस्तित्व मात्र मुगल बादशाह की प्रतिष्ठा पर आधारित था। इस प्रतिष्ठा का आधार मुगल राजवंश का गौरवशाली इतिहास था। इस प्रतिष्ठा को नादिरशाह एवं अहमदशाह अब्दाली जैसे विदेशियों के आक्रमणों ने समाप्त कर दिया। मुगल साम्राज्य की रही सही प्रतिष्ठा को इन दोनों विदेशी आक्रमणकारियों ने समाप्त कर दिया। सेना नपुंसक हो गयी और बाह्य आक्रमणकारियों का सामना न कर सकी। नादिरशाह द्वारा मुगल सम्राट को कैद करके दिल्ली लाया गया। आनन्दराम ने लिखा है कि "बाबर और अकबर का पतित वंशज चुपचाप लज्जा के साथ राजधानी में घुसा। उसके आगे न कोई बाजा बज रहा था और न कोई झण्डे थे। नादिरशाह स्वयं शाहजहाँ के 'तख्त–ए–ताऊस' पर बैठा, दिल्ली को मुगल बादशाह की आँखों के सामने बुरी तरह से लूटा और राज–कोष में जितना भी धन, हीरे–जवाहरात व वस्तुएं थीं, सब अपने साथ जाते समय लेता गया और मुगल सम्राट मुहम्मदशाह को अपने हाथों से बादशाह बना कर गया। इस सारी घटना से मुगल सम्राट व साम्राज्य की रही सही प्रतिष्ठा भी समाप्त हो गयी। बची खुची इज्जत को अहमदशाह अब्दाली ने समाप्त कर दिया और पानीपत के तीसरे युद्ध में उसने मुगल साम्राज्य के साथ मराठों की प्रतिष्ठा को भी धूल में मिला दिया। यह सही है कि मुगल साम्राज्य का आरम्भ और अन्त पानीपत की रणभूमि पर हुआ। पानीपत के युद्ध के बाद दिल्ली में कई वर्षों तक मुगल बादशाह ही नहीं रहा।

नए राज्यों का उदय मुगल साम्राज्य के पतन का प्रतीक

मुगल साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया तो शाहजहाँ के अन्तिम वर्षों से ही प्रारम्भ हो गई थी। औरंगजेब के काल में इसमें [illegible] आई थी लेकिन उसकी मृत्यु के तत्काल बाद साम्राज्य का पतन भी नहीं हो गया था। इस मुगल बादशाह की मृत्यु [illegible] की सत्ता स्थापना के बीच अनेक पीढ़ियों का अन्तर था। उसकी मृत्यु के बाद तख्त पर बैठे बादशाहों की राजनीतिक [illegible] निश्चित ही खराब होती जा रही थी लेकिन तख्त की प्रतिष्ठा अभी भी बरकरार थी। इसका अनुमान इसी से लगाया [illegible] है कि प्लासी युद्ध के पश्चात् भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी, मुगल बादशाह से बंगाल के दीवानी अधिकारों का प्राप्त [illegible] कर रही थी। इस समय एवं इसके पश्चात् बादशाह की स्थिति में लगातार गिरावट आ रही थी लेकिन किसी में [illegible] राजसिंहासन पर कब्जा करने का साहस नहीं था। यही नहीं मराठा बाद में अत्यधिक शक्तिशाली हो गए [illegible] सिन्धिया तक ने कभी भी अपने को साम्राज्य का शासक घोषित नहीं किया बल्कि बादशाह के नाम से ही [illegible]

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजों एवं मराठों के उभरने के पश्चात् निश्चित ही मुगल साम्राज्य की जड़ें सिकुड़ती जा रही थी एवं बादशाहों की स्थिति भी निरन्तर कमजोर होती जा रही थी लेकिन फिर भी बादशाहत की प्रतिष्ठा पर ही सब कुछ चल रहा था। लेकिन वास्तविक झटका औरंगजेब की मृत्यु के बाद उभरे नए राज्यों से लगा। ये राज्य थे हैदराबाद, बंगाल और अवध। ये ऐसे राज्य थे जो मूलतः मुगल साम्राज्य का अंग थे लेकिन बाद में इन्होंने अपने को साम्राज्य से अलग कर लिया एव स्वतन्त्र इकाई के रूप मे कार्य करने लगे। इस प्रकार के राज्यों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही थी जिनमें मुख्य थे– मराठा, जाट, सिक्ख, अफगान एवं मैसूर। इन नए राज्यों ने मुगल साम्राज्य की कमजोर होती स्थिति का लाभ उठा कर अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया था। इनकी स्थापना करने वाले भी मुगल अमीर थे।

मुगल बादशाहों ने भी अपनी निरन्तर कमजोर स्थिति की सच्चाई को पहचान लिया था एवं स्वतन्त्र होने वाले राज्यों एवं उसके शासकों को मान्यता देना शुरू कर दिया। उनके सामने इसको छोड़ कर कोई और रास्ता नहीं था। इसमें हैदराबाद राज्य एवं उसके शासक का उदाहरण है। मुहम्मद शाह ने उसे निजाम–उल–मुल्क की पदवी प्रदान की थी।

जैसा कि पूर्व में संकेत किया है कि मुगल अमीरों ने ही स्वतन्त्र रियासतों को कायम करने की पहल की थी जिनमें तूरानी एवं ईरानी, मुख्य थे। तूरानियों ने हैदराबाद, ईरानियों ने अवध एवं मुर्शीद कुली खाँ ने बंगाल की स्थापना की। इस प्रकार मराठा सरदारों ने पूना एवं सतारा में अपने सत्ता केन्द्र स्थापित किए। इन सब स्वतन्त्र राज्यों के उदय ने मुगल साम्राज्य के विघटन की पूर्ण घोषणा कर दी थी। इनके उभरने से विशाल मुगल साम्राज्य खण्ड–खण्ड होकर विभाजित हो गया एवं एक समय ऐसा आया जब अकबर द्वारा फैलाया गया साम्राज्य सिर्फ दिल्ली के आस–पास के क्षेत्रों तक ही सीमित रह गया।

मुगल साम्राज्य के पतन के लिए परम्परागत एवं आधुनिक मत

बाबर द्वारा स्थापित साम्राज्य ने लगभग तीन सदियों का सफर किया एवं इस लम्बे दौर में एक विदेशी आक्रमणकारी के उत्तराधिकारियों का सांस्कृतिक आदान–प्रदान के जरिए पूर्णतः भारतीयकरण हो गया। इसकी विशेषता यही रही कि इस साम्राज्य के शासक भारत की मिट्टी में इस तरह घुलमिल गए कि इनकी अलग से कोई विशेष पहिचान नहीं रह गई।

बाबर के साम्राज्य को अकबर जैसा योग्यतम शासक मिला जिसने साम्राज्य का हर दृष्टि से विकास किया। उसने सम्पूर्ण उत्तर भारत के अतिरिक्त दक्षिण तक इसको फैलाया। अफगानिस्तान एवं मध्य एशिया तक इसके प्रभाव को फैलाया। उसने न केवल राजनीतिक दृष्टि से बल्कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी इसको एक नई दिशा दी। उसने सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु दृष्टिकोण अपना कर एक नई साझा संस्कृति को जन्म दिया। उसने राजपूतों के लिए प्रशासन के दरवाजे खोल कर शासन में उनकी भागीदारी निश्चित की। उसकी इन्हीं नीतियों का पालन उनके उत्तराधिकारियों ने ऐसा ही किया। जहाँगीर एवं शाहजहाँ थोड़े बहुत भटकावों के अतिरिक्त अकबर के अनुयाई ही रहे। औरंगजेब ने उत्तराधिकार के युद्ध में महाराणा राज सिंह को लिखे निशान के माध्यम से अकबर के सिद्धान्तों की ही घोषणा की थी। राज्यारोहण के तत्काल पश्चात् भी उसने मोटे तौर पर उन्हीं नीतियों का पालन किया था लेकिन धीरे–धीरे उसने अपनी नीतियों में परिवर्तन प्रारम्भ कर दिए। बाद के सालों में उसने जजिया नामक कर लगा कर अपनी नीति में बदलाव की घोषणा कर दी थी। इस दौर में उसकी राजनीति में परिवर्तन साफ झलकने लगा था। मारवाड़ को मुगल साम्राज्य में मिला कर राजपूत राज्यों के प्रति अपनी बदली नीति की घोषणा कर दी थी। इसी दौर में जमींदार–किसान विद्रोह भी उसकी आर्थिक नीतियों का परिणाम थे। इसके अतिरिक्त दक्षिण में उसका उलझे रहना मुगल प्रशासन के लिए घातक सिद्ध हुआ। यहाँ का प्रशासन जो उसके आतंक एवं दबदबे से चल रहा था उसमें दरारें आना आरम्भ हो गई थीं। उसके अन्तिम वर्षों में ही साम्राज्य पतन उसके दरवाजे पर दस्तक देने लगा था। इसलिए जो इतिहासकार यह कहते नहीं थकते कि औरंगजेब देश की एकता बचाने के लिए अन्तिम समय तक लगा रहा वे सिर्फ इस मुगल बादशाह को बचाने का प्रयास मात्र कर रहे हैं। वे सिर्फ अपने तर्कों के माध्यम से गलतफहमी पैदा करना चाहते हैं। परिस्थितियों का तार्किक एवं वैज्ञानिक अध्ययन इसी बात की ओर संकेत करता है कि पतन जोर–जोर से दस्तक दे रहा था।

ऐसे इतिहासकारों की यह बात सही है कि औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् मुगल सम्राट की प्रतिष्ठा एवं मुगल शासन की प्रतिष्ठा खत्म होती चली गई। उनका यह तर्क भी बिल्कुल सही है कि मनसबदारी और जागीरदारी प्रणाली, जिन पर मुगल शासन की कुशलता निर्भर करती थी, विभिन्न कारणों से शासन की बर्बादी का कारण बनी। मुगल दरबार राजनीतिक पार्टियों का अखाड़ा बन गया जिससे स्थिति में और बिगाड़ पैदा हुआ। चूँकि सम्राट के अधिकारों पर उमरा वर्ग ने नियन्त्रण कर लिया था, इसलिए सम्राट उनके

हाथ में कठपुतली बन कर रह गया और देश का सारा काम–काज खुदगर्ज और लालची अमीरों के हाथ में आ गया। केन्द्रीय शासन की कमजोरी की वजह से उमरा और जमींदारों ने देश में विभिन्न प्रान्तों में अपने राज्य कायम कर लिए। इस प्रकार लगभग 150 वर्षों तक मुगल साम्राज्य भली–भाँति चल कर ठप्प हो गया। 1739 ई0 में नादिरशाह का आक्रमण इस पुराने गिरते हुए मुगल ढाँचे के लिए अत्यधिक हानिकर सिद्ध हुआ और इस हमले से पतन का क्रम बहुत तेज हो गया।

आधुनिक इतिहासकारों ने मुगल साम्राज्य के पतन का विस्तार से अध्ययन किया है। उनके इस अध्ययन की शुरूआत आजादी से पूर्व हुई थी एवं आज भी जारी है। जैसे–जैसे नए साक्ष्य सामने आते हैं, नए–नए कारण उभर कर सामने आते हैं। कुछ इतिहासकार उपलब्ध साक्ष्यों के नए तरीके से विश्लेषण करके नए तर्कों के सहारे पतन के नए कारण ढूँढ़ते हैं। एक बात यह है कि नए तर्कों का जन्म अनुभव के परिपक्व होने या उसके लम्बे होने से भी होता है। इस प्रकार अलग–अलग इतिहासकारों ने घटनाओं एवं व्यक्तियों के अध्ययन के आधार पर पतन के कारण बताए। कुछ के कारण व्यक्ति–केन्द्रित एवं अन्यों के वस्तुनिष्ठ थे। उदाहरणार्थ कुछ इतिहासकार औरंगजेब को पतन के लिए जिम्मेदार मानते हैं। उनका मानना है कि वह क्रूर, धर्मान्ध तथा अदूरदर्शी एवं अविवेकी शासक था जिसने अपनी धार्मिक कट्टरता और गलत नीतियों के वशीभूत होकर मुगल साम्राज्य की जड़ें खोद डालीं। उनके अनुसार मुगल साम्राज्य के पतन के लिए औरंगजेब ही मुख्य रूप से उत्तरदायी था। उसकी नीतियों ने साम्राज्य में विद्रोह का तांता लगा दिया तथा प्रशासनिक एवं आर्थिक व्यवस्था नष्ट कर दी। एक शासक के रूप में औरंगजेब विफल रहा। दूसरे विद्वानों ने नादिरशाह एवं अहमदशाह अब्दाली के हमलों को उत्तरदाई माना है। कुछ अन्य इतिहासकारों ने मुगल संस्थाओं अर्थात् जागीरदारी एवं मनसबदारी में आई अव्यवस्था के कारण से साम्राज्य का पतन होना माना है। आगे के पृष्ठों में इन्हीं कारणों की खोज की जा रही है जो निम्नलिखित है:–

उत्तरकालीन शासकों की अयोग्यता एवं भोग विलास

इतिहासकारों द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि मध्यकालीन साम्राज्य और शासन व्यवस्था सम्राटों की योग्यता एवं नैतिक शक्ति पर टिकी होती थी। दुर्भाग्यवश औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् से उसके उत्तराधिकारियों में दोनों गुणों का अभाव था। अब वे तलवार से अधिक स्त्री एवं शराब से प्रेम करने लगे थे। बहादुरशाह 'शाह–ए–बेखबर' कहलाता था। श्री राम शर्मा के अनुसार जहादारशाह एवं अहमद शाह को अपनी रखैलों के बाहु बन्धनों से ही फुर्सत नहीं मिलती थी एवं वे उसी अवस्था में ही गिरफ़्तार किए गए थे। जहाँदारशाह अपनी प्रेयसी लाल कुँवर के साथ प्रेम प्रदर्शन करता था एवं जिसके परिणामस्वरूप उसे दस माह में ही अपने साम्राज्य को खोना पड़ा। अहमदशाह तो अपने रनिवास में ही अधिकाँश समय बिताता था। फर्रूखसियर को जनानखाने से खोज कर गला घोंट कर मार डाला गया।

इसके अतिरिक्त शराब के नशे की लत को साम्राज्य पतन के लिए भी जिम्मेदार ठहराया गया है। जदुनाथ सरकार ने इस सन्दर्भ में शाह आलम द्वितीय के 1778 ई0 के एक पत्र का हवाला दिया है। इस पत्र में सम्राट ब्रिटिश गवर्नर जनरल को लिखता था कि उसने दो मन बढ़िया अफीम भेजने की प्रार्थना की थी। इस तर्क का डॉ0 फिरदौस अनवर ने अपने तर्क के सहारे खण्डन किया है। उसने लिखा है कि यह सिद्ध करना बहुत मुश्किल है कि 16वीं और 17वीं शताब्दी के मुगल शासक 18वीं शताब्दी के अपने उत्तराधिकारियों से कितने कम ऐयाश थे? अफीम, शराब और दूसरी नशे वाली चीजें मुगल सम्राटों और मुगल उमरा में सदा से प्रचलित थीं। कुछ उदाहरण देकर इस बात को सिद्ध किया जा सकता है कि अठारहवीं शताब्दी से पहले भी मुगलों में ऐयाशी पूर्ण रूप से फैली हुई थी। जहाँगीर ने शाहजहाँ को अपने सामने अपने आदेश से शराब पिलवाई थी और आगे के लिए भी कहा था कि वह जश्न के मौके पर शराब पिया करे क्योंकि यह बादशाहत की निशानी है। अकबर के एक पंचहजारी मनसबदार जनखाँ कोका ने सम्राट की दावत की। इस अवसर पर अपने घर को सजाने के लिए दूसरी चीजों के अतिरिक्त उसने अपने घर के तीन तालाबों को गुलाब, जाफरान और अरगजे (एक प्रकार की खुशबू) से भरवाया और 1000 से जयादा वेश्याएँ उनमें उतार दीं। शक्कर मिले हुए दूध की नहरें बहा दीं। पानी के बजाय चौक में गुलाबजल छिड़का गया। इसी सूत्र में हमें यह भी पता चलता है कि इस अमीर की मौत भी शराब की अधिकता से हुई। अकबर के काल की ऐयाशी किसी भी तरह अठारहवीं शताब्दी के शासकों से कम नहीं बताई जा सकती।

डॉ0 अनवर ने अपने तर्क के समर्थन में मासिर–उल–उमरा को उद्धृत करता है। वह लिखता है कि इस ग्रन्थ का लेखक शाहबेग खाँ अरगुन एक जहाँगीरी मनसबदार का जिक्र करता है जो हर समय नशे में धुत रहता था। वह कहा करता, 'सुराही नजर के सामने रहे चाहे दुनिया न रहे!" भंग, अफीम और कोनार शराब में मिला कर पीता था। इस मनसबदार का मनसब पाँच हजारी

बताया गया है। इतना शराबी होते हुए भी शाहबेग इतने ऊँचे मनसब पर पहुँचा, इसको शराब का अच्छा प्रभाव कहा जाए या बुरा? शाहजहाँ के एक बड़े अमीर शाहनवाज खाँ सफवी को गाने का इतना शौक था कि उसकी सरकार से अधिक गवैये किसी अमीर के पास नहीं थे। इन थोड़े से उदाहरणों से यह पूरी तरह स्पष्ट है कि ऐशो आराम सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में अपनी चरम सीमा पर था मगर इससे साम्राज्य का पतन नहीं हुआ। आश्चर्य की बात यह है कि मुगल साम्राजय में खराबियाँ उस वक्त आनी शुरू हुईं जब मुगल सम्राट दरबार में ऐयाशी पर प्रतिबन्ध लग चुका था। औरंगजेब से जयादा श्रेष्ठ चरित्र किसी मुगल सम्राट का नहीं रहा। शराब, नाच–रंग और दूसरी ऐसी बातों से वह कोसों दूर रहा, फिर भी यह कह कर मरा, "सारे झगड़े की जड़ मैं हूँ" (अज मा हमां फसाद बाकी)।

डॉ0 अनवर की यह बात सही है कि शराब पीना मध्यकालीन समाज के शासकों की एक मूल्य व्यवस्था का अंग हो गई थी। लेकिन यह बात तो निश्चित् है कि इस मान्यता के बावजूद इसे साम्राज्य के सैनिक अभियानों या प्रशासन के लिए अहितकर माना जाता था। अगर ऐसा न होता तो महाराणा सांगा के विरुद्ध युद्ध से पूर्व बाबर ने सारे शराब के बर्तन तोड़ते हुवे उसे न पीने की कसम क्यों खाई थी। इसके अतिरिक्त भोग–विलास में शराब के अतिरिक्त रखैलों के चक्कर में प्रशासन की अनदेखी भी सम्मिलित होता है जिस पर डॉ0 अनवर ने अपना कोई मत प्रकट नहीं किया है। अतः यह कहा जा सकता है कि भोग–विलास के कारण से प्रशासन में शिथिलता आई जो अन्त में साम्राज्य के पतन का कारण बनी।

औरंगजेब की धार्मिक नीति

औरंगजेब की धार्मिक नीति को मुगल साम्राज्य के पतन के लिए जिम्मेदार मानने वालों में कई इतिहासकार हैं जिनमें सर जदुनाथ सरकार प्रो0 आशीर्वादी लपल श्रीवास्तव एवं डॉ0 श्रीराम शर्मा मुख्य हैं। जदुनाथ सरकार के अनुसार "न उम्र और न ही जीवन के अनुभव औरंगजेब की कट्टरता को कम कर पाए।" उन्होंने मुगल बादशाह की "हिन्दू विरोधी धार्मिक नीति" को मुगल साम्राज्य के पतन के लिए जिम्मेवार माना। उन्होंने लिखा है कि उसकी नीति के परिणामस्वरूप होने वाली हिन्दू प्रतिक्रिया के कारण हिन्दू एवं मुसलमान के बीच जो भाई–चारा चला आ रहा था वह समाप्त हो गया था जिसे अकबर एवं उसके उत्तराधिकारियों ने स्थापित किया था। डॉ0 श्रीवास्तव ने कहा है कि वह सुन्नी मुसलमान था इसलिए कुरान के नियमों को लागू करना लाजिमी था। उसने गैर–मुसलमानों को गुलाम के स्तर तक गिरा दिया एवं उन्हें इस्लाम स्वीकार करने के लिए मजबूर किया। यह नीति किसी भी इस्लामिक देश में उचित हो सकती है लेकिन उस देश में जहाँ की 80 प्रतिशत जनता हिन्दू है एवं वह अपने पूर्वजों के धर्म को न छोड़ने के लिए कृत संकल्प है। इसी प्रकार श्रीराम शर्मा ने औरंगजेब के धार्मिक असहिष्णुता के कार्यों पर विचार करते हुए लिखा है कि ये सभी कार्य एक योग्य शासक अथवा एक निर्माणकर्ता राजनीतिज्ञ के नहीं थे बल्कि एक अन्ध–धर्मान्धता का फूट पड़ना था जो निःसन्देह अन्य सभी क्षेत्रों में मेधावी औरंगजेब के लिए शोभनीय न था। इस प्रकार औरंगजेब की योग्यता, गुण और नीति आदि सभी उसकी उस व्यक्तिगत धर्मान्धता के आगे दब गये जिसका प्रयोग उसने एक शासक की हैसियत से किया। औरंगजेब द्वारा अकबर की सहिष्णुता की नीति में परिवर्तन करना मुगल साम्राज्य के लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ। उसकी इस असहिष्णुता की नीति के कारण साम्राज्य में अनेक विद्रोह हुए। जाटों, सतनामियों और सिक्खों के विद्रोह में धार्मिक कारण मुख्य था। राजपूतों का विरोध और मराठों के संघर्ष का कारण राजनैतिक के साथ धार्मिक भी था। इनसे राज्य में अशान्ति, अव्यवस्था और निरन्तर संघर्ष की स्थिति पैदा हुई जिससे न केवल औरंगजेब असफल सिद्ध हुआ बल्कि मुगल साम्राज्य के पतन के लिए भी उत्तरदायी बना।

उपर्युक्त सभी इतिहासकारों एवं अन्य विद्वानों ने जो औरंगजेब की धार्मिक नीति के सम्बन्ध में विचार प्रकट किए हैं उनको निम्नलिखित शब्दों में रेखांकित किया जा सकता है :–

"औरंगजेब एक धर्मान्ध शासक था। भारत को इस्लामी राज्य में परिवर्तित करने की प्रबल इच्छा के कारण उसने गैर–मुसलमानों को इस्लाम धर्म में दीक्षित करने के लिए अनेक प्रयत्न किये थे। इसके अलावा हिन्दुओं के मन्दिरों को विध्वंस करने तथा उन पर जजिया–कर लगाने से वह हिन्दुओं का प्रेम व सहयोग पाने से वंचित रह गया था। उसकी धार्मिक असहिष्णुता की नीति हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं थी बल्कि उसे शिया मुसलमानों से भी चिढ़ थी। बीजापुर और गोलकुण्डा के शिया राज्यों को नष्ट करने के पीछे एक कारण धार्मिक भी था। जजिया, तीर्थ–यात्रा कर, व्यापारिक कर, हिन्दुओं को सरकारी नौकरियों से हटाना, मन्दिरों का विनाश और हिन्दुओं को जबरदस्ती इस्लाम में दीक्षित करने के प्रयत्न आदि सब ऐसे कारण थे जिससे हिन्दू प्रजा औरंगजेब से घृणा करने लगी और विद्रोह होने लगे। जाट, सतनामी और सिक्खों के विद्रोहों का यही कारण था। राजपूतों और मराठों से निरन्तर संघर्ष के लिए भी औरंगजेब की असहिष्णुता की नीति ही उत्तरदायी थी। अकबर ने जिस हिन्दू जनता का प्यार प्राप्त किया था

तथा जहाँगीर और शाहजहाँ ने जिसे कायम रखा था, औरंगजेब ने उसे खो दिया था और फिर जिसने हिन्दू जाति का सम्मान भारत में बाहुल्य था, विश्वास खो दिया। वह लम्बे समय तक भारत में टिक नहीं सकता था।

इन इतिहासकारों का मुख्य तक्र औरंगजेब की हिन्दू विरोधी नीति है जिसका उत्तर प्रो0 अतहर अली ने देने का प्रयास किया है उनका तक्र है कि इस मुगल बादशाह के समय में बड़ी संख्या में हिन्दुओं को सरकारी सेवा में लिया गया। उन्होंने शाहजहाँ एवं औरंगजेब के समय के हिन्दू मनसबदारों की संख्या का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

औरंगजेब के काल में हिन्दू मनसबदारों की संख्या में वृद्धि हुई जैसा कि डॉ0 अतहर अली ने स्पष्ट किया है। शाहजहाँ के काल में 500 से 5000 तक के मनसबदारों में हिन्दू उमरा 22.4 प्रतिशत थे जबकि औरंगजेब के काल में यह सख्या बढ़ कर 31.6 प्रतिशत तक पहुँच गई। इसके अतिरिक्त शाहजहाँ के जमाने में कोई भी राजपूत मनसबदार 7000 का मनसब नहीं रखता था परन्तु औरंगजेब के जमाने में मिर्जा राजा जय सिंह और महाराजा जसवन्त सिंह को 7000 जात और 7000 सवार के ऊँचे मनसब दिए गए। 1606 ई0 में बंगाल से राजा मान सिंह को बुलाए जाने के बाद से किसी राजपूत मनसबदार को किसी महत्वपूर्ण सूबे का भार नहीं सौंपा गया था। परन्तु 1665 ई0 में औरंगजेब ने जय सिंह को दक्षिण सूबे का अधिकारी नियुक्त किया। आमतौर पर यह सूबा शाही खानदान के सदस्यों को सौंपा जाता था। जसवन्त सिंह को भी दो बार गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया गया (1659–61 और 1670–72 ई0)। औरंगजेब के बर्ताव से प्रभावित होकर बर्नियर ने, जो 1665 ई0 तक आगरे में मौजूद था, लिखा है कि एक मुसलमान होने के बावजूद, और इस प्रकार से हिन्दुओं का दुश्मन होते हुए भी यह महान् मुगल (औरंगजेब) राजपूतों की बड़ी संख्या अपनी सेवा में रखता है। अपने दूसरे बड़े अमीरों की तरह उनके साथ बर्ताव करता है और उनको सेना के उच्च पदों पर नियुक्त करता है।

यही नहीं प्रो0 अतहर अली ने हिन्दू मनसबदारों में राजपूत मनसबदारों के अनुपात का अध्ययन भी किया है जो अत्यन्त दिलचस्प है। उनके अनुसार 1679 और 1707 ई0 के बीच 575 मनसबदारों में से राजपूतों की संख्या केवल 73 थी अर्थात 12.6 प्रतिशत जबकि 1658–78 ई0 के बीच उनकी संख्या 14.6 प्रतिशत थी। इन आँकड़ों से राजपूतों की संख्या में भारी कमी प्रकट होती है। प्रो0 श्रीराम शर्मा ने इस कमी को औरंगजेब की "हिन्दू विरोधी धार्मिक नीति" से जोड़ दिया है। परन्तु औरंगजेब के गैर–दक्षिणी उमरा की गणना से पता चलता है कि 1679–1707 ई0 के बीच सारे गैर–दक्षिणी अधिकारियों की संख्या में कमी हुई। इस कमी की शिकायत हमारे स्रोतों में जगह–जगह नजर आती है। अगर गैर–दक्षिणी मनसबदारें में राजपूतों का प्रतिशत देखा जाए तो इसमें वृद्धि नजर आती है। 1658–78 ई0 के बीच राजपूत 16.6 प्रतिशत थे जबकि 1679–1707 ई0 के बीच उनकी सख्या बढ़ कर 16.6 प्रतिशत हो गई।

जागीरदारी संकट

मुगल साम्राज्य के पतन के लिए जिम्मेदार पारम्परिक कारणों के अतिरिक्त आधुनिक इतिहासकारों ने मुगल प्रशासन की संस्थागत कमजोरियों का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन विद्वानों ने इन्हीं कमजोरियों को पतन के लिए मुख्यतः जिम्मेदार ठहराया है। इनमें प्रो0 सतीश चन्द्र, प्रो0 इरफान हबीब एवं प्रो0 अतहर अली प्रमुख हैं। इनके विचारों को डॉ0 अनवर फिरदौस ने अपने एक लेख में सार रूप में प्रस्तुत किया है जो प्रशंसनीय है। इन दोनों विद्वानों ने शोध के आधपर पर इस बहस को आगे बढ़ाया है। प्रोफेसर सतीश चन्द्र ने इस पतन की जिम्मेदारी मनसब और जागीरदारी प्रणालियों की असफलता पर डाली है, क्योंकि उनकी दृष्टि में मुगल साम्राज्य की स्थिरता के लिए इन दोनों प्रणालियों का स्पष्ट ढ़ंग से कार्य करते रहना आवश्यक था, मुगल शासक वर्ग सामाजिक अधिशेष अर्थात् कृषि के अतिरिक्त उत्पादन पर निर्भर करता था। अठारहवीं शताब्दी में सामाजिक अधिशेष तथा शासक वर्ग की बढ़ती हुई माँगों के बीच अन्तर बढ़ जाने से दोनों का सन्तुलन समाप्त हो गया। दिन–प्रतिदिन शासन का बोझ लड़ाइयों के खर्चे और उमरा वर्ग के ऐशो आराम से भरे जीवन की आवश्यकताएँ बढ़ती गई और उसी अनुपात से सामाजिक अधिशेष घटता चला गया। इस सन्तुलन के समाप्त हो जाने से मनसब प्रणाली में त्रुटियाँ प्रकट होने लगीं। भारत की अर्थव्यवस्था आज की तरह उस समय भी कृषि पर निर्भर करती थी, इसलिए सरकार की आय में निरन्तर बढ़ोतरी कृषि उत्पादन की मात्रा तथा गुणवत्ता को बढ़ाए बिना सम्भव नहीं थी। इसमें सन्देह नहीं कि मुगल सम्राटों ने कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए लगातार प्रयत्न किए। किसानों को ऋण दिए जाते थे (तकावी), सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध थीं। इसके अतिरिक्त बंजर भूमि को जोत में लाने के लिए सरकार किसानों को हर तरह का प्रोत्साहन देती थी। परन्तु ये सारी कोशिशें बढ़ते हुए खर्चों के सामने नाम मात्र की थीं।

दक्षिण के राज्यों से भी इस कमी की पूर्ति न हो सकी क्योंकि दक्षिण खुद घाटे की भूमि थी। दक्षिण की भूमि को मुगल राज्य में मिलाने के लिए औरंगजेब को छल, बल और लालच का सहारा लेना पड़ा। दक्षिण के उमरा को अपने साथ मिलाने के लिए उसने उन्हें मनसब और जागीर देने के वायदे किए। इस प्रकार उमरा की एक विशाल सेना मनसब और जागीर की हकदार हो गई। राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए सरकार के लिए यह जरूरी था कि इस दक्षिणी उमरा को सन्तुष्ट रखा जाए क्योंकि सम्राट के हाथ में जागीरें कम थीं और उम्मीदवार हिसाब से कहीं ज्यादा। इसलिए इस असन्तुलन को अस्थायी रूप से समाप्त करने के लिए पुराने मनसबदारों के भाग में कटौती की जाने लगी। औरंगजेब की इस नीति को खानाजादों (पुराने मरसबदार) ने अपने अधिकारों पर हमला माना और मुगल दरबार राजनीतिक गुटों में विभाजित हो गया। विभाजन से क्रमशः तनाव बढ़ता चला गया। जागीर की अनुमानित आय और वास्तविक हासिल के बीच का अन्तर जो औरंगजेब से पहले से चला आ रहा था, इस राजनीतिक गुटबन्दी और तनाव को बढ़ाने का कारण बना। अमीर वर्ग अपने गुट के लिए अच्छी आय वाली और आसानी से नियन्त्रण में आने वाली जागीरें प्राप्त करने की दौड़–धूप में लग गए। दूसरी तरफ, इन सब कार्यवाहियों का किसान और भूमि पर बुरा प्रभाव पड़ा।

छोटे जागीरदारों ने लगान वसूल करने की उलझन से बचने के लिए लगान का इजारा या ठेका देना शुरू कर दिया। इस प्रथा से किसानों पर दबाव दुगुना हो गया क्योंकि महाजन सबसे बड़ी बोली लगा कर ठेका लेता था और अपनी पूँजी को बढ़ाने के लिए किसानों पर तरह–तरह से जुल्म करता था। अठारहवीं शताब्दी में इजारेदारी का रिवाज बहुत ज्यादा बढ़ चुका था और उसी हिसाब से किसानों पर अत्याचार भी बढ़ गया। जब किसानों की सहनशक्ति जवाब दे गई तब वे भूमि छोड़ कर भागने लगे। गाँव वीरान होने लगे। इस स्थिति ने जमींदारों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया। हालाँकि जहाँ तक अधिशेष पर निर्भरता का प्रश्न है, जमींदार और जागीरदार दोनों एक ही श्रेणी में गिने जाते थे परन्तु इन दोनों के स्वार्थों में जमीन–आसमान का अन्तर था। जागीरदार के विपरीत जमींदार का सम्बन्ध जमीन और किसानों से पुश्तैनी था। किसान का हद से ज्यादा दबाया जाना जमींदार के लिए हानिकारक था। खेती का उजाड़ और गाँव का उजड़ना जमींदार के आय के स्रोतों की बरबादी थी। शक्तिशाली जमींदारों ने इस स्थिति का मुकाबला करने के लिए हथियार उठा लिए। इन घटनाओं के परिणामस्वरूप मुगल सरकार की आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक शक्ति टूटती चली गई। यह शुरूआत थी मुगल साम्राज्य के पतन की। प्रो0 अतहर अली ने सतीश चन्द्र के विचारों से पूर्ण सहमति प्रकट की है। उन्होंने इस विचारधारा की पुष्टि के लिए अनेक ऐतिहासिक प्रमाण भी दिए हैं।

कृषि संकट

इसके अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण कारण मुगल साम्राज्य में कृषि क्षेत्र में पनप रहा कृषि संकट था जिसने साम्राज्य की जड़ें खोखली कर दीं। इस विचार को व्यक्त करने वाले प्रो0 इरफान हबीब हैं। उनके इस अध्ययन को संक्षिप्त रूप में डॉ0 अनवर फिरदोस ने निम्नलिखित शब्दों में संक्षिप्त करके प्रस्तुत किया है :–

सरकार द्वारा जमादामी का बढ़ाया जाना और जागीरदारों की एक जगह से दूसरी जगह बदली किसानों पर अत्याचार का कारण बनीं। जमादामी में बढ़ोतरी से सरकार मनसबदार से उसकी क्षमता से ज्यादा सैनिक शक्ति बढ़ाने की आशा रखती थी। लेकिन साथ ही साथ सरकार यह भी चाहती थी कि किसानों का शोषण न हो जबकि जागीरदार सरकार की उस आशा की पूर्ति के लिए अपने आय के साधनों को बढ़ाने का प्रयत्न करता था। इससे जमीन पर दबाव बढ़ा। दूसरी ओर बदली के रिवाज ने किसानों और जमीन में जागीरदार की रुचि को खत्म कर दिया। वह जानता था कि थोड़े समय बाद उसे इस जागीर से हटा दिया जाएगा और कोई दूसरा अधिकारी उसकी जगह ले लेगा। इस आशंका ने उसे किसान और जमीन की उन्नति के प्रयासों से विमुख कर दिया। उसका उद्देश्य केवल जागीर से धन बटोरना रह गया। उसको किसान की दशा और जमीन की उपजाऊ शक्ति से अधिक अपने व्यक्तिगत तथा तात्कालिक लाभ में रुचि थी।

प्रो0 हबीब ने बर्नियर, हाकिंस, मनरिक आदि के कथनों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है। भारतीय लेखकों में भीमसेन के कथन का विवरण देते हुए उन्होंने लिखा है कि जागीरदारों के लगातार और अचानक तबादलों के फलस्वरूप जागीरदारों ने किसानों की मदद करने के तरीकों और स्थायी प्रबन्ध के सिद्धान्तों को छोड़ दिया। इसके अतिरिक्त जागीरदारों के एजेण्ट क्योंकि स्वयं अपने सेवा की अवधि से असन्तुष्ट थे, इसलिए कठोर तरीके अपनाते और किसानों पर लगान वसूल करने के लिए कहर ढ़ाते थे। जब ये जागीरें इजारे पर उठा दी जातीं तब ये अत्याचार और भी बढ़ जाते थे। किसान अपने को लगान देने की स्थिति में न पाकर जमीन छोड़ कर भाग जाता था। इससे 'जोर तलब' जमींदारों (वे जमींदार जिनसे लगान वसूल करने के लिए प्रशासन को शक्ति

का प्रयोग करना पड़ता था) की जमींदारियाँ आबाद होने लगी और सरकार के विरोधी तत्वों की शक्ति में बहुत [illegible] किसानों ने जमींदारों की फौजी टुकड़ियों में सिपाहियों का काम किया। शिवाजी को भी किसानों का सहयोग प्राप्त था [illegible] ने खुद कहा था कि "कोई भी सूबा या जिला ऐसा नहीं जो काफिरों की हुल्लड़बाजी से बचा हो और क्योंकि [illegible] किया जाता इसलिए उन्होंने हर जगह अपना कब्जा जमा रखा है। अधिकतर देश बर्बाद हो चुका है और कोई जगह [illegible] आता है तो वहाँ के किसानों ने शायद डाकुओं (मराठों) से गठजोड़ कर लिया है।

प्रो0 हबीब ने जागीरदारों के तबादले को किसानों के शोषण का मुख्य कारण माना है एवं उनका यह निष्कर्ष विदेशी यात्रियों के विवरणों एवं कथनों पर आधारित है। जबकि इन यात्रियों को भारत के भूमि–सम्बन्धों की पूरी जानकारी नहीं थी। विशेषतः बर्नियर के कथनों पर विश्वास करते हैं। वह एक फ्रान्सीसी यात्री था जो वहाँ के निजी सम्पत्ति की अभिधारणा से प्रभावित है वहाँ के अभिजात वर्ग के भूमि में सम्पत्ति के अधिकार होते थे जबकि भारत में जागीरदारों के पास ऐसे अधिकार नहीं थे

प्रो0 हबीब के तर्कों के केन्द्र में किसान हैं। उनकी मान्यता है कि किसानों का अत्यधिक शोषण, कृषि, सामन्ती या अर्ध–सामन्ती व्यवस्था पर आधारित जितने भी साम्राज्य हुए हैं उनके पतन का कारण जन–सामान्य का विशेष रूप से जागरूक एवं सचेत कृषक वर्ग का असन्तोष ही रहा है। उनके अनुसार मुगल साम्राज्य का पतन जागीर व्यवस्था का ही परिणाम था। जागीरों के हस्तान्तरण ने अत्यधिक शोषण को जन्म दिया जो जमींदार और कृषक, दोनों ही वर्गों के विद्रोह का कारण बना। सभी विद्रोहों में कृषकों की भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण रही, किन्तु वे स्वयं भी जाट, राजपूत, मराठा या अफगान जमींदारों और कबीला–सरदारों के शोषण का शिकार हुए। फिर भी मुगलों को कृषकों के विरोध का सामना ही अधिक करना पड़ा। दक्षिण में मुगलों को असफलता का मुख देखना पड़ा। जहाँ रिश्वत के सहारे वहाँ के राज्यों पर कब्जे किए गए। यह स्थानीय लोगों के विरोध का प्रतीक बना। शाहजहाँ और औरंगजेब के शासन–काल में भी दक्षिण में मुगल प्रशासन अपने राजस्व के बलबूते पर नहीं चल सकता था। दक्षिण में स्थित मुगल सेनाओं पर ज्यादातर खर्च मालवा और गुजरात से प्राप्त राजस्व से होता था।

अठारहवीं सदी में एशिया के समकालीन साम्राज्यों का पतन : व्यापारिक जगत में पतन

प्रो0 अतहर अली ने जागीरदारी संकट के अतिरिक्त मुगल साम्राज्य के पतन के लिए एक और तर्क दिया है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने मुगल साम्राज्य के पतन की तुलना एशिया के अन्य समकालीन साम्राज्यों से की है। उनके अनुसार अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में न केवल मुगल साम्राज्य का अपितु सफाविद साम्राज्य का भी पतन हुआ, उजबेक साम्राज्य विभाजित था और ओटोमन साम्राज्य का भी पतन आरम्भ हो गया था। स्पष्ट ही इन साम्राज्यों का विघटन यूरोपीय शक्तियों के सैन्य हस्तक्षेप से पहले होने लगा था। किन्तु साम्राज्य के पतन और यूरोपीय सैन्य हस्तक्षेप के बीच इतना कम अन्तर था कि यह विचार आना स्वाभाविक है कि वस्तुतः सैन्य शक्ति का प्रयोग करने से पहले ही पश्चिमी साम्राज्य पूर्व साम्राज्यों को एक प्रकार से धक्का लगा चुके थे। प्रो0 अतहर अली का कहना है कि महत्व की दृष्टि से यूरोपियनों की विस्तृत व्यापार व्यवस्था उन सभी बड़े साम्राज्यों की व्यवस्था को प्रभावित कर रही थी जिनका पतन अठारहवीं शती में हुआ।

एक विशिष्ट बिन्दु भी है जो हमारी खोज में मार्गदर्शक या दर्शक का काम कर सकता है। साम्राज्यों का विघटन स्पष्टतः मुख्य रूप से ब्रिटेन और रूस जैसी पश्चिमी उपनिवेशवादी शक्तियों के सशस्त्र आक्रमण से लगनेवाले धक्के से पहले की घटना है। लेकिन समय का इतना कम अन्तर प्रश्न उत्पन्न करता है कि अपनी श्रेष्ठ सैनिक शक्ति को लेकर पूर्वी राज्यों के साथ वास्तविक मुकाबले से पहले भी क्या पश्चिम का उत्थान किसी प्रकार से, पूर्व की राज्य व्यवस्था और समाज का तहस–नहस नहीं कर रहा था, जिसे अभी तक ठीक से नहीं समझा जा सका है।

मध्यपूर्व और भारत के आर्थिक इतिहास के हमारे अध्ययन में यह एक शोचनीय कमी है कि यूरोप और एशिया के बीच [illegible] के फलस्वरूप इन देशों के व्यापार और मण्डियों के स्वरूप में आने वाले परिवर्तनों का कोई सामान्य विश्लेषण नहीं किया [illegible] पूर्वी देशों के लिए तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जाने वाले माल की छोटी सी मात्रा के कारण सोलहवीं और सत्रहवीं [illegible] के महान् व्यापारिक विकास की महत्ता को कम करके देखने की प्रवृत्ति हो गई है। लेकिन प्रश्न मात्रा का नहीं मूल्य का है। [illegible] के सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उन सब अर्थव्यवस्थाओं के कुल उत्पादन का एक बड़ा भाग रहा होगा जिनसे इन [illegible]

निश्चित रूप से विश्व वाणिज्य के केन्द्र के रूप में यूरोप का उत्थान 1500 और 1700 ई0 के बीच की मुख्य घटना थी। नई दुनिया और सागर पार के देशों पर उसका प्रभुत्व था और केप ऑफ गुड होप पर पूर्ण एकाधिकार था। हाल ही क्रे आकलन से पता लगता है कि 1450 ई0 में यूरोप की पाँच करोड जनसंख्या बढ़कर 1700 में 12 करोड़ हो गई थी। विशेष रूप से जर्मनी के तीस वर्षीय युद्ध में हुई जनसंख्या की बर्बादी और स्पेन की जनसंख्या में आए धीमे उतार को ध्यान में रखते हुए यह एक खास उपलब्धि थी। एशिया के सन्दर्भ में ऐसा कोई आकलन नहीं किया गया। लेकिन लगता है कि भारत की जनसंख्या 1600 और 1800 ई0 के बीच काफी हद तक स्थिर रही। मोरलैण्ड द्वारा 1600 ई0 में 10 करोड़ के अनुमान पर उठाया गया प्रश्न सही है और 15 करोड़ की संख्या शायद अधिक सच है। 1868–72 ई0 की जनगणना में 25 करोड़ से कम जनसंख्या निकली। इस प्रकार भारत की जनसंख्या में 270 वर्षों में मुश्किल से 66 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि यूरोप में 250 वर्षों में यह वृद्धि 140 प्रतिशत थी। जनसंख्या वृद्धि का यह फक्र बताता है कि सत्रहवीं सदी के अन्त तक यूरोप और एशिया के बीच आर्थिक सन्तुलन में पहले ही वस्तुतः एक परिवर्तन आ चुका था।

इस परिवर्तन की वास्तविक प्रतिक्रिया अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में हुई। केप ऑफ गुड होप की खोज निश्चित रूप से एक महत्वपूर्ण घटना थी। इसने भारत के लिए एक सीधा, बाधारहित मार्ग प्रदान किया जिसके अठारहवीं शताब्दी में महत्वपूर्ण सामरिक परिणाम निकले। लेकिन प्रमुख आर्थिक परिवर्तन केवल नए मार्ग की खोज से ही नहीं होते। मुख्यतः विलास की वस्तुओं एवं दस्तकारी माल के यूरोप के विश्व की प्रमुख मण्डी के रूप में उभरने से यह पता चलता है। आर्थिक इतिहासकार अभी तक मुख्यतः यूरोप की भुगतान की समस्या में ही उलझे रहे हैं जो उस युग के वाणिज्यवादी विस्तार से विरासत में मिला पूर्वाग्रह है। अन्य पूरक पक्षों को या तो अनदेखा कर दिया गया था उन पर उचित ध्यान नहीं दिया गया जैसे विश्व उत्पादन की मांग में वृद्धि और इस उत्पादन का अन्य मण्डियों पर प्रभाव।

दूसरे शब्दों में हमें यूरोप से पूर्व की भारी मात्रा में होने वाले सोने और चाँदी (विशेष रूप से चाँदी) के निर्यात मात्र को न देख कर इस तथ्य पर भी विचार करना चाहिए कि पूरब की विलास की चीजों और मूल्यवान उत्पादन का एक बड़ा भाग अब तक के 'परम्परागत' बाजारों से हटा कर यूरोप ले जाया जा रहा था। दुर्भाग्य से, पूर्व जाँच के अभाव में और आँशिक रूप में हमारे स्रोतों की सीमाओं के कारण इस परिवर्तन को परिमाण के रूप में रखना कठिन है। लेकिन सत्रहवीं सदी के अन्त में हम एशिया में जहाँ भी देखते हैं, यूरोप की वस्तुओं की मांग बढ़ रही थी।

ईरान अब विभिन्न भारतीय जिन्सों (नील, काली मिर्च, छींट) का मुख्य बाजार नहीं रहा और भारत एवं ईरान दोनों अनेक चीनी निर्यातों (रेशम, पोर्सलीन) के बाजार नहीं रहे, यह तथ्य इन देशों के सापेक्ष आर्थिक पतन को 1667 ई0 से पहली बंगाली रेशम का एक–तिहाई पहले ही डचों और अंगरेजों द्वारा निर्यात किया जा रहा था और एक तिहाई पारसी व आर्मीनी व्यापारियों द्वारा केवल एक तिहाई भारतीय मण्डियों के लिए बचता था। यूरोप की कम्पनियों ने पश्चिमी तट की काली मिर्च पर लगभग एकाधिकार प्राप्त कर लिया और वे मसुलीपट्टम की सबसे महीन भारतीय छींट के मुख्य खरीददार बन गए। इस बात की सम्भावना कम है कि यूरोप की मांग को पूरा करने के लिए दूसरे बाजारों का हिस्सा घटाए बिना, उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई हो। वास्तव में यदि उत्पादन किसी सीमा तक बढ़ा होगा तो पिछड़ी तकनीकी स्थिति में सामान्य मूल्य की लागत और मूल्य भी बढ़ गए होंगे।

प्रो0 अतहर अली ने यूरोप एवं एशिया के सम्बन्धों के आधर पर यह निष्कर्ष निकाला है कि यूरोपीय देशों द्वारा पूर्वी मालों के आयात का भुगतान मुख्यतः सोने एवं चाँदी के रूप में करता था, विशेषकर चाँदी में। लेकिन यूरोप में इन जिन्सों की मांग सोने–चाँदी की अधिकता के कारण से नहीं बल्कि भारतीय दस्तकारी माल की क्वालिटी के कारण से जन्मी थी। इसके कारण से यहाँ की अर्थव्यवस्था काफी समृद्ध हुई और इससे शहरी क्षेत्र का उल्लेखनीय विस्तार किया। सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लाहौर और आगरा जैसे शहर उस युग के यूरोपीय शहरों से बहुत बड़े थे। 1700 ई0 तक लन्दन और पेरिस जैसे यूरोपीय शहरों की जनसंख्या (पाँच लाख से अधिक) शायद आगरा को छोड़कर बाकी सब भारतीय शहरों से बढ़ गई थी।

यूरोप में शहरों का विकास : विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी का परिणाम : भारत में इसका अभाव:

यूरोपीय शहरी विकास विज्ञान और टेक्नॉलॉजी का पहला परिणाम था। इससे अनेक क्षेत्रों में छोटे–छोटे विकास हो रहे थे जिनका प्रभाव दृष्टव्य था। एशिया, विशेष रूप से भारत का दृश्य बिल्कुल ही अलग था। यहाँ टेक्नॉलॉजी का विकास अत्यन्त धीमा था।

यूरोप में टेक्नॉलॉजी के विकास के कारण यदि नगरीकरण हुआ था तो इसका अर्थ हुआ कि शहरों का विस्तार कृषि संकट के समय सेफ्टी वाल्व का काम दे सकता था। क्योंकि भारत और पूर्व के अन्य देश इस प्रकार की प्रक्रिया से नहीं गुजर थे अतः वहाँ सेफ्टी वाल्व का अस्तित्व नहीं था। जैसा इंगित किया जा चुका है, भारतीय शहरी आबादी परोपजीवी थी अतिरिक्त कृषि उपज पर निर्भर जिसका आधार था। इससे जुड़ा परिणाम है कि यदि अतिरिक्त उपज की लूट प्रभावित होती तो शहरी रोजगार का दायरा भी घटता था। इसका अर्थ हुआ कि जब तक शिल्प उत्पादन एक स्वतन्त्र आधार न प्राप्त कर ले, जैसा कि सोलहवीं शताब्दी के बाद के यूरोप में काफी अधिक हुआ, कृषि में उथल–पुथल के धक्के को सह जाने की कोई सम्भावना नहीं थी। इस अर्थ में अपनी शानदार पेशेवर सेना के बावजूद मुगल साम्राज्य अस्त्र–शस्त्रों से सज्जित लेकिन लाखों की संख्या में जमींदार और किसान विद्रोहियों के समक्ष विचित्र रूप से असुरक्षित था।

प्रो0 अली का मुख्य तर्क यह है कि यूरोपीय शहरी विकास नए विज्ञान एवं तकनीक का पहला परिणाम था और इससे अनेक क्षेत्रों में प्रगति हुई थी किन्तु भारत और पूर्वी इस्लामी देशों में ऐसी कोई प्रगति नहीं हुई जो सत्रहवीं शती के यूरोप को प्रेरित करने वाली भावना के समकक्ष होती। भारत में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का इतना अभाव था कि यहाँ तत्कालीन साहित्य में यूरोप की नई तकनीक के स्पष्ट दिखाई देने वाले परिणाम जैसे घड़ी, दूरबीन और बन्दूकों का भी कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनके अनुसार भारत में लोहे और अन्य धातुओं के इन उपकरणों का कोई भी उल्लेख न मिलने के कारण स्पष्ट नहीं हैं।

मुगल साम्राज्य का पतन सांस्कृतिक असफलता का परिणाम

अन्त में प्रो0 अली कहते हैं कि मुगल साम्राज्य की असफलता सांस्कृतिक असफलता का परिणाम था और यह बात समस्त मुस्लिम संसार पर लागू होती है। यूरोपीय सेनाओं ने भारत एवं एशिया के अनेक भागों को उपनिवेश बनाया किन्तु इसके बहुत पहले ही यहाँ की सांस्कृतिक असफलता ने आर्थिक सन्तुलन का पलड़ा यूरोपियनों के पक्ष में झुका दिया था। इसी असफलता के कारण साम्राज्य कृषि संकटों का सामना करने की क्षमता भी खो बैठे। ये आर्थिक परिस्थितियाँ ही अपने आप में राजनीतिक एवं सैन्य पराजय का कारण थीं, किन्तु दुर्बलता का स्रोत भी उसी बौद्धिक निष्क्रियता में था जिसने समस्त पूर्वी संसार को जकड़ रखा था।

कुछ रूसी एवं अमेरिकी लेखक साम्राज्य के पतन के लिए अठारहवीं सदी के नए राज्यों अर्थात् राष्ट्रीयताओं के उदय को उत्तरदाई ठहराते हैं। एक अमेरिकन इतिहासकार के अनुसार मुगल शासक वर्ग एवं व्यापारिक वर्ग के मध्य शासन संचालन की साझेदारी थी। बाद में अठारहवीं सदी के मध्य व्यापारी वर्ग ने साझेदारी से अलग कर लिया इसलिए साम्राज्य का पतन हो गया।

अठारहवीं सदी में उभरे कृषि संकट के दौरान कृषि उत्पादन में गिरावट आई एवं गाँव उजडते चले गए। अत्यधिक शोषण के कारण किसान बड़ी संख्या में खेती छोड़ कर भागने लगे। इस प्रकार की विकसित होती परिस्थितियों के कारण से साम्राज्य का पतन हुआ। अलीगढ़ के प्रोफेसर सत्य प्रकाश गुप्ता ने पूर्वी राजस्थान के कृषि से सम्बन्धित आँकड़ों का गहन अध्ययन करने के पश्चात कृषि संकट को नकार दिया है। उन्होंने लिखा है कि अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में खेती का विकास हो रहा था एवं नए–नए गाँव आबाद हो रहे थे। इस दृष्टि से कहा जाए तो कृषि संकट की जगह कृषि सम्पन्नता थी।

इसके अतिरिक्त कुछ इतिहासकारों ने प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार को भी पतन के लिए रिश्वत एवं भ्रष्टाचार का जिम्मेदार ठहराया। आरम्भ में मुगल प्रशासन में नियुक्तियाँ योग्यता के आधार पर होती थीं, परन्तु बाद में महत्वपूर्ण पद बादशाह की व्यक्तिगत इच्छा और सरदारों के दबाव में आकर दिए जाने लगे। परिणामस्वरूप, अनुभवी और योग्य अधिकारियों का स्थान अक्षम एवं स्वार्थी लोगों ने ले लिया। इसका घातक परिणाम निकला। प्रशासनिक व्यवस्था नष्ट हो गई, भ्रष्टाचार एवं रिश्वतखोरी का बाजार गर्म हो गया। महत्वपूर्ण पद एवं मनसब धन के बदले दिए जाने लगे। मनसबदारों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई। स्थानीय शासन में इन मनसबदारों और जागीरदारों का प्रभाव आवश्यकता से अधिक बढ़ गया। इस प्रभाव का दुरुपयोग इन लोगों ने अपने हित में किया। जागीरदारी व्यवस्था के दुष्परिणाम उत्तर–मुगलकाल में साम्राज्य के लिए घातक बने। एक तरफ तो प्रशासनिक व्यवस्था चरमरा रही थी दूसरी ओर बादशाह रंग–रास में व्यस्त था। ऐसी स्थिति में विशाल मुगल साम्राज्य पर नियन्त्रण रखना टेढ़ी खीर साबित हुआ और साम्राज्य शनैः शनैः पतन के गर्त में चला गया।

अन्ततः उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साम्राज्य का पतन कई कारणों से हुआ। लेकिन यह कहना उचित होगा है कि साम्राज्य के शासक वर्ग तथा जमींदारों और किसानों के मध्य स्थित अन्तर्विरोधों के कारण से साम्राज्य का पतन हुआ। साम्राज्य के शक्तिहीन होने के कारण से अन्त में विदेशी शक्ति ने लाभ उठाया एवं अंग्रेजी शासन की स्थापना हुई।

अध्याय-13

अठारहवीं सदी के बारे में वाद-विवाद

अठारहवीं सदी के बारे में इतिहासकारों में जिस मुद्दे को लेकर वाद–विवाद है, वह यह है कि इस सदी में समाज के विभिन्न क्षेत्रों अर्थात् सामजिक एवं आर्थिक जीवन में क्या स्थितियाँ थीं। क्या सतरहवीं सदी की तुलना में बाद की सदी में पतन हुआ या प्रगति हुई? क्या प्लासी के युद्ध का भारतीय परिस्थितियों पर कोई प्रभाव पड़ा या पूर्व की तरह परिस्थितियाँ रहीं? यह वाद–विवाद अंग्रेजी काल में ही विकसित हो गया था जब 1920 ई० के दशक में कुछ उपनिवेशवादी इतिहासकारों ने अकबर एवं 1891 ई० की तुलना करते हुए लिखा कि अंग्रेजों के आने के बाद भारत मे प्रगति हुई एवं अकबर का युग उसकी तुलना में पिछड़ा हुआ था। इस प्रकार की बहस की शुरुआत तो तभी हो गई थी।

बाद में इतिहासकारों में मुगल साम्राज्य के पतन को लेकर काफी विचार–विमर्श किया गया। सामान्यतः यह बहस साम्राज्य के पतन एवं उपनिवेशवादी सरकार के बुरे प्रभावों पर केन्द्रित रही। पतन के कारणों की चर्चा काफी खुल कर की गई एवं इसका अर्थ यह लगाया कि साम्राज्य के पतन का अर्थ सिर्फ राजनीतिक सत्ता के पतन तक ही सीमित नहीं था बल्कि सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में भी पतन हुआ। इस विचार का विरोध सी०ए० बेली, आन्द्रे विंक एवं मुजफ्फर आलम जैसे इतिहासकारों ने किया। उनके अनुसार सामाजिक आर्थिक क्षेत्र में पतन के कोई संकेत एवं साक्ष्य नहीं मिलते। जबकि प्रो० इरफान हबीब जैसे प्रमुख इतिहासकार का मुख्य तर्क ही यही है कि मुगल साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण कृषि उत्पादन में गिरावट एवं आर्थिक पतन था। उन्होंने लिखा कि भारत में पूँजीवाद विकसित होने की सम्भावना नहीं थी क्योंकि यहाँ लगान वसूली की दर इतनी अधिक थी और अधिशेष में लचीलापन नहीं था जिसके चलते उत्पादन व्यवस्था में परिवर्तन लाना अत्यन्त कठिन था।

इसके विपरीत बेली, विंक एवं आलम के अनुसार इस काल में केन्द्रीय शक्ति के स्थान पर प्रान्तीय केन्द्रों का उदय हुआ जिसमें नए तरीके से सामाजिक आर्थिक विकास हुआ। इस प्रकार इस सदी को अब अवनति और पतन का निम्नतम चरण नहीं माना जा सकता। इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि यदि एक ओर दिल्ली, आगरा या लाहौर जैसे आर्थिक केन्द्रों का महत्व घटने लगा तो दूसरी ओर बनारस, पटना, लखनऊ जैसे अन्य केन्द्रों का उत्थान हुआ। सूरत, नेगापट्टनम, मदुराई, मसुलीपत्तनम इत्यादि विशाल उत्पादन–वितरण केन्द्रों का पतन हुआ तो कलकत्ता, मद्रास, चन्द्रनगर, पाण्डिचेरी, बम्बई जैसे प्रमुख शहरों व उत्पादन–वितरण केन्द्रों का उदय हुआ। किसी एक क्षेत्र या व्यवसाय का पतन किसी अन्य केन्द्र, उत्पादन या व्यवसाय का उत्थान भी हो सकता था, इसलिए पूरे हिन्दुस्तान की सामाजिक–आर्थिक स्थिति के विषय में एक निष्कर्ष निकालना धारणा बनाना उपयुक्त नहीं होगा।

अठारहवीं सदी में केन्द्र की स्थिति निश्चित ही कमजोर हो रही थी लेकिन सत्ता के दूसरे केन्द्र भी उभर रहे थे। उस समय की परिस्थितियों को समझने के लिए बर्नाड एस० कोहन का एक लेख सहायक हो सकता है जिसे डॉ० बी०एस० चयानी ने उद्धृत किया है, के एक लेख की मदद ली जा सकती है। इस लेख में कोहन ने वाराणसी क्षेत्र की अठारहवीं शताब्दी की राजनीति का चित्रण किया है। इसमें उसने राजनीतिक कार्य–कलाप के चार स्तरों का वर्णन किया है– शाही, माध्यमिक, क्षेत्रीय और स्थानीय। महत्वपूर्ण मुगलों का शाही स्तर था क्योंकि इस उप–महाद्वीप के सभी हिस्सों की राजनीति में केवल उन्हीं का दखल रहा। दूसरे स्तर पर हैदराबाद का निजामवंश आता है, जिसका विकास शाही सूबेदारी से हुआ था। इस स्तर के राजवंशों का आधिपत्य "वृहत् ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और भाषायी क्षेत्रों" पर रहा। क्षेत्रीय कार्यकर्ता (जैसे इस लेख में वर्णित वाराणसी के राजा) अपनी हैसियत

शाही और माध्यमिक कार्यकर्ताओं से प्राप्त करते थे और उनका नियन्त्रण माध्यमिक स्तर के इलाकों के छोटे–छोटे हिस्सों पर होता था। स्थानीय कार्यकर्ताओं में स्थापित वंशावलियों के सदस्य, साहसी व्यक्ति, राजनीतिक महत्वाकाक्षाओं वाले क–– समाजों के देशी सरदार आते थे जो अपनी प्रभुसत्ता माध्यमिक और क्षेत्रीय कार्यकर्ताओं से प्राप्त करते थे, और जिनका वर्चस्व स्थानीय किसान व्यापारियों और कारीगरों पर होता था, ओर जिनसे वे मालगुजारी वसूल करते थे। बर्नार्ड कोहन के अनुसार प्रत्येक स्तर के कार्यकर्ताओं का यह प्रयत्न रहता था कि उन्हें अपने कार्यो को पूरा करने में अधिक से अधिक स्वतन्त्रता और सुरक्षा मिले तथा अपने से निचले स्तर के कार्यकर्ताओं का महत्व घटाने में तथा अपने ऊपर के स्तर वाले कार्यकर्ताओं पर अपनी निर्भरता कम करने में लगे रहते थे।

बहरहाल, मुगल शासक कीज्योति, चाहे वह कितनी ही मन्द क्यों न हो गई हो, दिल्ली के मुगल दरबार में जगमगाती रही तथा मराठा अफगानों, सिक्खों और जाटों आदि विगामी और परस्पर विरोधी तथा संघर्षशील ताकतों की उपस्थिति के बावजूद भारत की राजनीतिक एकता का प्रतीक बनी रही। दिल्ली तो एक रंगमंच बन गई थी, जिसमें दिल्ली दरबार से प्राप्त या ऐंठे हुए फरमान के बल पर राजनीतिक वैधता के दावों और प्रतिदावों का नाटक खेला जा रहा था। किन्तु कोई क्षेत्रीय शक्ति केसी भी राजवंश के अधीन ऐसी कोई राजनीतिक व्यवस्था स्थापित नहीं कर सकी, जो उद्देश्य या संगठन में एकात्मक हो और विभिन्न शक्ति–वर्गों को एकत्र करने की क्षमता रखती हो।

दिल्ली के डॉ0 अरविन्द सिन्हा ने इस बहस के निचोड़ को अपने आलेख में प्रस्तुत किया है जो अत्यन्त उपयोगी है।

आर्थिक दशा

जनसंख्या किसी भी देश की आर्थिक स्थिति के अध्ययन का एक मापदण्ड होता है। मोरलैण्ड ने अकबर की मृत्यु के समय भारत की आबादी 10 करोड़ निर्धारित की थी एवं प्रो0 अशोक वी0 देसाई ने भी मोरलैण्ड से सहमति व्यक्त की है। किंग्सले डविस ने 12.5 करोड़ जनसंख्या का अनुपान लगाया है। प्रो0 शीरी मूसवी ने 15 करोड़ का अनुमान लगाया है। परन्तु सतरहवीं सदी में शहरी आबादी के उच्च प्रतिशत पर सभी सहमत हैं लेकिन अठारहवीं सदी के बारे में मौन हैं। डॉ0 अरविन्द सिन्हा के विश्लेषण अनुसार इस शताब्दी में मुल्तान, लाहौर, दिल्ली, आगरा जैसे घनी आबादी वाले शहरों में आक्रमण और लूटमार के बावजूद उनकी कुल आबादी घटने के स्पष्ट संकेत नहीं मिलते। दूसरी ओर हम पाते हैं कि पूर्वी और दक्षिणी हिन्दुस्तान में कलकत्ता, अहमदनगर, मद्रास, पॉण्डिचेरी तथा उत्तर भारत में लखनऊ, बनारस इत्यादि नगरों का उदय हुआ। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अठारहवीं शताब्दी में यदि आबादी बढ़ी नहीं तो उसके घटने के भी ठोस प्रमाण नहीं मिलते।

कृषि

सतरहवीं सदी में कृषि एवं दस्तकारी उद्योग ही भारत की अर्थ–व्यवस्था के आधार थे। मुगल शासक की प्रमुख आय खेती पर होती थी। दस्तकार भी अपनी जरूरतों के लिए खेती पर निर्भर करते थे। कृषि की जो स्थिति सतरहवीं सदी में थी वही बाद की अठारहवीं सदी में भी जारी रही।

कृषि उत्पादन मुख्यतः खाद्य एवं नकदी फसलों के रूप में होता था। खाने के लिए बहुत सी फसलें उगाही जाती थीं जिनमें धान, गेहूँ, ज्वार, बाजरा इत्यादि प्रमुख थे। दूसरी तरफ कपास, पटसन, नील एवं अफीम जैसी वस्तुओं का उत्पादन बाजार के लिए किया जाता था। प्रो0 एस0पी0 गुप्ता ने पूर्वी राजस्थान में उगाही जाने वाले कृषि उत्पादों के बारे में लिखा है कि अठारहवीं सदी में उगाये जानेवाले अनाजों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई थी। खेती में भी विस्तार हुआ था।

भारत में खेती मुख्यतः सिंचाई पर निर्भर करती है जिसकी ओर अठारहवीं सदी में ध्यान नहीं दिया गया जिसका परिणाम अकालों की बढ़ोतरी के रूप में आया।

मुगलों की जागीरदारी व्यवस्था ने खेती को बर्बाद करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। जागीरदार किसान से अधिकतम लगान की वसूली करता था जिससे किसान खेती करना छोड़ कर अन्य क्षेत्रों में भाग जाते थे। बाद में उन्होंने अपनी जागीरों को इजारेदारों को ठेके पर दे दिया जिन्होंने रही सही कसर पूरी कर दी। इनमें से किसी की भी कृषि के विकास में कोई रुचि नहीं थी।

डॉ0 अरविन्द सिन्हा ने अपने आलेख में जमींदारों एवं रैयत का भी जिक्र किया है। किसानों के मध्य स्थित स्तरीकरण का वर्णन किया है। उसने कृषि स्थितियों पर अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि कृषि वस्तुओं की दृष्टि से हिन्दुस्तान आत्म–निर्भर ही नहीं था बल्कि कुछ वस्तुओं का तो निर्यात भी किया जा रहा था। शहरीकरण के बढ़ने से कृषि भूमि के क्षेत्रफल में भी विस्तार आया होगा यद्यपि उत्पादन के साधन तकनीकी दृष्टि से रूढ़िवादी ही रहे होंगे। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि किसानों पर नकदी फसलें लगाने के लिए निरन्तर दबाव रहा होगा क्योंकि इससे राज्य की आय बढ़ती थी। शासक वर्गों की विविध प्रकार की निर्मित वस्तुओं की माँग बढ़ रही थी, शहर की आबादी बढ़ने के साथ विदेशी बाजार बढ़ते जा रहे थे। कृषि–उत्पादन के कार्य–क्षेत्र को बढ़ाने और उच्च स्तर की फसल लगाने के लिए अधिक पूँजी निवेश की आवश्यकता थी। यह पूँजी सम्भवतः कृषि क्षेत्र से ही उपलब्ध हो रही थी क्योंकि इसके बाहर से प्राप्त होने के कोई संकेत नहीं मिलते हैं। हिन्दुस्तान की कृषि दशा बहुत खराब प्रतीत नहीं होती। उस समय यूरोप की वर्ष में एक फसल की अपेक्षा यहाँ वर्ष में प्रायः दोहरी फसल जोती जाती थी जिससे पूँजी विकसित होने की गुंजाइश अवश्य रही होगी।

बैंकिंग व्यवसाय

मुगलकाल में बैंकिंग व्यवसाय विकसित हो चुका था। प्रो0 इरफान हबीब ने अपने दो आलेखों में बैंक व्यवस्था एवं हुण्डी पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उन्हें ने लिखा है कि बैंक व्यवसाय में लोग काफी रुचि रखते थे। हुण्डी अर्थात् वाणिज्य–पत्र की बाजार में काफी साख थी। प्रो0 अहसन जान कैसर ने दलालों पर लिखे एक आलेख से व्यापार–वाणिज्य में उनकी भूमिका पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि ये सभी तरह के कार्यों में लगे हुए थे। बैंकिंग व्यवसाय में सर्राफ एवं साहूकारों की अहम भूमिका थी जो रूपए अदला–बदली का काम भी करते थे। इन सब व्यवसायों के साथ–साथ बीमा व्यवसाय भी काफी प्रचलित होता जा रहा था। यही परिस्थितियां अठारहवीं सदी में भी जारी रही जिन पर किसी साम्राज्य के पतन का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था।

मुगल लगान व्यवस्था में किसानों से लगान नकद में वसूल किया जाता था जिसके कारण से मौद्रीकरण व्यापक स्तर पर हुआ। नकद वसूली के कारण महाजनों एवं बनियों की भूमिका बढ़ गई। इनसे सम्बन्धित सर्राफों का भी महत्व बढ़ गया।

व्यापार एवं वाणिज्य के विस्तार एवं विकास ने सर्राफों, बैंकरों एवं बीमा करने वालों के व्यवसाय को काफी बढ़ा दिया। हुण्डी का प्रचलन बहुत बढ़ गया था एवं यह भुगतान के माध्यम के रूप में इसने काफी प्रतिष्ठा कमा ली थी। यूरोपियन व्यापारियों के मध्य भी इसने काफी साख अर्जित कर ली थी। वे भी हुण्डी के माध्यम से भुगतान करने लगे थे। अठारहवीं सदी के मध्य में पूरब के प्रान्तों का सारा राजस्व जगत सेठ द्वारा हुण्डी के द्वारा दिल्ली अपने गुमाश्ते/एजेण्ट के पास भेजा जाता था। अठारहवीं शताब्दी में इन प्रमुख महाजन–व्यापारी परिवारों में बड़ौदा स्थित गोपाल राव सैराल का नाम लिया जाता है जिसका राजनीतिक प्रभाव भी कम नहीं था। इस प्रकार आधुनिक बैंक व्यवस्था का प्रारम्भिक रूप अठारहवीं शताब्दी में प्रचलित हो गया था। फिर भी हिन्दुस्तान में पूँजीवाद का उदय नहीं हुआ क्योंकि उस समय का वाणिज्य गैर–परिवर्तनशील हथकरघा उत्पादन व्यवस्था पर आधारित था।

वाणिज्य एवं व्यापार

सतरहवीं सदी में व्यापार विकसित अवस्था में था। इस पर कुछ व्यापारियों का आधिपत्य था जिनका पूरा एक व्यवस्थित नेटवर्क था। इनके बड़े–बड़े फर्म अलग–अलग स्थानों पर थे जहाँ इनके प्रतिनिधि/गुमाश्ते एवं इनके रिश्तेदार नियुक्त होते थे। सरकार को समुद्री–तट एवं आन्तरिक व्यापार से काफी चँगी कर से आय होती थी। सारे बन्दरगाहों पर शाही अधिकारी नियुक्त होते थे जहाँ इससे सम्बन्धित सूचनाओं का संकलन किया जाता था। अठारहवीं शताब्दी में भी यही स्थितियां कायम रहीं। इस सदी के प्रारम्भ में बंगाल में ख्वाजा सरहौद की वाणिज्य के क्षेत्र में शक्ति बहुत प्रबल थी। संचार के साधन पिछड़े रहने के बावजूद विभिन्न तरीकों से वितरण प्रणाली अपने आप आवश्यकताओं के अनुरूप ढ़लती जा रही थी। यूरोप की कम्पनियों के विदेशी व्यापार ने हिन्दुस्तान की वितरण–व्यवस्था को काफी प्रभावित किया।

कृषि एवं गैर कृषि उत्पादन में परिवर्तन

मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् उत्पादन के क्षेत्र में गिरावट के निष्कर्ष निकाले गए थे। अठारहवीं सदी में राजनीतिक व्यवस्था के बिखराव के कारण आर्थिक क्षेत्र में इसके परिणाम देखने को मिले। कुछ इतिहासकारों ने तो इसको पतन की सदी कहा है इस रूढ़–धारणा का खण्डन प्रो0 सतीश चन्द्र ने 1959 ई0 में किया। उनके अनुसार कई क्षेत्रों में उत्पादन में वृद्धि हो रही थी जैसे कपड़ा उत्पादन, दीर्घकालीन व्यापार, बैंक प्रणाली, बीमा, ददनी व्यापारियों के द्वारा नकद फसल के साधनों का विकास तथा ग्रामीण क्षेत्र में वित्तीय साधनों का प्रवेश करना। इस प्रकार प्रो0 सतीश चन्द्र के अनुसार 18वीं शताब्दी में परिवर्तन की सम्भावनाएं थीं सभी जगह योग्य व महत्वाकांक्षी लोग आगे बढ़ रहे थे परन्तु उन्हें दिशा प्राप्त नहीं थी। कई पुरानी रियासतों में नौकरतन्त्रीय, सामन्ती कुलीन तथा मौद्रिक अर्थव्यवस्था मौजूद थी किन्तु कम विकसित क्षेत्रों में जैसे महाराष्ट्र, मध्य–भारत, राजस्थान, जाट तथा रुहेल क्षेत्र में सामन्तवादी दौर चल रहा था।

पूर्वी राजस्थान के बारे में प्रो0 एस0पी0 गुप्ता एवं प्रो0 दिलबाग सिंह ने कृषि आँकड़ों के अध्ययन के आधार पर खेती में बढ़ोत्तरी के निष्कर्ष निकाले हैं। उनके अनुसार खेती में वृद्धि हो रही थी। किसान द्वारा जितनी संख्या में कृषि फसलें सतरहवीं सदी में उगाई जा रही थी उतनी ही अगली सदी में उगाही जा रही थी। कृषि सम्पन्नता थी। सिर्फ मराठों के आक्रमणों के कारण ही विपरीत प्रभाव पड़ा था।

इसी सदी के बारे में मोरलैण्ड, इरफान हबीब एवं मौरिस डी0 मौरिस आदि इतिहासकारों की धारणा है कि भारत में पूंजीवाद की कम सम्भावनाएं थीं जबकि रूसी इतिहासकार पावलोव तथा चिचेरोव के अनुसार सामन्तवादी संकट के कारण भारत में पूंजीवाद के उभरने के संकेत मिलते हैं।

प्रो0 तपन रॉय चौधरी ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार भारत को एक पूरे खण्ड में मान कर अध्ययन करने से गलत निष्कर्ष निकलने की सम्भावनाएं रहती है क्योंकि अलग–अलग क्षेत्रों की अलग–अलग परिस्थितियां होती हैं। यूरोप को भी एक खण्ड मान कर अध्ययन नहीं किया गया है बल्कि अलग–अलग क्षेत्रों में अध्ययन किया गया है।

खेती के साथ–साथ कुटीर उद्योगों का उत्पादन भारतीय अर्थव्यवस्था की विशेषता रही है गाँवों में भी कृषि उत्पादन के साथ गैर–कृषि उत्पादन ग्रामीण अर्थव्यवस्था की अपनी खासियत थी। इन सब में समय के साथ परिवर्तन आता रहा है जनसंख्या में वृद्धि के कारण चीजों की माँग भी बढ़ती जा रही थी। देशी एवं विदेशी बाजार का भी निरन्तर विस्तार हो रहा था जिसके कारण से उत्पादन में भी वृद्धि हो रही थी। अफ्रीकी देशों में कपड़ा निर्यात किया जाने लगा था जिसके कारण से कपड़ा उत्पादन में वृद्धि

हुई। विदेशों में कपड़े की मांग निरन्तर बढ़ती जा रही थी। देश के भीतर की मांग में गिरावट का अनुमान लगाना भी गलत होगा। यह कहना मुश्किल है कि अठारहवीं सदी की राजनीतिक अराजकता का मांग पर क्या असर हुआ था?

भारत के सूती कपड़ा उद्योगों का विश्व व्यापार में एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसका उत्पादन स्वतन्त्र रूप से शहरों में होता था। किसान खेती के साथ सूत कातने एवं बुनने का काम करते थे। कपास उगाहने से लेकर कपड़ा बुनने तक कई चरणों को पार करना होता था। भारतीय कपड़े की देश एवं विदेश में काफी मांग थी। यहाँ का कपड़ा क्वालिटी की दृष्टि से अत्यन्त उच्च श्रेणी का होता था। इसके उत्पादन के मुख्य केन्द्र थे– गुजरात, बंगाल, मद्रास, पटना, बनारस, लाहौर, मुल्तान, इलाहाबाद, सोनार गाँव आदि। कपड़ों के नाम अलग–अलग थे जो स्थानों एवं अपनी विशेषताओं के कारण से जाने जाते थे जिनमें मुख्य थे मलमल, बाफता, दरियाबड़ी, खैराबड़ी, फ़रकला, मुहरी, लट्ठा आदि। सूती कपड़ों से बनी अन्य वस्तुओं का फैशन इंगलैण्ड में अत्यधिक था। वहाँ कमरों के पर्दे एवं रूमाल तक भारतीय सूती कपड़ों से बनते थे। इनके प्रयोग पर रोक लगाने के लिए अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में इंगलैण्ड की सरकार को कानून बनाने पड़े। इसी से पता चलता है कि भारतीय कपड़े की विदेशों में अत्यधिक मांग थी। यह माँग आठारहवीं सदी में भी जारी रही।

बंगाल के रेशम का उत्पादन एवं निर्यात सतरहवीं की तरह अठारहवीं सदी में भी बढ़ता ही चला गया। इसके उत्पादन के मुख्य केन्द्र थे ढ़ाका, हुगली एवं कासिम बाजार आदि। भारत में रेशम बनाने के विशेषज्ञ थे जो विभिन्न जगहों पर केन्द्रित थे। इनमें मुख्य थे कश्मीर, आगरा, लाहौर, फतहपुर, पटना एवं थट्टा आदि। डच व्यापारी जापान के लोगों की मांग पूरी करते थे जबकि अंग्रेज व्यापारी यूरोप के लोगों के लिए यहाँ निर्यात करते थे।

नील के उत्पादन के लिए भारत प्रसिद्ध था जिसकी यूरोप में अत्यधिक मांग थी। बयाना की नील की विश्व बाजार में उत्यधिक मांग थी जिसका उत्पादन राजस्थान के इस क्षेत्र में अत्यधिक होता था। इसके निर्यात के लिए अंग्रेज एवं डच व्यापारियों में काफी प्रतिस्पर्धा रहती थी। अठारहवीं शताब्दी में इसके उत्पादन में काफी बढ़ोत्तरी हुई। इसके उत्पादन के मुख्य केन्द्र थे आगरा, अलीगढ़, बुलन्दशहर, बुरहानपुर, गुजरात एवं हिण्डौन आदि।

इसके अतिरिक्त भी अन्य दस्तकारी उद्योग थे जिनके उत्पादन में वृद्धि हुई जिनमें मुख्य थे लोहा, मिट्टी के बर्तन एवं चमड़ा उद्योग आदि।

भारत का दस्तकारी उद्योग दस्तकारों के व्यक्तिगत उत्पादन पर निर्भर करता था। यही स्थिति अठारहवीं सदी में जारी रही। कारीगरों की स्वयं की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि वे मालों की मांग की पूर्ति कर सकें इसलिए व्यापारियों ने उनको एडवॉस राशि देकर माल बनवाना शुरू कर दिया। इसको पेशगी देने की प्रथा अर्थात् ददनी व्यवस्था कहते थे। डॉ0 अरविन्द सिन्हा ने इस व्यवस्था का सार प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि उस समय निर्मित वस्तुओं की जितनी माँग यूरोपीय व्यापारियों द्वारा की जा रही थी, हिन्दुस्तान के कारीगरों व शिल्पकारों में उतना अधिक उत्पादन स्वयं बढ़ाने की क्षमता नहीं थी। इसके लिए वे अग्रिम राशि प्राप्त करके ही माल खरीद सकते थे। वैसे भी यूरोपीय व्यापारियों की विशेष माँग व सुझाव के अन्तर्गत कारीगरों को अपना लूम बदलना पड़ता था। यह जोखिम "ददनी" व्यवस्था से कम हो जाती थी क्योंकि कारीगरों को अग्रिम रकम मिल जाती थी और वे अपने को सुरक्षित महसूस करते थे। वैसे भी अधिकाँश कारीगर कच्चे माल तथा औजारों की खरीद पर इतनी पूँजी नहीं खर्च कर सकते थे और इस प्रकार ददनी व्यवस्था उस स्थिति में अपनाई जाती थी। दूसरी ओर यह कहना कि ददनी व्यवस्था से अधिकाश कारीगर दिहाड़ी मजदूर की दशा में पहुँचते जा रहे थे, उचित नहीं है। इस व्यवस्था में कारीगर व्यापारी खरीददारों पर वहाँ अधिक निर्भर करते थे जहाँ कच्चा माल या तो मँहगा था या बहुत दूर से लाया जाता था। उदाहरण के लिए, गुजरात के बुनकरों के लिए बंगाल से कच्चा रेशम लाया जाता था या हिन्दुस्तान में आभूषण बनाने के लिए जवाहरात पेगू से लाए जाते थे। इस स्थिति में

खरीददार व्यापारियों का नियन्त्रण केवल उत्पादक पर ही हो सकता था, उत्पादन–व्यवस्था पर नहीं।

डॉ0 सिन्हा ने अठारहवीं सदी के उत्पादन व्यवस्था के स्थानीकरण की प्रवृत्ति को उजागर किया है जो उस समय की खास विशेषता थी। वह लिखता है कि बाजार प्रेरित उत्पादन का एक अन्य प्रभाव था, उत्पादन का स्थानीकरण। सम्भवत आन्तरिक व विदेश व्यापार के विस्तार ने इस प्रवृत्ति को सहयोग दिया। 17वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोपीय कम्पनियों के व्यापारी विभिन्न स्थान में जाकर खरीददारी किया करते थे, चाहे वे गाँव हों या शहर। परन्तु 18वीं शताब्दी में औरंग (विशेष केन्द्र जहा कारीगर का समुदाय एकत्र होकर रहने लगा था) विदेशी माँग की पूर्ति करने लगे थे। इस प्रकार के स्थानीकरण के फलस्वरूप कासिम बाजार अपना 22 लाख पौण्ड वार्षिक का रेशम निर्मित कर रहा था और डच, इंग्लिश व फ्रेंच कम्पनियाँ रेशम के 1400 से 1600 कारीगर को अपने पास रखती थीं। इस प्रकार के औरंग कपड़े के उत्पादन में कहीं अधिक थे क्योंकि 18वी शताब्दी के मध्य तक ढाका से सूरत तक सभी प्रमुख नगरों में भारी संख्या में कारीगर मौजूद थे। इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप बाजार व्यवस्था का भी विस्तार हुआ। विभिन्न प्रकार के कारीगरों के समुदाय विशाल संख्या में आकर वाणिज्य व उत्पादक केन्द्रों, निर्यात करने वाले समुद्र-तट यूरोपीय फैक्टरी वाले शहरों (कलकत्ता व मद्रास) में तथा अन्य शहरी केन्द्रों में संगठित होने लगे। इस प्रकार विभिन्न स्थान अलग–अलग वस्तुओं के लिए विख्यात होने लगे– सूरत व अहमदाबाद कपड़े व रेशमी वस्त्र के लिए, हुगली कई वस्तुओं के लिए जिनमें रेशम, चीनी, अफीम, तेल, मक्खन, टाट के कपड़े, गलीचे, रजाई, तम्बू, फर्नीचर, हाथी दाँत की वस्तुएं आदि शामिल थे। श्रीनगर ऊनी शॉल व ऊनी वस्त्रों, कढ़ाई के लिए; जौनपुर ऊनी गलीचे, कल्पी मिसरी के लिए; अलवर शीशे के लिए। हिन्दुस्तान के सभी प्रान्तों से कपड़ा, उसे नीला या काला रंगने के लिए, आगरा या अहमदाबाद ले जाया जाता था। दूसरी ओर ये कारीगर एक औरंग से दूसरे प्रदेश के औरंग जाने के लिए भी तैयार नहीं थे। यह अंग्रेजों के असफल प्रयत्न से स्पष्ट होता है कि उन्होंने बंगाल के रेशम के चरखेदारों को अधिक वेतन पर मद्रास ले जाने का पूरा प्रयत्न किया परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली।

कासिम बाजार में स्थित डच फैक्टरी में रेशम का उत्पादन करने के लिए 700 से 800 कारीगर एकत्र थे। वास्तव में कारीगर का देहाती क्षेत्रों से उत्पादन के स्थानीय केन्द्रों में स्थान परिवर्तन के अतिरिक्त किसी भी प्रकार की गतिशीलता बहुत सीमित थी। इस प्रकार कारीगरों के हस्तकौशल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना आसान नहीं था। डच संचालकों द्वारा गुजरात में इस प्रकार के निर्मित कपड़े के बंगाल में बनाने का प्रयत्न असफल रहा था क्योंकि गुजरात के बुनकर अपनी निपुणता को बनाए रखना चाहते थे। इस प्रकार कहा जा सकता है कि 18वीं शताब्दी में उत्पादन का संगठन कुछ हद तक बदलता जा रहा था परन्तु परिवर्तन की गति तीव्र नहीं थी और न ही इन परिवर्तनों से परम्परागत व्यवस्था टूट सकी।

उत्पादन में वृद्धि तो हो रही थी लेकिन उत्पादन तकनालोजी में दूसरे देशों की तुलना में विकास नहीं हो रहा था। नई तकनीक से यहां के दस्तकार अपरिचित थे। प्रो0 अतहर अली ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि यूरोप के मुकाबले भारत की तकनालाजी में ठहराव था जिसे उन्होंने सांस्कृतिक असफलता माना है। यह बात काफी सही प्रतीत होती है।

विशाल शहरी जनसंख्या एवं विदेशी मांग के कारण से शहरों में आधारित दस्तकारी उद्योग में काफी विस्तार हुआ। पश्चिमी भारत में रेशम एवं कपड़े के महत्वपूर्ण केन्द्र थे जो शहरों में थे जिनमें मुख्य थे– औरंगाबाद, वारंगल एवं मसुलीपत्तम आदि। अठारहवीं सदी में मराठों के समय में शहरी उद्योग का विकास हुआ, जिनमें मुख्य स्थान थे कल्याण, औरंगाबाद, नैवासी एवं पूना आदि। पूना में, कपड़ा उत्पादन एवं इत्र का उत्पादन होता था। इसी तरह दक्षिण भारत में भी शहरी दस्तकारी उद्योगों में वृद्धि हो रही थी। हीरे के उत्पादन के लिए गोलकुण्डा, कर्नाटक एवं मैसूर प्रसिद्ध थे। बाजार की शक्तियों एवं वितरण प्रणाली का भी उत्पादन पर काफी प्रभाव पड़ा था।

यूरोपीय व्यापार का प्रभाव यहाँ के व्यापारिक केन्द्रों पर पड़ा। अठारहवीं सदी के व्यापारिक जगत में गुजरात का स्थान बंगाल ने ले लिया। गुजरात का पतन हो गया लेकिन बंगाल का प्रभाव विश्व बाजार तक फैल गया। राजनीतिक अराजकता ने सूरत का पतन करवा दिया तो सफाविद साम्राज्य के पतन ने गुजरात के व्यापारियों के हाथों से वहाँ का व्यापार छीन लिया। प्रो0 अशिन दास गुप्ता ने सूरत के पतन का कारण यूरोपियन कम्पनियों को नहीं बल्कि आन्तरिक एवं एशियाई व्यापार के प्रभाव को बताया है। इस सदी के प्रारम्भिक दशकों में राष्ट्रीय स्तर पर बाजार विकसित होने लगे थे। इन बाजारों की अन्तर–क्षेत्रीय निर्भरता बढ़ गई थी। यही क्रम विदेशी व्यापार के साथ रहा। इस प्रकार अठारहवीं सदी के भारतीय व्यापार विदेशी बाजारों से जुड़ गया।

प्रो0 अतहर अली ने अठारहवीं सदी के दूसरे चित्र को प्रस्तुत किया है जिसमें उन्होंने कहा है कि अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् आर्थिक पतन के दौर की शुरुआत होती है। उनके अनुसार मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् जो राज्य उभरे उन पर निश्चित आर्थिक दबाव था। 1757 ई0 में प्लासी की लड़ाई से ब्रिटेन ने बंगाल को विजित करना आरम्भ किया और सात वर्षों के अन्दर वे पूर्वी भारत के स्वामी बन बैठे। यह विजय केवल एक साधारण राजनीतिक घटना नहीं थी। इसने भारत के वाणिज्य का पूरा रंग–ढंग ही बदल दिया। बंगाल और बिहार की मालगुजारी अंगरेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी का स्रोत बनी और इस विशाल स्रोत की सहायता में अंगरेजों ने बंगाल और बिहार, साथ ही कोरोमण्डल के निर्यात की पूरी दिशा ही बदल दी। जल्दी ही निर्यात बढ़कर 50 लाख पौण्ड से भी अधिक हो गया। इस पूर्ण दिशा परिवर्तन ने भारतीय वाणिज्य के पूरे ढाँचे को अस्त–व्यस्त कर दिया होगा। गुजरात और आगरा की व्यापारिक अवनति अपरिहार्य थी जो बंगाल से रेशम और सूती वस्त्र आयात करते थे। इसी प्रकार स्थल मार्ग से अफगानिस्तान के रास्ते होने वाले व्यापार को क्षति पहुँचनी अनिवार्य थी। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब अंगरेज भारत में और आगे तक बढ़े, यह अवनति और अधिक बढ़ती गई।

प्रत्यक्षतः विश्वस्त रूप से यह कहना कठिन है कि इस आर्थिक प्रक्रिया ने मराठा राज्य संघ और अफगान साम्राज्य पर किस सीमा तक हानिकर प्रभाव डाला होगा। यह तथ्य चौंकाता है कि 1803 ई0 में अंगरेजों के दिल्ली तक बढ़ आने के बाद इतनी जल्दी, 1809 ई0 में अफगान साम्राज्य अचानक विनष्ट हो गया। एल्फिंस्टन ने, जो अफगान शासक शाह शुजा के दरबार में एक शिष्टमण्डल लेकर गया था ओर जो उसके प्रभुत्व के विघटन का गवाह था, अपनी आँखों से व्यापार की अवनति और अफगान कबीलों के लोगों को कृषि के पक्ष में व्यापार छोड़ते हुए देखा। इस प्रकार व्यापार की अवनति निश्चित है : अब केवल एक ओर ब्रिटिश विजय से इसका सम्बन्ध और दूसरी ओर अफगान साम्राज्य के पतन के एक कारण के रूप में इसकी भूमिका सिद्ध होनी रह जाती है। प्रो0 अतहर अली का तर्क है कि ये दोनों प्रक्रियाएं एक ऐसे क्रम में हुई कि कम से कम अस्थाई रूप से यह सम्बन्ध मान लिया जाना चाहिए। शायद प्रमाण की बारीक जाँच से किसी दिन इस विषय में अधिक निश्चित रूप से बात की जा सके।

अन्त में, इन 'संक्रमण युगीन शासनों' के विषय में एक प्रश्न। ऐसा क्यों हुआ कि ब्रिटिश शक्ति से सीधा सामना होने की स्थिति में उन्होंने आधुनिकता की ओर बिल्कुल नहीं या बहुत कम प्रयत्न किए। हैदर अली और टीपू सुल्तान के अन्तर्गत मैसूर की बात अलग है। सिन्धिया जैसे मराठा सरदारों ने अधिक से अधिक यह किया कि कुछ टुकड़ियों को यूरोपीय अफसरों से प्रशिक्षित करा कर उनकी कमान उन्हीं के हाथ सौंप दी।

विचित्र बात है कि वैचारिक स्तर पर अंगरेजी प्रभाव बहुत कम रहा। यह सच है कि कुछ फारसी कृतियों में पश्चिमी विज्ञानों के बारे में सूचना प्राप्त होनी प्रारम्भ हुई पर जाँच करने पर वे सब किसी अंगरेज अफसर या पादरी की इच्छा और निर्देश पर लिखी गई निकलती है। फारसी साहित्य मुख्यतः अपनी उन्हीं स्थापित परम्पराओं में चलता रहा। वास्तव में अठारहवीं शताब्दी में भारत में इसकी सबसे अधिक उन्नति हुई। स्वर्गीय सी0ए0 स्टोरी की यादगार में सम्पादित 'परशियन लिट्रेचर ए बायो–बिब्लयोग्राफिकल

सर्वे खण्ड I में सूचीबद्ध कृतियों की जाँच करते हुए मैंने पाया कि जहाँ सत्रहवीं शताब्दी में केवल छह हिन्दू लेखक थे जिनमें से प्रत्येक ने फारसी में एक पुस्तक लिखी वहाँ अठारहवीं शताब्दी में कम से कम बत्तीस हिन्दू लेखक थे जिन्होंने उनचास पुस्तकें लिखीं। यह मुगल साम्राज्य द्वारा विरासत में मिली सांस्कृतिक परम्परा की मजबूती को एक श्रद्धाँजलि है। लेकिन मैं सोचता हूँ कि आंशिक रूप से यह इस बात की व्याख्या भी करती है कि यूरोप से आई नई संस्कृति इतना कम क्यों आकर्षित कर पाई और भारत में शिक्षितों द्वारा पूर्णरूपेण अवहेलित रही।

सामाजिक स्थिति

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् राजनीतिक परिस्थितियों में गिरावट आना प्रारम्भ हो गया था एवं एक तरह की राजनीतिक अराजकता स्पष्टतः झलकने लगी थी। कई नए राज्यों का उदय हो रहा था जिन्होंने मुगल साम्राज्य की रही सही स्थिति को कमजोर कर दिया। इन राज्यों में मराठा, बंगाल, अवध, हैदराबाद एवं मैसूर आदि मुख्य थे। मुगल सत्ता के शिकंजे के ढ़ीला होते ही राज्यों में आपसी संघर्ष शुरू हो गए। उत्तर भारत में मराठों के आक्रमणों ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में ठहराव ला दिया। इस प्रकार सामाजिक दृष्टि से 18वीं शताब्दी का काल अवनति और ह्रास का युग था जिसमें निष्क्रियता और जड़ता पनप रही थी। इस समय के विदेशी पर्यटकों और भारतीय लेखकों ने जो विवरण छोड़े हैं, उसमें सामाजिक पतन व उदासीनता का चित्र स्पष्ट हो जाता है।

इस सदी में जातीय कट्टरता जोर पकड़ती जा रही थी। रूढ़िवादिता की वजह से ब्राह्मण वर्ग की पकड़ मजबूत होती जा रही थी। राजनीतिक अराजकता एवं अस्थिरता ने न केवल इनकी पकड़ को मजबूत किया बल्कि कई और सामाजिक बुराइयों को जन्म दिया। पर्दा प्रथा, बालिका–वध, सती प्रथा एवं बहु विवाह आदि ऐसी ही सामाजिक बुराईयाँ थीं। पर्दा प्रथा उत्तरी और पूर्वी हिन्दुस्तान में अधिक प्रबल थी। दक्षिण प्रान्तों की महिलाएँ जनानखाने में इतनी बन्द नहीं थीं जितनी उत्तर के राज्यों में थीं। मुख्यतः आर्थिक कारणों से समाज की निम्न जातियों की स्त्रियों को पर्दे में रहना नहीं पड़ता था। गाँव की अपेक्षा शहर की महिलाओं को घरों में अधिक बन्द रहना पड़ता था। पुरूषों पर पूर्ण रूप से निर्भर रहने के कारण स्त्रियों का पूर्ण समर्पण का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। आर्थिक दृष्टि से वे पूरी तरह पुरूषों पर निर्भर करती थीं। उन्हें पैतृक् सम्पत्ति से वंचित रखा जाता था।

डॉ0 सिन्हा ने बालिका–वध पर लिखते हुए कहा है कि उच्च जातियों में कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं कि जिनमें महिलाओं ने भी राजनीति व प्रशासन में भूमिका निभाई तथा पुरूषों से स्वतन्त्र होकर कार्य किए। इनमें रानी भवानी, महारानी विष्णु कुमारी जो बर्दवान के जमींदार की माँ थी, जय दुर्गा चौधरायिन, बंगाल के नवाब अलीवर्दी खाँ की बेगम जिसने अपने शौहर की अनुपस्थिति में प्रशासन का संचालन किया, प्रमुख थीं। सियारूल मुताखरिन में अनेक महिलाओं के नाम लिखे गए हैं जिन्होंने राजनीतिज्ञ और प्रशासक के रूप में योगदान दिया था। इनमें शुजाउद्दीन की बेगम जेबुनिसा, उड़ीसा के गवर्नर रूस्तम जंग की बेगम दर्दनाह और घसीटी बेगम के नाम शामिल हैं। लेकिन ये उदाहरण असामान्य थे, क्योंकि आम जीवन में ऐसे शायद ही रहे होंगे।

अठारहवीं शताब्दी के पहले से ही हिन्दू समाज में कुछ घृणास्पद सामाजिक प्रथाएँ प्रवेश कर गई थीं जिन्हें धर्म ने अधिक मजबूत कर दिया था। इन प्रथाओं की शिकार मूल रूप से महिलाएँ हुई। समाज के कुछ भागों में बालिका–वध ऐसी प्रथा थी जिसमें लड़कियों को पैदा होते ही मार डाला जाता था। यह प्रथा सब जगह नहीं थी बल्कि कुछेक क्षत्रों में देखी गई, जस कांठियावाड़ और कच्छ की जाड़ेजा जाति में, इलाहाबाद के समीप कच्छवाह राजपूतों में, चौहान राजपूत व अहीरों में, पंजाब व जालन्धर के खत्री सम्प्रदाय में तथा राट कबीले के कुछ मुसलमानों द्वारा अधिक व्यापक रूप से अपनाई जाती थीं। इस प्रथा के कई सम्भव कारण रहे होंगे। अराजकता के युग में लड़कियों की इज्जत बचाए रखना कठिन रहा होगा। सम्भवतः इस अपमान व उत्तरदायित्व से बचने के लिए यह घृणास्पद प्रथा अपनाई गई होगी। बालिका–वध शायद इसलिए भी प्रचलित रहा होगा क्योंकि लड़कियों के विवाह

पर बहुत अधिक धनराशि खर्च करना अनिवार्य था। उस समय कुरीति के अनुसार लड़कियों का विवाह अपने से ऊँचे या बराबर के कुल में ही किया जाता था जो बहुत कठिनाई से होता था। इसलिए लड़कियों की विवाह सम्बन्धी कठिनाईयों से बचने के लिए इस भयंकर प्रथा का आरम्भ हुआ।

इसी प्रकार बाल–विवाह एवं बहु–विवाह भी इस सदी में जोर पकड़ती जा रही थी। बहु–विवाह का प्रचलन बंगाल के ब्राह्मणों में अत्यधिक प्रचलन में था। इस प्रथा ने विकराल रूप धारण कर लिया था।

इसके अतिरिक्त कृषि के क्षेत्र में सामाजिक रूढ़िवादिता का असर जयादा देखने को मिल रहा था। समाज के अधिकांश लोग खेती से सम्बद्ध थे। अठारहवीं सदी में कुटीर उद्योगों के बिखराव के कारण से खेती पर निर्भरता अत्यधिक बढ़ गई। दूसरी तरफ गाँव का अभिजात वर्ग था, जो भू–स्वामी था जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रीय एवं मुस्लिम समुदाय के धार्मिक लोग थे। दूसरी जातियों के लोगों की आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर थी। उच्च जाति के अभिजात वर्ग के लोग कृषि कार्य को बहुत सम्मानजनक व्यवसाय नहीं मानते थे। इसलिए अधिकांश किसान निम्न जातियों से आते थे जो उच्च जातियों के भूमिपतियों की खेती में काम करते थे। दक्षिण भारत में भूमि का बहुत अधिक भाग ब्राह्मणों के अधीन था परन्तु जाति प्रथा के कारण वे स्वयं भूमि नहीं जोतते थे और यह कार्य शूद्र या अन्य निम्न जातियों से कराया जाता था। महाराष्ट्र व दक्षिण में उपरी जाति खेतीहर में प्रमुख मानी जाती थी। यह प्रथा इस राजनीतिक अराजकता के दौर में बहुत अधिक बढ़ गई थी।

इस प्रकार अठारहवीं सदी में सामाजिक क्षेत्रों में पतन स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा था हालांकि आर्थिक दृष्टि से यहाँ की अर्थव्यवस्था विश्व बाजार से सम्बद्ध होने लगी थी।